उपेन्द्रनाथ अश्क के उपन्यासों में आधुनिकता बोध के विविध रूपों का अनुशीलन

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी की पीएच॰ डी॰ (हिन्दी)
उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्ता
कृष्ण कुमार साँगवान

शोध-निर्देशिका
डॉ॰ (श्रीमती) यशवन्त कौर
रीडर, हिन्दी-विभाग,
बुन्देलखण्ड महाविद्यालय, झाँसी

BUNDELKHAND UNIVERSITY
t1380
JHANSI

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

2003

डॉ॰ (श्रीमती) यशवन्त कौर
पीएच॰ डी॰
रीडर, हिन्दी-विभाग

बुन्देलखण्ड महाविद्यालय
झाँसी (उत्तरप्रदेश)

प्रमाण-पत्र

मुझे यह प्रमाणित करते हुए हर्ष हो रहा है कि श्री कृष्ण कुमार साँगवान ने 'उपेन्द्रनाथ अश्क के उपन्यासों में आधुनिकता बोध के विविध रूपों का अनुशीलन' विषय पर मेरे निर्देशन में शोध-कार्य सम्पन्न किया है। यह शोध-प्रबन्ध इनके अनवरत अध्ययन का परिणाम है। इसमें इन्होंने अपनी विचार-शक्ति और विश्लेषण-क्षमता का परिचय दिया है।

शोधार्थी कृष्ण कुमार साँगवान ने निर्धारित उपस्थितियाँ पूरी कर ली हैं तथा ये यथासमय प्रगति आख्या भी प्रेषित करते रहे हैं।

मैं इनके मंगल भविष्य की कामना करती हूँ।

दिनांक : 31/5/03.

कृष्ण कुमार साँगवान

यशवन्त कौर
डॉ॰(श्रीमती) यशवन्त कौर)

डा॰ यशवन्त कौर
रीडर, हिन्दी विभाग
बुन्देलखण्ड कालेज झांसी

भूमिका

आधुनिक काल में गद्य को लोकप्रिय बनाने में उपन्यास साहित्य का अमूल्य योगदान है। उपन्यास, साहित्य की एक ऐसी विधा के रूप में विख्यात है जो लगभग सौ वर्षों के अन्तराल में सर्वाधिक लोकप्रिय हो गयी। इसी के साथ गद्य विधा में नाटक का भी विशेष महत्त्व है, परन्तु वह उपन्यास की तुलना में गौण साबित हुआ है। नाटक मानव जीवन के विशेष परिवेश के व्यापक चित्र–फलक की अभिव्यक्ति करता है, जबकि उपन्यास मानव जीवन का सम्पूर्ण लेखा–जोखा प्रस्तुत करता है। अतः मानव जीवन का पूर्ण प्रतिबिम्ब उपन्यास ही प्रस्तुत करता है। समाज का जागरूक लेखक समाज में होने वाले सूक्ष्म परिवर्तनों को अंकित कर अभिव्यक्ति प्रदान करता है, जिससे साहित्य और समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध भी दिखाई पड़ता है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय समाज में नई प्रवृत्तियों का जन्म हुआ जिससे समाज की परिवर्तन की धारा परिलक्षित होती है। प्राचीन मूल्यों पर प्रश्नचिह्न लगे और नई दृष्टि ने नए मूल्य स्थापित करने की दिशा में कदम रखा। इस बात की आवश्यकता अनुभव की गई कि स्वतंत्र्योत्तर भारतीय समाज के परिवर्तनशील रूप को चित्रित करने वाले किसी उपन्यासकार को शोध हेतु चयनित किया जाए तथा उन तथ्यों का विश्लेषण किया जाए जिन्होंने समाज को आधुनिक दृष्टि प्रदान की है, जिन्होंने मनुष्य को प्राचीनता के कीचड़ से निकाल कर आधुनिकता सरीखे कमल को खिलाने की चेष्टा की है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मैंने आधुनिक युग के उपन्यासकार उपेन्द्रनाथ अश्क के उपन्यास साहित्य को आधार बनाया। मुझे इनके उपन्यास मेरे इस कार्य में मील के पत्थर साबित होते दिखाई दिये, क्योंकि अश्क प्रगतिशील विचारधारा के उपन्यासकार हैं। उनके सम्पूर्ण उपन्यास साहित्य में समसामयिक राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक समस्याओं के चित्रण के साथ–साथ आधुनिकता बोध परिलक्षित होता है। उन्होंने समकालीन समाज की गली–सड़ी मान्यताओं व गलत नीतियों का ही विरोध नहीं किया अपितु धार्मिक कट्टरता,

जाति–पाँति, छूआछूत की भावना का भी विरोध किया है। इसलिए उनकी विचारधारा में स्वतन्त्रता दिखाई देती है। अश्क जी सच्चे अर्थों में मानवतावाद के समर्थक रहे हैं। इनकी इसी मानवतावादी मानसिकता का प्रभाव उनके पात्रों में भी स्पष्ट रूप से झलकता दिखाई देता है। इनका यही मानवतावादी, यथार्थवादी एवं विद्रोही रूप मुझे आकर्षित कर गया। इसीलिए मैंने इस महान् उपन्यासकार पर शोध करने का निर्णय लिया और दूसरे मुझे अनेक शोध–सन्दर्भों से ज्ञात हुआ कि अश्क जी के उपन्यासों पर शोध–कार्य प्रायः कम ही हुआ है। इन सब परिस्थितियों ने मेरे मन को और पक्का बना दिया। अतः मैंने मन ही मन अश्क जी के उपन्यासों पर शोध–कार्य करने का निर्णय लिया जिसकी स्वीकृति के लिए मैं डॉ॰ (श्रीमती) यशवन्त कौर, रीडर, हिन्दी–विभाग, बुन्देलखण्ड कॉलेज, झाँसी के पास गया। विषय पर गहन चिन्तन करने के बाद उन्होंने **'उपेन्द्रनाथ अश्क के उपन्यासों में आधुनिकता बोध के विविध रूपों का अनुशीलन'** विषय पर शोध–कार्य करने की स्वीकृति प्रदान की।

मैंने इस विषय को अध्ययन सुविधा की दृष्टि से निम्न खण्डों में विभाजित किया है, जिसके पहले अध्याय में 'आधुनिकता बोध : अर्थ, परिभाषा और स्वरूप' शामिल किया है, इसके साथ आधुनिकता और अतीत, आधुनिकता और परम्परा, आधुनिकता और समसामयिकता पर चिन्तन किया है। आगे आधुनिक बोध के नियामक तत्त्वों में वैज्ञानिक चेतना, प्रश्नाकुलता, निर्मम बौद्धिकता, वर्तमान के प्रति सजगता आदि शामिल हैं तथा आधुनिक बोध के प्रेरणा–स्त्रोतों में नवीन परिवेश के अन्तर्गत वैज्ञानिक दृष्टिकोण, नए मूल्य तथा शहरीकरण को समाहित किया गया है। पाश्चात्य दर्शन के अन्तर्गत मार्क्सवाद, मनोविश्लेषणवाद, विकासवाद, अस्तित्ववाद का चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। इनके अतिरिक्त आधुनिकी के व्यापक फलक के अन्तर्गत राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तत्त्वों को विश्लेषित किया गया है।

दूसरे अध्याय में उपेन्द्रनाथ अश्क का युग शामिल किया गया है जिसमें राजनीतिक परिस्थितियाँ, सामाजिक परिस्थितियाँ, आर्थिक परिस्थितियाँ तथा सांस्कृतिक परिस्थितियाँ आदि को विवेचित किया गया है। इनके अतिरिक्त अश्क के जीवन परिचय में जन्म, शिक्षा, विवाह, सम्मान आदि शामिल हैं, वहीं व्यक्तित्व में खान–पान,

पहनना–ओढ़ना, स्वाभिमान, स्वभाव, हास्य–व्यंग्य, श्रम, मानव से लगाव आदि को लिया गया है। इन सब के साथ रचना साहित्य में रचना के प्रेरणा–स्रोत, रचना–कर्म में ग़ज़ल, नाटक, कविता, संस्मरण, निबन्ध, अनुवाद, आलोचना, समालाप, संपादन तथा उपन्यास साहित्य को शामिल किया गया है।

तीसरे अध्याय में समाज का अर्थ, परिभाषा, समाज और साहित्य का सम्बन्ध, सामाजिक सन्दर्भ के विविध पक्षों में रूढ़ियों की अस्वीकारोक्ति, सामाजिक पुनर्निर्माण, परिवार–परिदृश्य, नारी–विमर्श, पति–पत्नी सम्बन्ध, नारी–शिक्षा, विवाह और विवाह की समस्याएँ, व्यक्ति–विमर्श, अवसाद, घुटन आदि तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है।

चौथे अध्याय में संस्कृति का शब्दार्थ और स्वरूप, संस्कृति के विविध पक्ष – मानव महिमा, प्रेम–प्रतिष्ठा, कर्मनिष्ठता, दया के रूप, स्वच्छन्दता, पश्चाताप, शान्ति का महत्त्व, स्वार्थ–सन्दर्भ, मानव–मनोविज्ञान आदि का विवेचन प्रस्तुत किया है।

पाँचवें अध्याय में राजनीति और आर्थिक सन्दर्भ को शामिल किया गया है, जिसमें राजनीति का स्वरूप, राजनीति के विविध पक्ष – प्रजातन्त्र, शासक, शासन–पद्धति तथा राष्ट्र सम्मिलित हैं, वहीं आर्थिक सन्दर्भ में अर्थ का स्वरूप, आर्थिक जीवन में सम्बद्ध विविध पक्ष – वर्ग–भेद चित्रण, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार के विविध पक्ष समाहित किये गए हैं।

अन्त में समूचे प्रबन्ध के निष्कर्ष और मूल्यांकन को उपसंहार के रूप में प्रस्तुत कर परिशिष्ट रूप में चयनित उपन्यासों एवं अन्य सहायक ग्रंथों का उल्लेख किया गया है।

मेरे इस शोध–प्रबन्ध को पूरा करने के प्रयासों में जिन महानुभावों, आत्मीय परिजनों एवं इष्ट मित्रों का सहयोग रहा है, उनका स्मरण करना मेरा नैतिक दायित्व है। मेरा यह परम सौभाग्य है कि परम आदरणीय श्रद्धया डॉ॰ (श्रीमती) यशवन्त कौर के सुयोग्य एवं कुशल निर्देशन में मुझे शोध–प्रबन्ध सम्पन्न करने का सुअवसर मिला, जिन्होंने मेरे इस शोध–कार्य में उचित दिशा–निर्देश प्रदान किए

तथा जिस सूक्ष्मता से उन्होंने इस शोध के प्रत्येक पक्ष का निरीक्षण किया, इसके लिए मैं उनके प्रति आजीवन ऋणी रहूँगा और जिससे मैं कभी उऋण नहीं हो सकता। उनके उदार दृष्टिकोण एवं प्रतिभाशाली व्यक्तित्व का भी यह शुभ परिणाम है कि मैं शोध–कार्य में संलग्न रहने का धैर्य पा सका अन्यथा शोध–कार्य की डगर मेरे लिए सुगम नहीं थी।

इस कार्य की सम्पन्नता हेतु मुझे निरन्तर प्रेरणा देने वालों में डॉ॰ मनुजी श्रीवास्तव, अध्यक्ष, हिन्दी–विभाग, बुन्देलखण्ड कॉलेज, झाँसी एवं डॉ॰ रामसजन पाण्डेय, रीडर, हिन्दी–विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक के अमूल्य परमर्शों के लिए मैं सदैव आभारी रहूँगा। डॉ॰ ऋषिपाल एवं डॉ॰ कुलदीप काकराण का आभार प्रकट करना मैं अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ, जिनका आत्मीय स्नेह मुझे हमेशा मिलता रहा है।

इनके अतिरिक्त मैं अपनी माता श्रीमती शान्ति देवी एवम् पिता स्वर्गीय श्री देशराज, मामा जी चौधरी जंगवीर सिंह, भूतपूर्व सांसद तथा बड़े भाई स्वर्गीय अधिवक्ता दिलबाग सिंह के शुभाशिष् से मैं इस कार्य को सम्पन्न करने में समर्थ हो सका हूँ। अतः मैं ईश्वर से प्रार्थना करूँगा कि मेरा ध्यान सदैव उनके चरणों में अर्पित रहे और उनके आशीर्वाद की धारा सदैव मेरे सिर पर बहती रहे।

इस पुनीत अवसर पर अपनी जीवन–संगिनी प्रेमकौर के विषय में दो शब्द न कहना बेईमानी होगी, क्योंकि वह मेरी प्रतिच्छाया की भाँति मेरे सुख–दुःख में सदैव साथ रहीं हैं और सभी पारिवारिक समस्याओं से निपटने का दायित्व वे सकुशल निभाती रहीं। इसके अतिरिक्त भटकाव व निराशा के क्षणों में मुझे सहयोग प्रदान कर, नवीन उत्साह का संचार करती रही हैं। अतः उनका प्यार एवं सहयोग अविस्मरणीय है।

विनीत

कृष्ण कुमार साँगवान

दिनांक : 31/5/03. (कृष्ण कुमार साँगवान)

विषयानुक्रमणिका

oooooooooooooooo

पहला अध्याय
आधुनिकता बोध का स्वरूप

(क) आधुनिकता : अर्थ व परिभाषा

(ख) आधुनिकता और अतीत

(ग) आधुनिकता और परम्परा

(घ) आधुनिकता और समसामयिकता

(ङ) आधुनिकता के नियामक तत्त्व

(च) आधुनिकता बोध के प्रेरणा-स्रोत

(छ) आधुनिक बोध का फलक

पहला अध्याय
आधुनिकता बोध का स्वरूप

(क) आधुनिकता : अर्थ व परिभाषा

आधुनिक बोध या आधुनिकता को परिभाषित करने के लिए अनेक विद्वानों ने चेष्टा की है। आधुनिकता की प्रक्रिया जटिल है, क्योंकि इसे कहीं पर समसामयिक बोध माना गया तो कहीं समसामयिकता का अतिक्रमण करने वाली मूल्य दृष्टि, कहीं इसे एक काल खण्ड में व्याप्त बोध की स्वीकृति माना गया है। इन उपर्युक्त बिन्दुओं ने इस शब्द की परिभाषा तैयार करने में सहायता प्रदान करने की अपेक्षा इसे उलझा दिया है। इसलिए आधुनिकता का कोई एक कोण स्थापित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि आधुनिकता का प्रश्न इतना व्यापक स्वरूप लिए हुए दिखाई देता है कि जिसको परिभाषित करने में कठिनाई सी महसूस होती है। हम यहाँ पर यह स्पष्ट कर रहे हैं कि हमारी दृष्टि यहाँ पर आधुनिकता की परिभाषा के सन्दर्भ में नकारात्मक नहीं है। हमारा आशय तो इसकी जटिलता की तरफ इंगित करना मात्र है। अतः आधुनिकता को समझने के लिए इसकी व्युत्पत्ति पर विचार कर लेना समीचीन होगा।

आधुनिक शब्द 'अधुना' में 'इक' प्रत्यय लगाकर निर्मित होता है। संस्कृत भाषा में 'अधुना भवः इत्यर्थे अधुना + ठञ् से इसकी व्युत्पत्ति मानी गई है। यह अंग्रेजी के मॉडर्न शब्द का पर्याय है, जो मूल लैटिन शब्द Modo से बना है। शब्दकोष में मॉडर्न का अर्थ है – Being or existing at this time, Recent, Present – जबकि बोध 'बुध्' धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगाकर बना है, जिसका अर्थ संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ में "जानकारी, ज्ञान, विचार, बुद्धि, समझ, जागृति, सांत्वना, खिलना, निर्देश, अनुमति, उपाधि, संज्ञा बतलाया गया है।"[1] बोध को परिभाषित करते हुए डॉ॰ जयनाथ नलिन

---

1. स्व॰ चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा, संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ॰ 834

लिखते हैं– "किसी पदार्थ के स्वरूप को मन में बैठाना और इन्द्रियों द्वारा अनुभव करना बोध कहलाता है।"[2]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आधुनिकता के स्वरूप को मन में बैठाकर, इन्द्रियों द्वारा उसका प्रत्यक्ष अनुभव करना ही आधुनिक बोध कहलाता है। डॉ॰ विनय के शब्दों में "आधुनिकता के जो घटक मनुष्य की चेतना का रूपान्तरण कर रहे हैं, उनका सम्यक् ज्ञान आधुनिक बोध है।"[3]

1. आधुनिकता बोध या आधुनिकता की परिभाषाएँ

आधुनिकता बोध अपनी संरचना में कई विकल्प सम्मिलित किए रहती है। साथ ही यह एक प्रक्रिया होने के कारण एक से अधिक दौरों से गुजरी है। इसलिए यह कहना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है कि सही आधुनिकता क्या है। अतः "आधुनिकता को एक दृष्टि के रूप में अर्जित ही किया जा सकता है। उसे नपे–तुले शब्दों में परिभाषित नहीं किया जा सकता। यह एक ऐसा बोध है जो कहीं टिकने या रमने की छूट नहीं देता।"[4] इसलिए इस सन्दर्भ में आधुनिकता की अवधारणा को स्पष्ट कर लेना जान पड़ता है, जो एक अत्यन्त चर्चित शब्द है। जिस पर विश्व के अनेक विद्वानों ने बहुविध व विस्तृत विचार विमर्श किया है तो भी आधुनिकता की कोई सर्वमान्य अवधारणा स्वीकृत नहीं हो पाई है। लगता है 'ज्यों–ज्यों दवा की, त्यों–त्यों मर्ज बढ़ता ही गया।' अतः सर्वप्रथम तो विभिन्न विद्वानों के मत जानकर, इस उलझे हुए आधुनिकता विषय पर मत निश्चित कर लें।

- **डॉ॰ गिरिजाकुमार माथुर** – "आधुनिकता परिवर्तित भावबोध की वह स्थिति है, जिसका प्रादुर्भाव यान्त्रिक तथा वैज्ञानिक विकास–क्रम के वर्तमान बिन्दु पर

---

2. डॉ॰ जयनाथ नलिन, साहित्य का आधार दर्शन, पृ॰ 58
3. डॉ॰ विनय, लेकिन के बावजूद, पृ॰ 99
4. डॉ॰ जयसिंह नीरद, दिनकर के काव्य में परम्परा और आधुनिकता, पृ॰ 15

आकर हुआ है।"[5]

- **डा॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी** – "आधुनिकता इतिहास की सजग और सचेतन प्रतीति है और उस इतिहास चक्र को द्रुततर चलाने की चेष्टा है।"[6]
- **डॉ॰ विनय** – "आधुनिकता एक ऐसी अवधारणा और प्रक्रिया है जिसके तहत सर्जक चिन्तक पुराने का विश्लेषण करते हुए उसे अपने वर्तमान के प्रसंग में जाँचता है और भविष्य का रूपायन भी करता है। इस पूरी प्रक्रिया में कालबद्धता समाप्त हो जाती है।"[7]
- **दिनकर** – "आधुनिकता एक प्रक्रिया का नाम है। यह प्रक्रिया अन्धविश्वास से बाहर निकालने की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया नैतिकता में उदारता बरतने की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया बुद्धिवादी बनाने की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया धर्म के सही रूप पर पहुँचने की प्रक्रिया है।"[8]
- **डॉ॰ सूर्यप्रकाश वेदालंकार** – "ऐतिहासिक बोध या विकासशील सभ्यता के तत्त्वों के अनुरूप अपने आपको नए रूप में ढालते रहना ही आधुनिकता है।"[9]
- **डॉ॰ हरिचरण शर्मा** – आधुनिकता का वास्तविक अर्थ विगत सांस्कृतिक मूल्यों को अपने अन्दर समेटकर मानव की वर्तमान स्थिति और उसके भविष्य विषयक दायित्व की सक्रियता और चेतनता को स्वीकार करना है।"[10]
- **लक्ष्मीकान्त वर्मा** – "आधुनिकता इसलिए कोई रूढ़ि नहीं है, वह एक ऐतिहासिक

---

5. डॉ॰ गिरिजा कुमार माथुर, नयी कविता : सीमा और सम्भावनाएँ, पृ॰ 106
6. डॉ॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी, नयी कविता, अंक-7, पृ॰ 43
7. डॉ॰ विनय, लेकिन के बावजूद, पृ॰ 98
8. दिनकर, आधुनिक बोध, पृ॰ 36
9. डॉ॰ सूर्यप्रकाश वेदालंकार, सप्तकत्रय : आधुनिकता और परम्परा, पृ॰ 34
10. डॉ॰ हरिचरण वर्मा, नयी कविता का मूल्यांकन : परम्परा और प्रगति की भूमिका, पृ॰ 93

परिधि है जो एक युग के मानसिक धरातल को कुछ नयी उपलब्धियों के अनुसार काटती–छाँटती है अथवा उसमें नए सन्दर्भ जोड़ती है और पुरानों को या ऐसों को जो सतत गतिशील नहीं रह पाते, अपने से पृथक् भी करती है।"[11]

o **डॉ॰ विपिन कुमार अग्रवाल** – आधुनिकता विभिन्न प्रभावों से उत्पन्न एक चेतना है, जिसको निरन्तरता के अन्तर्गत रखा जा सकता है। समय की गति में कहीं कोई विराम नहीं है। आज हम जिस क्षण का अनुभव कर रहे हैं, उसका बीज अतीत के क्षण में छुपा रहता है और प्रत्येक युग का समाज अपने समय की आधुनिक स्थिति और प्रवृत्ति से झूमता रहा है। अतः प्रत्येक युग अपने युग में आधुनिक रहता है क्योंकि हर युग में नयी–नयी समस्याओं का जन्म होता है।"[12]

o **डॉ॰ जगदीश गुप्त** – "आधुनिकता का अर्थ मेरे निकट पुरातन को गाली देना नहीं है, वरन् सारग्राहिणी तत्त्व दृष्टि के साथ विगत सांस्कृतिक समृद्धि को आत्मसात् करते हुए मानव की वर्तमान नियति एवं उसके भावी विकास के प्रति अपने दायित्व का विशिष्ट एवं सक्रिय अनुभव करना है।"[13]

उपर्युक्त मतों के आलोक में यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि एक–आध विद्वान को छोड़कर अधिकांश ने आधुनिकता को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ही स्वीकार किया है। अतः हम मान सकते हैं कि आधुनिकता समय सापेक्ष ही नहीं, वरन् परम्परा या विचार सापेक्ष भी है।

आधुनिकता का जो अर्थ अतीत से अलग या पुरातन के पश्चात् की नवीनता या वर्तमान से लिया जाता है। वह तो एक सामान्य, सुविधा निष्पन्न व लचीला अर्थ है, जो हर युग में तात्कालिक खण्ड से आबद्ध रहता है। इस नाते

---

11. लक्ष्मीकान्त वर्मा, नयी कविता के प्रतिमान, पृ॰ 258
12. डॉ॰ विपिन कुमार अग्रवाल, नयी कविता, अंक-7, पृ॰
13. डॉ॰ जगदीश गुप्त, नयी कविता, अंक-7, पृ॰ 64

गुप्तकाल आज भले ही प्राचीन हो, अपने युग में वह निश्चय ही आधुनिक था। एक समय सापेक्ष धारणा में वर्तमान पर अनवरत प्राचीनता का मुल्लमा चढ़ता जाता है और समय के अनुसार आधुनिकता बदलती जाती है। वस्तुतः यह आधुनिकता का अत्यन्त सतही आधार है, जो अपने में आधुनिकता के सभी तत्त्वों को समेटने में असमर्थ है।

अतः हमार अभिप्रेत आधुनिकता के विचार सापेक्ष अर्थ से ही है, जो मध्ययुगीन विचार पद्धति से भिन्न नयी जीवन पद्धति का परिचायक है। इसमें इतिहास क्रम नहीं है, परन्तु इतिहास बोध की प्रधानता है, जिसमें आधुनिक व्यक्ति अपने सम्पूर्ण अतीत को समेटकर वर्तमान की चिन्तनता के साथ ही अपने भविष्य को रूपायित करना चाहता है। इस तरह 'आधुनिकता अतीत से सम्बद्ध, वर्तमान से प्रतिबद्ध और भविष्य के प्रति उन्मुख होती है।"[14] इसमें विज्ञान के बढ़ते प्रभाव के फलस्वरूप भावुकता, कल्पना व आदर्श के स्थान पर विवेक, व्यावहारिकता व यथार्थ की ओर उन्मुखता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना प्रासंगिक लगता है कि इस विचार सापेक्ष आधुनिकता पर आज के मनुष्य का ही एकाधिकार नहीं है। इसीलिए आज से पूर्व भी आधुनिकता की कौंध हुई है व साथ ही आज भी बहुत से प्राणी अनाधुनिक हो सकते है। उदाहरणतया मध्ययुग के रोमी दार्शनिकों की अपेक्षा अरस्तू अधिक आधुनिक है, शंकराचार्य की अपेक्षा बुद्ध का जीवन दर्शन अधिक आधुनिक है; हिन्दी में सूरदास की अपेक्षा कबीर अधिक आधुनिक है। . . . आधुनिक युग के रचनाकार की दृष्टि आधुनिक नहीं थी, आज के उपन्यासकार गुरुदत्त की विचारधारा और कला आधुनिक नहीं है।"[15]

इस प्रकार निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि आधुनिकता तो एक विवेकशील

---

14. डॉ॰ हरिश्चन्द्र वर्मा, नयी कविता के नाट्य काव्य, पृ॰ 10

15. डॉ॰ नगेन्द्र, आस्था के चरण, पृ॰ 218

दृष्टिकोण है, जिसमें अबौद्धिक धारणाओं, मिथ्या मान्यताओं व कुण्ठित चिन्तन का कोई स्थान नहीं। व्यावहारिकता, यथार्थता, मानव प्रगति में आस्था, रूढ़ियों का परित्याग, प्रयोगधर्मिता व दृष्टिकोण की वैज्ञानिकता ही इसके गुण हैं। बौद्धिकता, मानव की मानव रूप में प्रतिष्ठा, नगर सभ्यता का प्राधान्य, प्रजातान्त्रिक मूल्य, वर्तमान के प्रति तीव्रतम सजगता, परम्परा–संशोधन जिसके लक्षण हैं। जो भूतकाल लेकर भविष्य में हो सकने वाली घटनाओं को बुद्धि की तुला पर तोलकर ही सत्य को स्वीकार कर पाता है तथा अतिरंजनाओं को दो टूक नकार देता है।

आधुनिकता के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करने के लिए निम्न बिन्दुओं पर विचार कर लेना उपयुक्त प्रतीत होता है–

(ख) आधुनिकता और अतीत

जिस प्रकार रात्रिकाल के अन्धकार को चीरकर दिन का उजाला फूट पड़ता है, उसी प्रकार अतीत के गर्भ से आधुनिकता जन्म लेती है। इसलिए "आधुनिकता की शर्तों में सबसे पहली शर्त इतिहास बोध की है।"[16] स्पष्टतया ऐसे में आधुनिकता की अतीत से निरपेक्ष व्याख्या करना छलावा मात्र है। इसके बावजूद भी कुछ विद्वान फैशन की झोंक में आधुनिकता को पूर्णतया अतीत से निरपेक्ष मानकर कहते हैं कि "यदि कोई अध्ययन प्रणाली उसके असली और विशिष्ट गुण की ओर आँखें मूँदकर उन्हीं गुणों की ओर इशारा कर पाती है, जो वह पुरानी परिपाटियों से शेयर करती है और वह आधुनिकता के बारे में कुछ भी नहीं बताती या बहुत कम बताती है और यदि इसी को सब कुछ बताने के बराबर कह देती है तो हमें गुमराह भी करती है।"[17] वे आगे कहते हैं कि इस आधुनिकता का एक पहलू वह है जो वह बीते हुए से शेयर करती है और दूसरा वह है जो उसकी अपनी देन है, उसका अपना विशेष गुण है।

---

16. डॉ० हजारी प्रसाद, आलोचना, अंक जुलाई, 1967, पृ० 32

17. डॉ० विपिन अग्रवाल, नयी कविता, अंक–7, पृ० 31

यदि मुझे चुनने का मौका पड़े, तो मैं दूसरे को ही चुनूँगा।"[18]

इस प्रकार की धारणा अतिवादी ही कही जा सकती है। यही कारण है कि अधिकांश विद्वान् अतीत की समकक्षता व सापेक्षता में ही आधुनिकता की व्याख्या को स्वाभाविक व उचित समझते हैं। उनका तो मत है कि 'आधुनिकता की पुरातन निरपेक्ष व्याख्या करना मानो उसके मूल आधार को छोड़ देना है।"[19]

यह ठीक भी है क्योंकि अतीत में भी समय–समय पर आधुनिकता के लक्षण उभरते रहे हैं। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता के विरुद्ध बुद्ध का विद्रोह अथवा सन्त कवियों का जनजागरण इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। अतः कहा जा सकता है कि आधुनिकता और अतीत का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। आधुनिकता सदा ही अतीत को स्वीकार कर चलती है, उसका निषेध नहीं करती।

(ग) आधुनिकता और परम्परा

परम्परा और आधुनिकता दोनों एक तत्त्व हैं, इनको विलग नहीं किया जा सकता। परम्परा के द्वारा पूर्वकाल से चली आ रही प्रथाओं, रीति–रिवाजों व विचारधाराओं का बोध होता है। अतः यह किसी भी समाज के लिए युग–युग से संचित ऐसी निधि होती है; जिसके माध्यम से उस समाज के व्यक्तित्व को जाना पहचाना जा सकता है। वस्तुतः परम्परा किसी समाज का ऐसा प्रतिबिम्ब है जो उसके भूतकाल का आकलन करके भविष्य की सम्भावनाओं को व्यक्त करता है। जब तक कोई परम्परा स्वस्थ गतिशील व नित्य नूतन रहती है – "यह आधुनिकता ही हमराही हो जाती है; किन्तु जैसे ही उसके कुछ तत्त्व स्थिर एवं जड़ बनकर रूढ़ि बन जाते हैं। यह आधुनिकता से कट जाती है, पीछे छूट जाती है। अतः आधुनिकता को

---

18. डॉ॰ विपिन अग्रवाल, नयी कविता, अंक-7, पृ॰ 32
19. डॉ॰ जगदीश गुप्त, नयी कविता, अंक-7, पृ॰ 63

समेटने की क्षमता ही परम्परा का पुरुषार्थ है।"[20] निहार रंजन रे ने 'कुल' और 'शील' को परम्परा और आधुनिकता के आधार के रूप में स्वीकार किया है। कर्ण का जन्म कुलीन वंश में नहीं हुआ था और इसी के आधार पर एक बार महाभारत में विचित्र स्थिति पैदा हो गई। इस पर कर्ण तेज आवाज में बोला—

सूतो वा सूत पुत्रों वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तम् कुले जन्म, ममायत्तम् तु पौरुषम्।।

निहार रंजन रे का कहना है कि 'कुल' परम्परा है और 'शील' पौरुष। अपने पौरुष और शील के आधार पर व्यक्ति परम्परा से प्राप्त गुणों का विकास विभिन्न कालों में विभिन्न तरीकों से करता रहता है।"[21]

यदि भारतीय परम्परा के परिप्रेक्ष्य में विचार किया जाए तो इसके अधिकांश तत्त्व वैज्ञानिक कसौटी पर खरे उतरने वाले तथा तर्कसम्मत ही प्रतीत होते हैं। जिस नाते इसका आधुनिकता से टकराव प्रायः न के बराबर है। भारतीय जन स्वभाव से कट्टर न होकर उदार रहे हैं। फलस्वरूप समय—समय पर चलने वाले सामाजिक आन्दोलनों ने रूढ़ियों के मैलेपन को दूर कर परम्परा को सदैव निर्मल बनाए रखा है। उपनिषद् की गार्गी और वेदों से चले आ रहे चार्वाक अपनी परम्परा से नित्य टकराकर, उसे चुनौती देकर अनवरत तराशते रहे हैं। उसे नित्य नूतन रूप देते रहे हैं। यह गतिशीलता ही परम्परा का वास्तविक गुण है, जो रूढ़ि बन्धनों का शिकार नहीं होती। डॉ॰ नगेन्द्र के शब्दों में, "आधुनिक दृष्टि परम्परा को प्रवाह के रूप में स्वीकार करती है, जो निरन्तर अग्रसर रहता है और जिसमें परिवर्तन अनिवार्य है।"[22]

---

20. विद्यानिवास मिश्र, परम्परा का पुरुषार्थ, नभाटा 11/4/1993
21. Nihar Ranjan Ray, Modernity and contemporary Indian Literature, P. 7-8
22. गोरा कुलकर्णी, पौराणिक काव्य : आधुनिक सन्दर्भ, पृ॰ 22

इस प्रकार कह सकते हैं कि जीवन्त परम्परा आधुनिकता के मार्ग का रोड़ा नहीं बनती, अपितु उसे दिशा बोध देती है व साथ ही आधुनिकता की मौलिक उपलब्धियों को कालगत सत्य की विश्वसनीयता प्रदान करती है। इस भाँति "परम्परा की सही चेतना केवल व्यक्ति से हमें बान्धती ही नहीं, अपितु उसे अतिक्रमित करने की शक्ति भी देती है।"[23] ऐसी रूढ़ि विरोधी समर्थ व जीवन्त परम्परा आधुनिकता का पर्याय हो जाया करती है।

(घ) आधुनिकता और समसामयिकता

ये दोनों तत्त्व एक–दूसरे पर आधारित एवं प्रेरित हैं, तो भी इनमें आधुनिकता का फलक, जहाँ सम्पूर्ण युग विशेष का अत्यधिक विस्तार लिए हुए सनातनता का गुण रखता है; वहीं समसामयिकता वर्तमान की स्थिति विशेष का प्रतिबिम्ब होने से क्षण–भंगुर, संकीर्ण व अत्यन्त संकुचित होती है। हम समसामयिक होकर भी आधुनिक हो सकते हैं, किन्तु आधुनिक होकर समसामयिक बने रहें, यह कोई आवश्यक नहीं है क्योंकि आधुनिकता का विस्तृत परिवेश समसामयिकता के आयाम की अपेक्षा नहीं रखता। समसामयिकता में तो हम वर्तमान में जीते हुए उन स्थितियों से गहरा लगाव रखने के कारण अपनत्व की अनुभूति करने लगते हैं जिसका परिणाम यह निकलता है कि हम आत्म–वेदना व निजी अनुभूति को कहीं अधिक गहराई व सूक्ष्मता से अभिव्यक्त कर पाते हैं। अतः आधुनिक भावबोध के बाहुल्य का साक्षात्कार और उसका अनुभव बिना समसामयिकता के वास्तविक क्रियाशीलता के सम्भव नहीं है।"[24]

इस प्रकार आधुनिकता जहाँ हमें पूरे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से जोड़ती है, वहीं समसामयिकता तात्कालिक क़ालखण्ड की क्षण–क्षण की गतिशीलता का

---

23. डॉ० सूर्यप्रकाश वेदालंकार, सप्तकत्रय : आधुनिकता एवं परम्परा, पृ० 56
24. लक्ष्मीकान्त वर्मा, नयी कविता के प्रतिमान, पृ० 266

सम्पूर्ण चित्र उपस्थित करती है। अतः यथार्थ की गतिशीलता व वर्तमान की समस्त अनुभूतियों पर इसकी बराबर पकड़ रहती है। यह समसामयिकता ही है, जो आधुनिकता को शक्ति व ऊर्जा प्रदान कर नई राह दिखलाती है व नित्य नूतन भाव बोधों से युक्त कर चैतन्य बनाए रखती है।

इसके बावजूद आधुनिकता, काल का अतिक्रमण करती है और उसके लिए यह भी आवश्यक नहीं कि उसके विषय आधुनिक ही हों। उसके पीछे के काम करने वाली मनोवृत्ति, मनोदशा और मानसिकता आधुनिक होनी चाहिए। इसके लिए हम वर्तमान में रहते हुए भी पुराने विषयों की आधुनिक दृष्टिकोण से जाँच परख कर सकते हैं, जबकि समसामयिकता के लिए तात्कालिकता की अनिवार्यता रहती है। वह अपनी लक्ष्मण रेखा को लाँघ नहीं पाती।

(ङ) आधुनिक बोध : नियामक तत्त्व

आधुनिकता के स्वरूप को विश्लेषित करने के उपरान्त हम यह जान चुके हैं कि आधुनिकता एक विवेकसम्मत दृष्टिकोण है, जीवन्त व गतिशील प्रक्रिया है, जिसे नित्य नूतन होने के कारण किसी निश्चित परिधि में नहीं बाँधा जा सकता है। अब अगले क्रम में, आधुनिकता के उन घटक तत्त्वों को विश्लेषित किए जाने की आवश्यकता है, जिनके माध्यम से किसी रचना में आधुनिकताबोध तलाशा जा सकता है। वस्तुतः आधुनिकता के ये घटक तत्त्व ही ऐसे औजार हैं, जिनके आधार पर आधुनिकता का मूल्यांकन करते हुए हम अपने उद्देश्य की सिद्धि कर पाएंगे।

(1) वैज्ञानिक चेतना – हमें वैज्ञानिक दृष्टि के दर्शन पन्द्रहवीं शताब्दी के आस–पास प्राप्त होते हैं। मध्यकाल तक मनुष्य का दृष्टिकोण उपस्थापक था, जिससे वह प्रत्येक घटने वाली घटना को भाग्य का आलम्ब प्रदान करता था, परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि ने उपर्युक्त परम्परागत विश्वासों पर चोट की तथा नई चेतना प्रदान की। विज्ञान के प्रसार ने हमारे बाह्य जगत् को ही प्रभावित नहीं किया है, अपितु उसने हमारी मानसिक चेतना को भी प्रभावित किया है। विज्ञान हमारे जीवन का अभिन्न अंग बना

है, तो वैज्ञानिक तर्क या चेतना हमारे चिन्तन का। इसी का परिणाम है कि अब हम हर घटने वाली घटना को नियति मानकर स्वीकार करने की अपेक्षा उसकी तह तक जाकर उसमें कार्य–कारण का सम्बन्ध ढूँढते हैं। प्रत्येक रहस्य को सुलझाने की हमारी वैज्ञानिक चेतना या उत्कट अभिलाषा ने अनेक अलौकिक बातों पर पड़े पर्दे को उठा दिया है। यही कारण है कि आज का मनुष्य गणेश–प्रतिमा के दुग्ध–पान की घटना को भावुक भक्त होकर स्वीकार नहीं करता, बल्कि उसकी खिल्ली उड़ाता जान पड़ता है। दृष्टिकोण के इस बदलाव से जहाँ आधुनिक मनुष्य में अनास्था का संचार हुआ है, वहीं वह पहले से अधिक सचेतन, सजग व जिम्मेदार हुआ है। इस वैज्ञानिक दृष्टि में बौद्धिक जिज्ञासा, परम्परागत विश्वासों–मान्यताओं में सन्देह करने की स्वतन्त्रता, निरीक्षण–परीक्षण की आत्म–साक्ष्य विधि से जाँच, चिन्तन की स्वतन्त्रता, नवीन ज्ञान का स्वागत, उपलब्ध ज्ञान को पुनः शोधित करने की स्वतन्त्रता सम्मिलित है। इसी दृष्टिकोण से आधुनिकता का उद्भव हुआ है।

(2) **प्रश्नाकुलता** – आधुनिक बोध से युक्त मनुष्य किसी भी सत्य सिद्धान्त को अन्तिम नहीं मानता है। वह अनवरत प्रश्नाकुल बना हुआ सन्देह की धार पर चलकर गतिमान रहा करता है। यही उसकी जीवन्तता की पहचान है। जिस दिन भी मनुष्य अपनी जिज्ञासावृत्ति को छोड़ देगा, उसी दिन से उसके जीवन में जड़ता आ जाएगी और उसका जीवन नीरस एवं शून्य हो जाएगा।

आदिकाल से जिज्ञासा से मानव का अटूट सम्बन्ध रहा है। इसी जिज्ञासा का अभिव्यक्तिकरण प्रश्नों के माध्यम से होता है। प्राचीनकाल से मानव के सभी प्रश्न प्रायः अध्यात्म या दर्शन से सम्बन्ध रखते थे, किन्तु आधुनिक युग में विज्ञान के सम्यक् विकास के फलस्वरूप मनुष्य की जिज्ञासाएँ एवं प्रश्न जटिल एवं सूक्ष्मतर हो चले हैं जिनके समाधान के हेतु प्रायः विवेक का आश्रय लिया जाता है। डॉ॰ धर्मवीर भारती के अनुसार – "विवेक अन्तर्रात्मा के सहायक तत्त्वों सम्भवतः सबसे प्रमुख और

सबसे विश्वसनीय है।"[25] इससे स्पष्ट होता है कि "आधुनिकता एक प्रश्नाकुल मानकिसता है, जो हर बंधी—बंधाई व्यवस्था, मर्यादा या धारणा को तोड़ती है। इसे चरम या निरपेक्ष नहीं माना जा सकता है। यह मुख्य रूप से ऐसी मानसिकता है जो किसी का मूल्य, धारणा या सिद्धान्त को स्वीकारने से पूर्व जाँचने—पड़तालने पर बल देती है।"[26]

यही कारण है कि आधुनिक मनुष्य राम के प्रत्येक कार्य को श्रद्धा—भावना से स्वीकारने की अपेक्षा, उसके प्रति सन्देह भावना रखता हुआ, प्रश्नाकुल बनकर अपनी कसौटी पर परखने की चेष्टा करता है।

निर्मम बौद्धिकता — वर्तमान युग बुद्धिवाद पर आश्रित है। अब भावना के स्थान पर बुद्धि को प्रमुखता प्रदान की जाती है। इसलिए किसी भी सत्य की अनुभूति की भावना का भावन करने की अपेक्षा उनकी बुद्धि की तुला पर तुलना की जाती है। बुद्धि में भावना की—सी सरसता न होने से, यह तटस्थ होकर निर्ममतापूर्वक अपना पक्ष रखती है। अब तक काव्य सृजन के लिए बुद्धिवाद की प्रधानता अवांछनीय समझी जाती थी, परन्तु आधुनिक बोध से युक्त मनुष्य इसी सत्य का साक्षात्कार किया करता है और ऐसा भाव जो उसकी बुद्धि की कसौटी पर खरा न उतर सके, उसे वह किसी भी सूरत में स्वीकार नहीं करता। इस विषय में डॉ॰ पुष्पपाल सिंह का कथन है— "आज व्यक्ति प्रत्येक सत्य को, चाहे वह धार्मिक मान्यता के रूप में प्रतिष्ठित रहा हो या चाहे परम्परा में कितना ही पूज्य क्यों न रहा हो, अपनी बुद्धि की तुला पर खरा पाकर ही ग्रहण करता है।"[27] ऐसा करने पर पूर्वकाल से चली आ रही परम्पराओं को ठेस लगती है, आस्था और विश्वास खण्डित होते हैं तो उनके प्रति मोह पालने के

---

25. डॉ॰ धर्मवीर भारती, मानव मूल्य और साहित्य, पृ॰ 21
26. डॉ॰ नरेन्द्र मोहन, आधुनिकता और समकालीन रचना सन्दर्भ, पृ॰ 19
27. डॉ॰ पुष्पपाल सिंह, काव्य मिथक, पृ॰ 48

स्थान पर यह उनसे विद्रोह ही करती है। इस प्रकार निर्मम बौद्धिकता से पुरानी मान्यताओं के प्रति यान्त्रिक शुष्कता ही झलकती है।

यह बुद्धिवाद एकाएक आकस्मिक घटना नहीं है वरन् व्यक्ति मानस की अपने वातारण के प्रति अन्तर्विरोधों की प्रतिक्रिया की उपज है। यह बौद्धिकता अपने स्वरूप में द्वन्द्वात्मक है, क्योंकि यह अपने समक्ष उपस्थित जीवन एवं जगत् से संवेदनशील दृष्टिकोण रखती है।

आधुनिकता जिस बौद्धिकता को अपना घटक मानती है, वह है – यथार्थ का निर्मम भाव से साक्षात्कार करने वाली आधुनिकता। आज की बौद्धिकता जीवन की हताशा, निराशा एवं टूटे हुए व्यक्तियों की बौद्धिकता नहीं है, वरन् वह तटस्थ भाव से अपने परिवेश से जूझती हुई जीवन व साहित्य को सर्जनात्मक बनाती है।

वर्तमान के प्रति सजगता – आधुनिकता न अतीत की भूल–भुलैया में दिग्भ्रमित होती है और न ही भविष्य की सुखद कल्पनाओं में उड़ान भरती है। वह तो सीधे–सीधे वर्तमान की चुनौतियों का सामना करती है। परम्परा का आधार ग्रहण करके भी वह वर्तमान के प्रति प्रतिबद्ध होती है। अतः वह भक्तिकाल की भाँति अपने युग जीवन से पलायन कर भगवान की शरण नहीं खोजती, अपितु युगीन समस्याओं से संघर्ष करती हुई दो–चार हुआ करती है। इस संघर्ष की अनुभूति व अभिव्यक्ति के लिए हमें अपने वर्तमान के प्रति सजगता आवश्यक हुआ करती है, जो निश्चय ही हमें आधुनिक बनाती है।

आधुनिकता वर्तमान युग जीवन से प्राण–रस ग्रहण करती है। परिवेश में व्याप्त घुटन, त्रास, पीड़ा, आधुनिकता के स्वरूप को निर्मित करते हैं। आधुनिक व्यक्ति प्रतिदिन परिवेश के दबावों को झेलता हुआ संघर्षशील रहता है, परन्तु फिर भी अपने परिवेश एवं युग से जुड़ा रहता है। "परिवेश के दबाव में 'टूटना' आधुनिकता का लक्षण नहीं, बल्कि परिवेश से जुड़ने व आदमी की आन्तरिक व्यथा के चित्र

उकेरने में ही आधुनिकता अपने सही अर्थ को उपलब्ध कराती है।"[28]

यही कारण है कि आधुनिक बोध से युक्त साहित्यकार अपने वर्तमान की चुनौती स्वीकारता हुआ, अपने युग के प्रति अधिकाधिक सचेतन होता जा रहा है और अपने काव्य में युगीन जीवन व युगीन–भावबोध की व्यापक अभिव्यक्ति कर रहा है।

यथार्थबोध – आधुनिक मनुष्य अपनी युगीन स्थितियों से मुँह चुराने की बजाय उनसे जूझने में विश्वास रखता है। इसलिए अपनी स्थितियों को व्यर्थ के कल्पनापरक या आदर्शमूलक दृष्टिकोण से देखने की अपेक्षा वह जीवन की कटु सच्चाइयों की अनुभूति किया करता है। यह भौतिक वास्तविकताओं पर आधारित और इसी के अनुरूप होता है, जिससे आदर्शवाद के विरोध के साथ–साथ यहाँ इन्द्रिय प्रत्यक्ष सम्बन्धी सिद्धान्त को महत्त्व प्रदान किया जाता है। अतः आधुनिक बोध युक्त कवि अपनी आँखों के सामने दीख पड़ने वाली स्थितियों का ही हू–ब–हू चित्रण करते हैं, उसे रंगीन चश्में से दिखलाने या लीपापोती कर वर्णित करने का प्रयास नहीं करते।

वस्तुतः यह आधुनिकता का महत्त्वपूर्ण घटक है, जिसके विषय में डॉ॰ जयसिंह नीरद का कथन है, "यथार्थ का 'सृजनात्मक ग्रहण' वह सूत्र है, जो इन समस्त घटकों को एक सुनियोजित शृंखला में आबद्ध करता है। जब तक जीवन और जगत् के प्रति हमारी दृष्टि में रचनात्मक यथार्थ का अभाव रहेगा, तब तक हम आधुनिक नहीं हो सकते।"[29]

प्रगतिशीलता – हर युग की परिस्थिति भिन्न होती है, जिसमें पुराने मूल्य कहीं छूट जाते हैं। प्रयोगवृत्ति की इस प्रबलता से जड़ता समाप्त हो जाती है व नित्य परम्परा संशोधन होता चलता है। जब तक समाज ऐसी रूढ़ियों के प्रति विद्रोह कर उनसे युक्त नहीं हो जाता, तब तक समाज में आधुनिकता का उदय नहीं हो सकता है।

---

28. डॉ॰ जयसिंह नीरद, दिनकर काव्य में परम्परा और आधुनिकता, पृ॰ 40

29. वही, पृ॰ 44

इसलिए कह सकते हैं कि प्रगतिशीलता आधुनिकता का महत्त्वपूर्ण युग है, जो युग की कसौटी पर खरी न उतरने वाली रूढ़ियों को नकार देती है।

(च) आधुनिक बोध के प्रेरणा-स्रोत

यूँ तो हर युग का मनुष्य अपने पूर्ववर्ती युग से आधुनिक रहा है। विचार की दृष्टि से आधुनिकता का प्रकाश समय–समय पर प्रकाशित होता रहा है। इस सबके बावजूद अपने वर्तमान के प्रति अत्यधिक सजग आज का मानव अपने सम्पूर्ण इतिहास में सर्वाधिक आधुनिक कहलाने का अधिकारी है। उसके इस स्थान पर पहुँचाने वाले तत्त्वों में युग का तो विशेष महत्त्व रहा ही है, साथ ही ऐसी घटनाओं, आन्दोलनों, क्रान्तियों ने भी योगदान दिया है। इन सभी उपर्युक्त तथ्यों के कुछ कारण हैं, कुछ ऐसी प्रेरक शक्तियाँ हैं, जिन पर विचार कर लेना उपयुक्त जान पड़ता है। आधुनिकता को प्रबलता से अभिव्यक्त करने में संलग्न प्रेरणा–स्रोतों को दो भागों में बाँटा जा सकता है – नवीन परिवेश एवं पाश्चात्य दर्शन।

1. नवीन परिवेश

हमारे वर्तमान परिवेश में पूर्वकाल की तुलना में व्यापक बदलाव आया है। पहले हमारा जीवन सहज व सरल था। हमारा आज का जीवन वैज्ञानिक प्रगति के पथ पर दौड़ता चला जा रहा है। यह जीवन पद्धति में होने वाला बदलाव एक नए परिवेश को जन्म दे रहा है, जो आधुनिक बोध को उजागर करने में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। इस परिवेश परिवर्तन को निम्न बिन्दुओं के माध्यम से जाना जा सकता है।

० वैज्ञानिक दृष्टिकोण

बीसवीं सदी में विज्ञान के नवीन अनुसंधानों व आविष्कारों में एकाएक वृद्धि हुई। इससे मानव के बाहरी जीवन में ही नहीं अपितु आन्तरिक मन में भी क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित हुए। आधुनिक मानव अपने जीवन को भोग–विलास की सामग्रियों में संलिप्त करने लगा, साथ ही उसका आन्तरिक मन पहले की भाँति शान्त नहीं रहा है, अपितु रचनात्मक कार्यों में संलिप्त रहने लगा है। अब तक जो

बातें कल्पना का विषय बनी हुई थीं, उनके विषय में वास्तविक तथ्यों को जान लेने से मनुष्य के दृष्टिकोण व वस्तुओं को जाँचने–परखने के ढंग में व्यापक परिवर्तन आया और उसकी मनोवृत्ति बदल गई। अब वह प्रत्येक चीज को भाग्य या भगवान के भरोसे पर नहीं छोड़ देता है, वरन् आधुनिक चिन्तन व वैज्ञानिक दृष्टि से उस पर विचार कर सत्य की खोज करता है। अब विश्वास के स्थान पर परीक्षण, श्रद्धा के स्थान पर तर्क और आस्था के स्थान पर विश्लेषण को महत्त्व दिया जाने लगा है। यही कारण है कि धर्मशास्त्रों में दी गई अनेक बातों पर प्रमाण–परीक्षण और तर्क के अभाव में प्रश्नचिह्न लगा दिया गया। कहा जा सकता है कि विज्ञान का आलोक प्रकाशित होने पर सदियों से प्रचलित रूढ़ मान्यताओं का अन्धकार शनैः शनैः लुप्त हो गया तथा इसने ही आधुनिकता को एक नई दिशा प्रदान की, जिससे मनुष्य का आत्मविश्वास बढ़ा और वह कर्म के क्षेत्र की तरफ प्रवृत्त हुआ। वह महत्त्वाकांक्षा रखने लगा जिसके आधार पर उसका जीवन प्रतिस्पर्धा की ओर उन्मुख हो गया।

विज्ञान की अति का यह दुष्परिणाम भी निकला कि सभी आदर्श मूल्य और पारम्परिक मान्यताएँ ध्वस्त हो गईं। वैज्ञानिक सुविधाओं की अनुपातिक वृद्धि के साथ–साथ मानव–मन असन्तोष तथा अशान्ति से ग्रस्त हो गया। संस्कृति का ढाँचा चरमरा गया। जहाँ विज्ञान ने मानव को भौतिक सुख–सुविधाओं से सम्पन्न किया, वहीं परमाणु–शक्ति के दुरुपयोग द्वारा उसकी मौत का सामान भी उपलब्ध करा दिया गया। वह ईश्वर को महत्त्व न देकर मानव को महत्त्व प्रदान करने लगा। उसकी नैतिकता मानव–केन्द्रित हो गई।

० नए मूल्य

प्रत्येक युग की परिस्थितियों व आवश्यकताओं के अनुरूप मूल्यों का निर्माण होता है। पहले के मूल्यों में ईश्वर की उपासना, उसकी लीला का गायन आदि का ही प्रचार किया जाता था, परन्तु अब आधुनिकता बोध एवं विज्ञान के

कारण उपर्युक्त मूल्य धराशायी हो गए। अब मानव की समस्याओं और संघर्षों के आधार पर नए मूल्यों का निर्माण होने लगा है। इस युग में समस्त मूल्यों का केन्द्र इहलोक हो गया। ईश्वर को नकार कर स्वयं मानव ही सर्वोच्च आसन पर केन्द्रित हो गया। अहं केन्द्रित व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति की प्रबलता के कारण अर्थ और काम पर केन्द्रित भौतिकवादी संस्कृति को प्रश्रय मिला।

भाग्य का स्थान पुरुषार्थ ने, कट्टरता या अन्धानुकरण का स्थान स्वतन्त्र–चेतना ने ले लिया है। यही कारण है कि आदिकाल से चली आ रही दास–प्रथा, राजतन्त्र, जातिवाद, साम्प्रदायिकता, उपनिवेशवाद आदि जिनके भीतर अमानवीयता के दर्शन होते हैं, वर्तमान में एक–एक कर लुप्त हो गए तथा मानव को मानव के रूप में स्वीकार किया गया। यही मानववादी जीवन दृष्टि आधुनिकता का प्रधान और मूल आधार है।"[30]

० शहरीकरण

अभी तक भारत कृषि–प्रधान देश माना जाता रहा है, जहाँ अधिकांश आबादी गाँवों में निवास करती है तथा सीधा सादा जीवन व्यतीत करती है। किन्तु पिछले कुछ वर्षों में औद्योगीकरण ने आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को तीव्र किया, जिससे लोग शिक्षा, जीविकोपार्जन, आधुनिक जीवन के आकर्षण आदि के बेहतर अवसर की तलाश में औद्योगिक नगरों की ओर आकृष्ट हुए, जिससे ग्राम–व्यवस्था का विघटन शुरु हुआ व औद्योगिक क्षेत्र आबादी के मुख्य केन्द्र हो गए। यही कारण है कि यहाँ 1951 में शहरी आबादी 6.27 करोड़ हुआ करती थी, जो 1991 में 21.76 करोड़ हुई और 2001 में 29 करोड़ तक जा पहुँची। अगले 21 वर्षों में यह 50 करोड़ का आंकड़ा पार कर लेगी।"[31] लोगों द्वारा गाँव से किए गए पलायन का

---

30. डॉ॰ जगदीश गुप्त, नयी कविता, अंक-7, पृ॰ 65
31. सम्पादकीय, शहर को चाहिए मुक्ति, नभाटा, 14/7/2000

परिणाम यह निकला कि देखते–देखते नगर, महानगर बन गए। जहाँ अपार भीड़ है, किन्तु अजनबीपन है, बेगानापन है। जहाँ सभी लोग अपने–अपने काम–धन्धों पर जाते हैं, किन्तु उनमें उलझकर पूरी तरह यान्त्रिक, भावनाहीन, संवेदनशून्य हो गए हैं। जहाँ हर कोई किसी अन्य को साधन रूप में प्रयुक्त करना चाहता है, किन्तु किसी का सहारा नहीं बनना चाहता। सब ओर होड़ा–होड़ी, आपा–धापी, मारा–मारी मची हुई है। श्रम का आकर्षण फीका पड़ गया है, पुराने मूल्य कहीं पीछे छूट गए हैं, पैसा सबसे बड़ा मूल्य हो गया है। हर कोई किसी दूसरे से अव्वल दीखना चाहता है, अधिक मॉड़र्न बनना चाहता है। इस भाँति शहरीकरण भी आधुनिकीकरण के चक्र को तीव्रता प्रदान करता रहा है।

2. पाश्चात्य दर्शन

पाश्चात्य जगत् में औद्योगिक क्रान्तियों व वैज्ञानिक अनुसंधानों के साथ–साथ नवीन दर्शनों का भी प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने मनुष्य के हृदय को आन्दोलित कर उसकी धारणाओं को आमूल बदल डाला। जिन पाश्चात्य दर्शनों ने मनुष्य को सर्वाधिक प्रभावित कर एक नई दिशा प्रदान की, उन्हें इस प्रकार जाना जा सकता है।

o मार्क्सवाद

मार्क्सवादी विचारधारा समाजवादी विचारधारा है, जिसका उद्देश्य वर्गहीन समाज की स्थापना करना है। इसके लिए मार्क्सवाद क्रांति पर ही आधारित है। उनका मत है कि समाज में बराबरी लाने के लिए यदि हिंसा का भी सहारा लिया जाए तो गलत नहीं है। सृष्टि और समाज के समन्वित दर्शन पर आधारित यह भौतिकवादी दर्शन है, जो आधुनिक मनुष्य की व्याख्या में अपना योगदान देता है। कार्लमार्क्स ने हीगेल से द्वन्द्व सिद्धान्त और फायरबाख से भौतिकवाद को ग्रहण कर 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' के रूप में इसकी स्थापना की। जिसमें आधुनिक व्यक्ति को अलौकिक मान्यताओं से हटाकर भौतिक उन्नति की दिशा में प्रेरणा प्रदान की।

मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार– "भौतिक जगत् अपरिवर्तनीय नहीं है। यह सतत गतिमान व परिवर्तनशील है। जड़ और सजीव जगत् दोनों परिवर्तित तथा विकसित होते हैं। मानव समाज भी विकसित होता रहता है। इस प्रकार मार्क्सवादी दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण है।"[32] इसके साथ ही मार्क्सवाद ने मनुष्य के जीवन को भी विवेचित किया है। उनकी मान्यता है कि धर्म, नैतिकता, कला और अध्यात्म के क्षेत्र में मनुष्य द्वारा निरूपित मूल्यों का विकास समाज की अर्थव्यवस्था के अनुसार हुआ है। अतः ये मूल्य लोकोतर मूल्य नहीं है। कर्म पर आस्था मार्क्सवाद का सबसे अधिक मूल्यवान तत्त्व है।"[33]

इस प्रकार कह सकते हैं कि मार्क्सवाद की मान्यता है कि शाश्वत मूल्य समाज के लिए कोई मान्यता नहीं रखते, ये नित्य परिवर्तनशील हैं। इसने मानव की प्रतिष्ठा व समतामूलक समाज की स्थापना के लिए 'वर्ग–संघर्ष' को तीव्र किया। साथ ही आत्मा व चेतना सम्बन्धी विचारों के विषय में सदियों से चली आती धारणा को ध्वस्त कर इन्हें 'भौतिकवाद' के माध्यम से ही व्याख्यायित किया और आत्मिक तत्त्वों के स्थान पर उपयोगितापरक मानव मूल्यों को गौरव प्रदान किया। अतः स्पष्ट है कि 'दर्शनों के इतिहास में मार्क्सवाद सबसे अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ है।"[34]

० मनोविश्लेषणवाद

इस सिद्धान्त की स्थापना सिग्मण्ड फ्रायड ने की थी। वे पेशे से चिकित्सक थे, जिन्होंने अपने अनुभवों से बतलाया कि मनुष्य के द्वारा किए जाने वाले किसी भी क्रिया–कलाप का मुख्य प्रयोजन कोई कामेच्छा होती है। अपने सिद्धान्त

---

32. डॉ० उषा तिवारी, आधुनिकता का परिप्रेक्ष्य और राजेन्द्र यादव का कथा साहित्य, पृ० 6
33. डॉ० प्रतिभा पाठक, समकालीन हिन्दी उपन्यास की आधुनिका, पृ० 22
34. डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा, नयी कविता के नाट्य काव्य, पृ० 10-11

को स्पष्टता प्रदान करने के लिए उन्होंने मानव मन को चेतन, अर्द्ध–चेतन और अचेतन – तीन भागों में वर्गीकृत किया। अचेतन मन का निर्माण दमित इच्छाओं से होता है, जो किसी कुण्ठा के रूप में मनुष्य को क्रियाशील करता है। "फ्रायड ने व्यक्ति की सभी समस्याओं का मूल, सभ्यता और समाज द्वारा आदिम कृतियों के दमन को माना है। सामाजिक स्वीकृति अथवा मान्यता के अभाव में व्यक्ति की अनेक इच्छाएँ चेतन मन से मुँह छिपाकर अचेतन मन में चली जाती हैं और वहीं से अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष करती रहती हैं। ये दमित इच्छाएँ मूलतः कामभावना के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं। इस प्रकार मानव–जीवन की मूल वृत्ति अथवा शक्ति फ्रायड के अनुसार काम–भावना।"[35]

फ्रायड के शिष्यों एडलर व युंग आदि ने भी इसे अपने–अपने तरीकों से व्याख्यायित किया है। एडलर ने मानसिक क्रियाओं के लिए कामवृत्ति के साथ–साथ अहं को भी महत्त्व दिया है, जबकि युंग ने दोनों का समाहार करते हुए व्यक्तित्व के दो प्रकार निश्चित किए – अन्तर्मुखी व्यक्तित्व और बहिर्मुखी व्यक्तित्व।

फ्रायड और उसके साथियों ने चिन्तन करके इस बात को पुष्ट किया कि मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं है। मनुष्य में पशु प्रवृत्ति सदैव विद्यमान रहती है। यदि वह अपनी इस पशु प्रवृत्ति पर नियन्त्रण नहीं रख पाता है तो वह पशु–तुल्य हो जाता है। इसलिए उसे चाहिए कि वह अपनी इन प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाकर सभ्य और सुसंस्कृत आचरण करें।

फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद ने परम्परा से चले आ रहे जीवन–मूल्यों को नकार दिया है। उन्होंने आस्था, विश्वास, पाप–पुण्य, जप–तप, योग व वैराग्य आदि मूल्यों पर गहरी चोट की है और अपने चिन्तन एवं खोज के द्वारा नये मूल्य एवं प्रतिमान स्थापित किए। इस प्रकार फ्रायड के समय से आज तक मनोविश्लेषण

---

35. डॉ० प्रतिभा पाठक, समकालीन हिन्दी उपन्यास की आधुनिकता, पृ० 24

सिद्धान्त के स्पष्टीकरण, समर्थन व विरोध में इतनी चर्चा हुई है कि आधुनिक युग की कोई भी विचारधारा इससे अछूती नहीं रह सकी है। इसके प्रभाव स्वरूप आधुनिक साहित्य में मानव मन की विकृतियों, काम–कुण्ठाओं व नग्नता का खुलकर चित्रण किया जाने लगा जिससे नैतिकता के प्रतिमानों पर गहरा आघात पहुँचा।

o **विकासवाद**

विकास सम्बन्धी धारणाओं का इतिहास काफी प्राचीन है। इतिहास इस बात का गवाह है कि सृष्टि पर अनेक परिवर्तन हुए। साधारण जन इस सृष्टि पर हुए परिवर्तनों को अलौकिक अर्थात् ईश्वरीय क्रिया–कलाप मानते हैं, परन्तु इन सब मान्यताओं के विपरीत 'विकासवाद' के प्रवर्तक 'चार्ल्स डार्विन' ने वातावरण और परिस्थिति को इसका आधार माना है। मनुष्य के विकास के सन्दर्भ में डार्विन का मानना है कि मनुष्य का विकास जीवाणु से हुआ है। इससे पहले वह मत्स्य, कच्छप, मर्कट, वराह, नृसिंह और फिर मानव के रूप में अवतरित हुआ है। उनके इस सिद्धान्त ने मनुष्य के विचार जगत् पर एक गम्भीर, व्यापक और क्रांतिकारी प्रभाव डाला है। अभी तक जो मनुष्य अपने आपको समस्त योनियों में सर्वश्रेष्ठ मानकर गर्व करता था, उसे मालूम हो गया कि वह भी रूपान्तरण की उस दीर्घ प्रक्रिया का परिणाम है, जो उस वर्ग के निम्नतम जीवधारियों से प्रारम्भ हुई थी।

परिणामस्वरूप आज के मनुष्य का दृष्टिकोण बदलकर लोकपरक व ऐहिक हो गया है। अब इस सृष्टि का रचयिता 'ईश्वर' नहीं माना जाता, बल्कि विकासवाद की परिणति समझा जाता है। अब करुणा, बन्धुता, प्रेम आदि के पुरातन मूल्यों के स्थान पर जीवन संघर्ष में अस्तित्व की रक्षा के लिए क्रूर व निर्मम गुण वांछनीय माने जाने लगे। सम्भवतः विज्ञान की अन्य किसी खोज या सिद्धान्तों से मनुष्य की विचारधाराओं पर इतना गहरा प्रभाव नहीं पड़ा।"[36] अतः डार्विन का 'विकासवाद' समाज में विशेष महत्त्व रखता है।

---

36. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० 773

o **अस्तित्ववाद** – अस्तित्ववाद का जन्म जर्मनी में हुआ था। इस मत के प्रतिष्ठापक कीर्कगार्द और नित्शे का नाम लिया जाता है, परन्तु इस विचारधारा को ख्याति प्रदान करवाने में हेडगर, यास्पर्स, सार्त्र, मार्सेल आदि विचारकों का योगदान रहा है। इन्होंने मनुष्य के अस्तित्व को स्वीकार करके समूहीकरण और मशीनीकरण का विरोध किया है। मनुष्य को शक्तिशाली स्वीकार करके, उसे पुनः स्थापित करके मानव जीवन को सम्भव बनाने का प्रयास किया है।

विज्ञान के अनवरत बढ़ते प्रभावों व अति बौद्धिकता की प्रतिक्रिया में जन्मे अस्तित्व ने भी आधुनिक युगबोध को काफी हद तक प्रभावित व प्रेरित किया है। इस विचारधारा ने परम्परागत मूल्यों को निष्प्राण मानकर नवीन मानवीय मूल्यों की स्थापना की है, साथ ही मानव जीवन को असहाय मानकर, दीन–हीन व निरर्थक जानकर, उसे मानवीय अर्थ और मूल्य प्रदान करने की चेष्टा की है।

इनके द्वारा जीवन के प्रति अनास्था, अविश्वास व नकारात्मक दृष्टिकोण को ही सम्पूर्ण सत्य के रूप में प्रचारित किए जाने के विषय में डॉ॰ धनंजय वर्मा लिखते हैं– "आधुनिकतावादियों का प्रधान स्वर जीवन की निस्सारता और निरर्थकता का रहा है। वे कहते हैं कि हमारा युग विश्वासहीनता का युग है, मगर इस विश्वासहीनता में ही उनका अन्धविश्वास है। गौर से देखा जाए तो अस्तित्ववादी दर्शन की यह निरर्थकता और विसंगति एक क्षणवादी बोध का परिणाम है। हम उसे गलत नहीं कह सकते, लेकिन यह सत्य का सिर्फ एक पड़ाव ही है। वह खण्ड सत्य है, सम्पूर्ण सत्य नहीं।"[37]

अस्तित्ववाद में मृत्यु को अटल मानकर अत्यन्त सीमित समय में मनुष्य को सब कार्य करने होते हैं, अतः प्रत्येक क्षण का उसके लिए अत्यन्त महत्त्व है। यह ईश्वर, धर्म, भाग्य, अध्यात्म, ज्ञान–विज्ञान और परम्परा आदि को नकार कर व्यक्ति

---

37. डॉ॰ धनंजय वर्मा, आधुनिकता के बारे में तीन अध्याय, पृ॰ 19

के अस्तित्व की सत्ता, महत्ता एवं स्वतन्त्रता की स्थापना करने वाला दर्शन है, जिसका मूल आधार पीड़ा है।"[38]

आज की जटिल परिस्थितियों में फँसा मनुष्य जब अपनी सम्पूर्ण शक्ति का उपयोग करने पर भी हार जाता है तो उसमें भय, निराशा, विवशता, वेदना, भाग्यवाद आदि की भावनाएँ सहज ही में जन्म लेती हैं, जिनसे नई मूल्य चेतना उत्पन्न होती है। इन स्थितियों में अस्तित्ववाद इन भावनाओं का प्रेरक तत्त्व बन जाता है।

उक्त प्रभावों के अतिरिक्त कुछ अन्य पाश्चात्य साहित्यिक और कलागत आन्दोलनों ने भी आधुनिक बोध के विकास में अपना योगदान दिया है जिनमें प्रमुख हैं– दादावाद, प्रतीकवाद, बिम्बवाद, प्रभाववाद, अभिव्यंजनावाद, भविष्यवाद, अतियथार्थवाद आदि। अतः हम कह सकते हैं कि वैज्ञानिकताजन्य औद्योगीकरण की प्रवृत्ति से निर्मित नए परिवेश ने यद्यपि आधुनिक बोध के लिए मंच तैयार किया है, तो भी अधिकांश विदेशी आन्दोलन ही इसके मुख्य प्रेरणा आधार रहे हैं।

(छ) आधुनिक बोध का व्यापक फलक

मनुष्य की विचारधारा उसके इर्द–गिर्द के समस्त परिवेश को प्रभावित करती है। उसका चिन्तन ज्यों का त्यों तार्किक, बौद्धिक तथा विश्लेषणपरक होता गया, उसकी दुनिया में भी व्यापक बदलाव आया है। यही कारण है कि आज सब कहीं आधुनिकता की छाप दिखलाई पड़ती है। इन स्थितियों में साहित्य पर इस सबका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। इसलिए समसामयिक लेखकों में भी आधुनिकता का स्फुरण पग–पग पर हुआ है। अध्ययन की सुविधा को ध्यान में रखकर इस व्यापक क्षेत्र को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है।

---

38. लालचन्द गुप्त, अस्तित्ववाद, पृ० 103

(क) राजनीतिक

(ख) सामाजिक

(ग) सांस्कृतिक

(क) राजनीतिक

वर्तमान स्थितियों में राजनीति हमारी रग–रग में समाहित हो चुकी है। चाहे कोई संसारी हो या संन्यासी साधु, स्वयं को राजनीति के जाल से अलग नहीं रख पाता है, फिर आधुनिकता का प्रतीक लोकतन्त्र तो सबकी भागीदारी सुनिश्चित करता है। जहाँ प्रत्येक के मत को समान महत्त्व दिया जाता है। इस प्रजा में न कोई छोटा है, न कोई बड़ा है, न ऊँचा है और न ही नीचा है। अर्थात् सभी व्यक्ति समान हैं। सभी मनेच्छापूर्वक जीवन जी सकते हैं, उन्हें किसी कार्य को करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। यहाँ प्रजा शासकों से भी कहीं अधिक ताकतवर एवं शक्तिसम्पन्न होती है। यह प्रजा ही शासक का स्वरूप निश्चित करती है, यदि प्रजा की इच्छा के विरुद्ध शासक कोई कार्य करता है, तो प्रजा उनसे जवाब तलब करती है। इसलिए शासक इनके प्रति जवाबदेह होते हैं और प्रजा उनकी भाग्य–विधाता। अतः शासक मात्र जन कल्याण और अपनी प्रजा के उत्थान हेतु ही सभी कार्यों को अंजाम देते है।

आधुनिकता की दृष्टि से राजनीति राज्य के लिए ही नहीं वरन् राष्ट्र के लिए होती है। राज्य बदलते जाते हैं, किन्तु राष्ट्र की अस्मिता को कोई ठेस नहीं लग पाती। यहाँ राष्ट्र को ही सर्वोच्च प्रतिष्ठा मिलती है, जिससे सभी नागरिक इसके प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं। राष्ट्रीय विधान समता बोध से युक्त व न्यायमूलक होता है। इसी कारण शासक किसी अपराध करने की दशा में समान रूप से दण्ड पाता है।

युद्धों का निर्णय राजनीति के स्तर पर ही लिया जाता है, किन्तु इनका लक्ष्य व्यक्तिगत अहं द्वेष से ऊपर उठकर राष्ट्रीय हितों के लिए ही होता है।

(ख) सामाजिक

आधुनिकता के प्रभावस्वरूप समाज की समस्त इकाइयों यथा– व्यक्ति, परिवार, परिवार के सदस्य आदि की स्थितियों में व्यापक परिवर्तन देखने को मिले हैं। व्यक्ति अपने हृदय की भावनाएँ गँवाकर यन्त्रवत् हो गया है। वह अब केवल बुद्धि से चिन्तन करता है और परिवार के सम्बन्धों में भी लाभ–हानि को देखता है। पारिवारिक सम्बन्ध मात्र औपचारिक रह गए हैं। उनमें पहले जैसा भावनात्मक सम्बन्ध नहीं रह गया है। इसीलिए आज प्रतिदिन पिता ने पुत्र की हत्या कर दी, पुत्र ने माता की हत्या कर दी है, बहन ने भाई पर केस दायर कर दिया, आदि समाचार सुनने व देखने को मिलते हैं। इसके साथ ही नारी अब पहले की भाँति पुरुष की मात्र दासी कही जाने वाली नारी नहीं रह गई है। शिक्षा ने उसके अन्दर चेतना भर दी है, जिससे वह पहले की अपेक्षा प्रखर व मुखर दिखाई देती है। अब वह अपना सहारा खुद बन गई और उसने पुरुष का अवलम्बन लगभग छोड़ दिया है। वह पति की भाँति सुबह उठकर दफ़्तर जाती है व अन्य क्रियाकलापों में भी सहायता करने लगी है।

पूर्वकाल में हमारा समाज विभिन्न प्रकार की भेद–भावनाओं में बँटा रहा। अमीर–गरीब, ऊँच–नीच, गोरा–काला, ब्राह्मण–शूद्र, राजा–प्रजा, धनी–निर्धन आदि की अनेक दीवारें हमारे मध्य खिंची रहीं, परन्तु समाज में आधुनिक बोध के उत्पन्न होने से ये दीवारें गिरने लगीं। सदियों से चली आती जीर्ण परम्पराएँ, सड़ी–गली रूढ़ियाँ, जो अतार्किक व अप्रासंगिक सिद्ध हो चुकी थी, उनके प्रति विद्रोह पनपने लगा है। अब कानून की दृष्टि में न तो कोई काला–गोरा है, न ऊँचा–नीचा है, न ब्राह्मण–शूद्र है, वरन् सभी समान हैं। इस नवीन भावना से सम्पूर्ण समाज में एक नई क्रान्ति का संचार हुआ। वर्ण–व्यवस्था के बन्धन शिथिल पड़ गए। दलित–शोषित वर्ग को अपेक्षित सम्मान मिला। इस प्रकार सामाजिक पुनर्निर्माण की दिशा में अग्रसर होने से, समाज रुग्ण मानसिकता से मुक्त होकर कायाकल्प को प्राप्त हो रहा है।

(ग) सांस्कृतिक

संस्कृति को मानव जाति का बैरोमीटर कहा जा सकता है चूँकि इसके माध्यम से उसकी हर प्रगति–पतन की गाथा जानी जा सकती है। जैसे–जैसे मानव का ह्रदय संस्कारित होता जाता है, उसकी संस्कृति भी महान बनती है तथा उसमें विकृति आने से संस्कृति भी पतित होती है। एक जगह पर खड़ा रहने से पानी भी सड़ (खराब) हो जाता है। इसलिए सांस्कृतिक कट्टरता व जड़ता से उसमें भी बुराइयों की दुर्गन्ध आने लगती है। इसलिए संस्कृति मनुष्य का परिष्कार करने वाली होनी चाहिए। आधुनिकता गत्यात्मकता में विश्वास करती है, जिसके प्रभाव स्वरूप संस्कृति निर्मल व ताजगीयुक्त बनती है।

आधुनिक संस्कृति मानवता, स्वतन्त्रता व स्वाभिमान से युक्त है, जिससे व्यक्ति न केवल आत्मविश्वास से युक्त हुआ है, बल्कि नस्ल, जाति आदि के भेदभाव बिना सभी के प्रति मानवीय व्यवहार का परिचय दे रहा है। अपने पौरुष से निरन्तर प्रकृति पर विजय प्राप्त करता हुआ आज का मानव भाग्य की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्त्व देने लगा है। साथ ही उनकी धर्म सम्बन्धी मान्यताएँ भी बदल गई हैं। आज धर्म के प्रति व्यक्ति की आस्था और विश्वास डगमगा चुके हैं। स्वर्ग और नरक की कल्पनाएँ छिन्न–भिन्न हो गई हैं। अब वह कोरी आस्थाओं, धार्मिक आडम्बरों तथा धर्मकाण्डों का त्याग कर चुका है। धर्म की मूलभूत बातें उसे आज भी स्वीकार्य हैं, परन्तु धर्म के नाम पर किए जाने वाले कर्मकाण्डों और पाखण्डों को वह आज भी नापसंद करता है। इसके साथ ही वह अध्यात्म को नकार कर भौतिकवाद की ओर उन्मुख हो रहा है।

आधुनिक व्यक्ति पर बौद्धिकता के हावी हो जाने से उसका विवेक बल जाग रहा है। धर्म, नीति, सत्य आदि के विषय में वह शास्त्रीय दृष्टिकोण को अपनाने की अपेक्षा व्यवहारवादी दृष्टिकोण का परिचय दे रहा है। साथ ही वह अपने परिवेश के प्रति भी अत्यन्त सचेत प्रतीत होता है, जिससे उसे पर्यावरण की चिन्ता सताने

लगी है।

इस प्रकार व्यापक फलक पर फैले विभिन्न आयामों में आधुनिकता की सहज ही प्राप्ति की जा सकती है। आधुनिकता को फलित करने में व्यक्ति के मानस में परिवेश के अनुसार होने वाले धीमे परन्तु निरन्तर परिवर्तन के अतिरिक्त वैज्ञानिक प्रगति, औद्योगीकरण जैसी अभूतपूर्व परिस्थितियों तथा विकासवाद, समाजवाद, मार्क्सवाद, मनोविश्लेषणवाद और अस्तित्ववाद जैसी विचारधाराओं का योग रहा है। इस तरह से आधुनिक बोध से सम्पन्न व्यक्ति सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक तथा चिन्तन रूप में आधुनिक विचारधारा को ग्रहण कर उपर्युक्त तत्त्वों का विवेचन–विश्लेषण कर उन्हें नवीन मूल्यों में परिवर्तित करता है। "व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो आधुनिकता मनुष्य की मानसिकता में अपने परिवेश के अनुसार होने वाला एक निरन्तर परिवर्तन है, जो उन्मुक्तता की ओर अग्रसर होती है। बदलते विचारों और संकल्पनाओं के प्रति आधुनिक व्यक्ति खुला दृष्टिकोण रखता है। अपनी बुद्धि से वह हर बात का विश्लेषण कर लेता है। कोरी आस्था और अन्धविश्वास से वह कोसों दूर रहता है। आधुनिकता एक ऐसा पैमाना है, जिसके एक सिरे पर रूढ़िवादिता है और दूसरे सिरे पर पूर्ण आधुनिकता।"[39]

oooooooooooooooooooo

---

39. डॉ॰ प्रतिभा पाठक, समकालीन हिन्दी उपन्यास की आधुनिका, पृ॰ 10

दूसरा अध्याय
उपेन्द्रनाथ अश्क : युग, जीवन और कृतित्व

(क) उपेन्द्रनाथ अश्क का युग परिदृश्य

(ख) उपेन्द्रनाथ अश्क का जीवन और व्यक्तित्व

(ग) उपेन्द्रनाथ अश्क का रचना-कर्म

दूसरा अध्याय
उपेन्द्रनाथ अश्क : युग, जीवन और कृतित्व

हिन्दी साहित्य में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का स्थान सर्वोपरि है। इन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर अनेक उपन्यास, एकांकी तथा कहानियाँ लिखकर आधुनिक साहित्यकारों में अपना अनूठा स्थान घोषित किया। ये हिन्दी एवं उर्दू के सर्वाधिक विवादास्पद रचनाकार रहे हैं। दोनों भाषाओं की इन्हें गहन जानकारी थी। अश्क जी ने अपनी प्रतिभा के आधार पर कई विधाओं पर लेखनी चलाई, परन्तु इन्हें उपन्यास, कहानी तथा एकांकी में ही विशेष स्थान मिला। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' जी एक बहुरंगी और बहुविध क्रियाशील साहित्यकार के नाते ही नहीं, वरन् परम निष्ठावान और सजग रचनाकार के रूप में विख्यात हैं। इनका व्यक्तित्व प्रखर चेतना और निर्भीक वाणी पर टिका हुआ है, जिसके आधार पर उन्हें जहाँ कहीं भी व्याप्त भ्रष्टाचार एवं सामाजिक बुराइयाँ दिखाई दीं, वहीं पर अपने तीखे और तीक्ष्ण शब्द–वाणों से प्रहार किया और अपनी सही बात को बिना किसी भय के समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। अपने व्यक्तित्व के इन्हीं गुणों की तप–गंगा में अपना व्यक्तित्व धोकर साफ किया है। इस साधना–गंगा में उनका व्यक्तित्व धुलने के बाद धीर, गम्भीर, गरिमामय उदात्त मूल्य सम्पन्न बनकर निखरा है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का समग्र व्यक्तित्व उनके साहित्य में उभर कर सामने आया है।

किसी भी रचनाकार के साहित्य से परिचित होने के लिए आवश्यक है कि उसके जीवन एवं व्यक्तित्व का अध्ययन किया जाए, क्योंकि जीवन और साहित्य में अभेद रिश्ता है। साहित्य जीवन की व्याख्या करता है। साहित्यकार का जैसा जीवन होगा उसका वैसा ही साहित्य होगा। कोई भी साहित्यकार कितना ही सचेत क्यों न हो, लेकिन जब वह किसी रचना का निर्माण करता है, तो वह उस रचना में स्वयं के

प्रवेश को रोक नहीं पाता है। उसके जीवन के कुछ न कुछ तत्त्व तो उसके साहित्य में स्वयंमेवप प्रविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार उसकी रचना में उसका व्यक्तित्व घुला–मिला रहता है। अतः साहित्य के मूल की जानकारी हासिल करने के लिए साहित्यकार के जीवन व व्यक्तित्व को जानना भी अति आवश्यक है।

(क) उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का युग-परिदृश्य

साहित्य को प्रभावित करने वाला महत्त्वपूर्ण तत्त्व है – युगीन परिवेश। कोई भी रचनाधर्मी तत्कालीन युगीन परिवेश से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता है। यह परिवेश उसके व्यक्तित्व को तो प्रभावित करता ही है, साथ ही उसकी रचना में भी समाविष्ट होता है। क्योंकि रचनाकार जिस भी विषय पर अपनी लेखनी चलाता है, वह उसे अपने समाज अथवा वातावरण में घटित होते हुए देखता है। इसी घटना को अपनी रचना का आधार बनाकर कल्पना का समावेश करके रचना का निर्माण करता है। दूसरे रचनाकार का परिवेश पहले की भाँति छोटा नहीं रहा, वरन वह अब और विशाल हो गया है। विज्ञान ने दुनिया को छोटा बना दिया है। अब किसी लेखक पर प्राचीनकाल की तरह एक छोटे जनपद, राज्य या देश का प्रभाव नहीं पड़ता; अब तो सारी दुनिया तथा अन्तरिक्ष का एक अंश भी उसके परिवेश का अंग है जो उसकी चेतना को प्रभावित करता है। दुनिया के किसी कोने में कोई घटना घटती है और रेडियो तथा अखबारों के द्वारा तुरन्त वह खबर चारों ओर फैल जाती है। इसी प्रकार काल का वर्तमान क्षण ही हमारा परिवेश नहीं है, हमारा सारा अतीत, बल्कि हमारी सारी परम्परा हमारे वर्तमान पर छायी रहती है और इस प्रकार हमारे परिवेश का अंग बनती है। उपेन्द्रनाथ अश्क का जन्म 1910 में हुआ था और उपन्यास साहित्य का रचनाकाल मुख्यत 1935-40 के आसपास रहा है। इस प्रकार 1910 से 1940 तक की राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों का अवलोकन करना आवश्यक है।

o राजनीतिक परिस्थिति

उपेन्द्रनाथ अश्क ने जन्म लेते ही जब आँखें खोलीं तो पूरा विश्व युद्ध की चपेट में था। अभी अश्क जी की आयु मात्र पाँच वर्ष थी कि तभी 1914 में प्रथम विश्वयुद्ध हुआ जो सन् 1918 तक चलता रहा। यद्यपि यह महायुद्ध भारत से दूर यूरोप में लड़ा जा रहा था, परन्तु भारत पर अंग्रेजों का साम्राज्य होने के कारण भारत उनका उपनिवेश था और इस उपनिवेश से धन और जन बल उस युद्ध में झोंका गया था। लोग इस युद्ध में स्वेच्छा से हिस्सा ले रहे थे ताकि उनको राजभक्ति का यश प्राप्त हो। पंजाब के लोगों ने इस युद्ध में ज्यादा हिस्सा लिया था, अतः निश्चित रूप से पंजाब के जन बल की ज्यादा हानि हुई थी। इस युद्ध में पंजाब आकर्षण का केन्द्र था। उस समय के अखबार व समाचार–पत्र पंजाब के शहीदों की गाथाओं एवं चित्रों से भरे रहते थे। विश्वयुद्ध 1918 में समाप्त हुआ जिसका दुष्परिणाम यह निकला कि खाने की चीजों का अकाल सा पड़ गया और प्रत्येक चीज मंहगी हो गई। बड़ी संख्या में सैनिक अपंग हुए और मारे गए जिसकी वजह से अनेक परिवारों में विशेषकर पंजाब में उपार्जन करने वालों की संख्या कम हो गई जिससे चारों तरफ त्राहि–त्राहि मच उठी जिसका प्रभाव बालक अश्क पर भी पड़ा।

1918 में अंग्रेज विश्वयुद्ध जीत गए, परन्तु जीतने के बाद भी उन्होंने भारत को आजाद नहीं किया, जिसके विरोध में जलसे, जुलूस, धरनों का आयोजन होने लगा। अंग्रेजों ने विरोध को दबाने के लिए 'जलियाँवाला बाग' में हत्याकाण्ड किया। जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड को देखकर पूरा समाज कराह उठा। इस हत्याकाण्ड के विरोध में गान्धी जी ने 'खिलाफत आन्दोलन' का सूत्रपात किया। "गांधी जी का सहयोग पाकर खिलाफत आन्दोलन जोरों पर भड़क उठा। जुलाई 1920 में सिंध में खिलाफत अधिवेशन हुआ जिसमें गान्धी जी ने भी भाग लिया। उन्होंने तेईस करोड़ हिन्दुओं को अपने सात करोड़ मुसलमान भाइयों का साथ देने और सरकार का सहयोग न करने का आह्वान किया। इसके साथ ही वकीलों को सरकारी

कचहरियों और विद्यार्थियों और शिक्षकों को सरकारी स्कूलों और कॉलेजों का त्याग करने का आह्वान किया गया। एसेम्बली और प्रान्तीय कौंसिलों के चुनावों का बहिष्कार, सरकारी पदवियों और सम्मानों का त्याग तथा सरकारी समारोहों का बहिष्कार, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओं, विशेषकर खद्दर का प्रचार, शराबबन्दी आदि का कार्यक्रम जोरों से चल पड़ा।"[1] यद्यपि यह शस्त्रहीन क्रान्ति 1922 में समाप्त करने की घोषणा की गई थी, परन्तु फिर भी सशस्त्र क्रान्तिकारियों और आतंकवादियों के गुप्त दल अंग्रेज सरकार से बदला लेने के लिए पंजाब और बंगाल में संगठित हो रहे थे। 1928 में साइमन कमीशन का विरोध और अंग्रेज सरकार द्वारा भारतीय नेताओं पर लाठीचार्ज अप्रिय घटना रही। 26 जनवरी 1930 को भारतीय नेताओं ने स्वाधीनता दिवस मनाया। उसी दिन देशभर में लोगों ने जगह–जगह इकट्ठा होकर अहिंसा, असहयोग, सविनय अवज्ञा, लगानबन्दी और पूर्ण स्वराज्य का व्रत लिया। 1930-31 में गोलमेज कान्फ्रेंसों का दौर गुजरा, लेकिन इसका कोई भी ठोस परिणाम सामने नहीं आया। 1933 ई॰ में गाँधी जी ने हरिजन समस्या को लेकर आन्दोलन किया। सन् 1935 में चुनाव हुए और जिसमें कांग्रेस को भारी विजय मिली। सन् 1939 में एक बार फिर विश्वयुद्ध हुआ, जिसमें 6 वर्षों तक भारी धन और जन की हानि होती रही।

इस प्रकार उपेन्द्रनाथ अश्क का परिवेश आन्दोलनों, अंग्रेजी सरकार के दमनचक्रों, विश्वयुद्धों आदि से भरा हुआ था, जिसका प्रभाव उसके व्यक्तित्व पर पड़ना जरूरी था और वह पड़ा। उन्होंने इस भारतीय समाज की राजनीतिक उथल–पुथल को नजदीकी से देखा और महसूस किया, जिसका उल्लेख उन्होंने अपने उपन्यासों में किया है। अंग्रेजों के प्रति भारतीय जनता के विद्रोह का यथार्थ चित्रण उनके उपन्यासों में देखा जा सकता है। 'गर्म राख' में मजदूर आन्दोलन और

---

1. डॉ॰ गोपाल राय, अज्ञेय और उनके उपन्यास, पृ॰ 22–23

उनकी सफलता का उल्लेख मिलता है तो 'शहर में घूमता आईना' में विदेशी कपड़ों की होली जलाने का उल्लेख किया है। अतः तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का अश्क साहित्य पर पूर्ण प्रभाव पड़ा है।

० सामाजिक परिस्थति

साहित्य और समाज का अभिन्न सम्बन्ध है। समाज में घटित होने वाली प्रत्येक घटना का वर्णन साहित्य में वर्णित होता है। समाज की घटनाएँ या समाज में किसी भी प्रकार का होने वाला परिवर्तन व्यक्ति की विचारधारा को प्रभावित करता है। यही सामाजिक घटनाएँ, परिवर्तन ही रचनाकार की रचना के प्रेरणास्रोत होते हैं, जिससे वह किसी घटना को आधार बनाकर उसका जीवन्त चित्रण करता है तथा पूरे समाज को उसके अन्दर व्याप्त अच्छाइयों–बुराइयों से अवगत कराता है। "आधुनिक साहित्य की विभिन्न विधाओं में सामाजिक चेतना और युगबोध की सर्वाधिक सशक्त अभिव्यक्ति उपन्यास के माध्यम से हुई है। प्राचीनकाल में व्यक्ति जीवन की निष्ठाओं, सामाजिक जीवन के उदात्त संकल्पों, राष्ट्रीय जीवन के विकासशील चेतन–स्तरों और विश्वजनीन सांस्कृतिक आदर्शों की स्थापना का कार्य महाकाव्यों के माध्यम से व्यक्त होता था, किन्तु आज ये सभी कार्य उपन्यास की रचना द्वारा सम्पन्न होते हैं। इसलिए उपन्यास को गद्य–युग का महाकाव्य कहा गया।"[2] इस दृष्टि से उपन्यास के लिए सामाजिक वातावरण और भी आवश्यक तत्त्व बन गया।

उपेन्द्रनाथ अश्क के जन्म के समय सम्पूर्ण भारत पर अंग्रेजों का शासन था। भारतीय जनता अंग्रेजों से आजादी प्राप्त करने के लिए आन्दोलनों एवं हड़तालों में लीन थी। जिस प्रकार भारतीय राजनीति पूरी तरह से विशृंखलित थी, उसी प्रकार सामाजिक स्थिति भी अस्त–व्यस्त थी। अंग्रेजी राज्य के द्वारा डाक, रेल, तार, शिक्षा से सम्बन्ध स्थापित हुआ। अतः उस युग में भारतीय समाज में अनेक क्रांतिकारी

---

2. डॉ० प्रभुलाल डी० वैश्य, डॉ० रांगेय राघव के उपन्यासों में युगचेतना, पृ० 41

परिवर्तन हुए। शिक्षा का प्रसार, सुधारवादी आन्दोलन, पाश्चात्य संस्कृति से सम्पर्क, औद्योगिक क्रांति आदि। "समाज में दो प्रकार की विचारधाराओं को व्याप्त करने वाले दो वर्ग बन गए थे, एक जो भारतीय प्राचीन वर्ण–व्यवस्था, जाति–व्यवस्था तथा सामाजिक बन्धनों को आवश्यक मानता था और दूसरा जो तन से भारतीय और मन से अंग्रेज था।"[3] इस तरह से दो पीढ़ियों की टकराहट भी इसी युग में व्याप्त थी। नई पीढ़ी के युवा परम्परागत मूल्यों और आदर्शों को भूलने लगे थे। परम्परागत वैवाहिक बन्धन अब ढीले पड़ने लगे थे और उसके स्थान पर प्रेम–विवाह और अन्तर्जातीय विवाह की शुरुआत हुई। भारतीय समाज का अभिन्न अंग नारी, पुरुष के यन्त्रणा भरे जाल में तड़प रही थी और वह शिक्षा प्राप्त करने, स्वावलम्बी बनने और पुरुष के जाल से मुक्त होने के लिए छटपटा रही थी। समाज बुराइयों में बुरी तरह जकड़ा हुआ था। समाज में दहेज–प्रथा, विधवा–विवाह, अनमेल–विवाह, जाति–प्रथा, वेश्या समस्या आदि अनेक बुराइयाँ मुँह खोले हुए खड़ी थीं।

औद्योगिक क्रांति के कारण श्रमिक वर्ग की नवीन समस्या का सूत्रपात हुआ। उद्योग के आधार पर दो वर्ग बन गए – पूंजीपति और श्रमिक। पूंजीपति अपने उद्योग में कार्यरत श्रमिकों का शोषण करता था। दूसरी तरफ श्रमिकों का घनत्व ज्यादा था और वे पूंजीपति को शोषणकर्ता तथा अपना जन्म–जन्म का शत्रु मानने लगे थे। इसके साथ–साथ किसान और जमींदार का संघर्ष भी खुलकर सामने आने लगा। इस प्रकार समाज में वर्ग–भेद उत्पन्न हो गया था। वर्ग–भेद का मुख्य कारण था – अर्थ। "मनुष्य की आर्थिक असमानता ही मुख्य रूप से सामाजिक विभेद को प्रभावित करती है। यद्यपि यह पूर्णरूपेण उसका निर्धारण नहीं करती। यह आर्थिक असमानता मूलतः उस सम्बन्ध के अन्तर से उत्पन्न होती है, जो एक व्यक्ति या व्यक्ति–समुदाय का सम्पत्ति अथवा उत्पादन और वितरण के साधनों के साथ होता

---

3. रमेशचन्द्र मजूमदार, भारत का बृहत इतिहास, पृ० 20

है। यदि एक व्यक्ति जमीन का मालिक है तो वह अपेक्षाकृत अधिक सामाजिक महत्त्व प्राप्त करने लगता है। परन्तु इसके विपरीत यदि वह केवल पराई जमीन पर खेती करने वाला है तो वह स्वयं को सामाजिक दृष्टि से अधोगत पाता है।"[4]

उपेन्द्रनाथ अश्क भी सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित हुए। उनके उपन्यासों में मध्यवर्गीय समाज का चित्रण हुआ है और साथ–साथ अंग्रेजी साम्राज्य पर प्रहार किए हैं। "दीवार हमारे सामने खड़ी है। मगर हम जानते हैं कि वह गिर रही है। रंग तो उड़ ही चुका है, उसके प्लास्तर भी सब ढीले हो चुके हैं। अब नये जमाने की चोटों में वह सम्भल न सकेगी।"[5] 'शहर में घूमता आईना' में समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार पर प्रहार करके नए समाज के निर्माण की ओर संकेत किया है। "इस अभावग्रस्त मुहल्लों में जहाँ अशिक्षा, संस्कृति, भूख और प्यास का राज्य था, जहाँ के घरों में उम्र भर के भूखे, प्यासे, कुंवारे मरे पड़े थे, अनाचारी, जुआरी, व्यभिचारी और पागल न हों तो और क्या हो ? क्यों बीमारियाँ पीढ़ी दर पीढ़ी यहाँ घर न करें और नसलों को खोखली न बनाती चली जाएं।"[6] इस प्रकार उपन्यासकार अश्क ने 1935-40 के तत्कालीन भारतीय समाज की सभी बुराइयों एवं मध्यम वर्ग का चित्रण बड़ी तल्लीनता से किया है। उस समय के मध्यम वर्ग का रहन–सहन, खान–पान, आचार–विचार, वेशभूषा आदि को यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है।

o आर्थिक परिस्थिति

'अर्थ' के बिना कोई अर्थ ही नहीं होता है। जिस व्यक्ति के पास अर्थ नहीं, उसका जीवन ही अर्थहीन हो जाता है। व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय सभी

---

4. डॉ० बी० बी० मिश्र, इण्डियन मिडल क्लासेज, पृ० 2
   उद्धृत डॉ० केशव देव शर्मा, आधुनिक हिन्दी उपन्यास और वर्ग-संघर्ष, पृ० 5
5. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ० 36
6. वही, शहर में घूमता आईना, पृ० 73

जीवन अर्थ पर आधारित होते हैं। "राष्ट्र का समग्र विकास अर्थ–व्यवस्था पर ही निर्भर करता है। जिस देश की अर्थ–व्यवस्था संतुलित होगी, वही राष्ट्र विकास के मार्ग पर अग्रसर मिलेगा। अतः सन्तुलित अर्थव्यवस्था राष्ट्रीय जीवन का प्रमुख आधार होती है। व्यक्ति के जीवन के समस्त क्रिया–व्यापारों को क्रियान्वयन करना समुचित अर्थ–व्यवस्था द्वारा ही सम्भव है।"[7] इसलिए वही राष्ट्र प्रगतिशील एवं आर्थिक रूप से सुदृढ़ होगा जो अपनी आर्थिक योजना को सुदृढ़ तरीके से लागू करेगा। जिस प्रकार किसी समाज में किसी व्यक्ति के स्थान का निर्णय उसकी आर्थिक स्थिति से किया जाता है, उसी प्रकार अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में किसी राष्ट्र की स्थिति उसके आर्थिक विकास पर निर्भर करती है। अर्थ सम्पन्न राष्ट्र से अपेक्षा की जाती है कि वह अपने व्यक्ति को केन्द्र में रखकर उसके लिए खुशहाली का रास्ता प्रशस्त करे। "जब तक देश में गरीब जनता को भरपेट भोजन, शरीर ढ़कने के लिए वस्त्र और आवास के लिए मकान नहीं मिलता, तब तक उनके जीवन में आशा और उल्लास की आशा करना निरर्थक है।"[8]

उपेन्द्रनाथ अश्क का जन्म से लेकर रचनाकाल तक का समय 1910 से 1940 के बीच ठहरता है। इस समय भारत पर अंग्रेजों का राज्य था। अंग्रेज सुदूर विदेश से भारत में व्यापार करने के उद्देश्य से आये थे। उनका लक्ष्य भारत से धन कमाना था। उनकी इस धारणा से भारत की आर्थिक व्यवस्था निरन्तर कमजोर होती चली गई। अंग्रेजों की आर्थिक नीति के सन्दर्भ में डॉ॰ बालकृष्ण गुप्त का मत है– "उसने अपनी शोषण प्रवृत्ति निरन्तर स्थिर रखी, क्योंकि भारत को जर्जर बनाना और सदैव के लिए पंगु कर उसका शोषण करना उनका परम लक्ष्य था।"[9] अंग्रेजों

---

7. डॉ॰ केशव देव शर्मा, आधुनिक हिन्दी उपन्यास और वर्ग-संघर्ष, पृ॰ 153
8. वही, पृ॰ 153
9. डॉ॰ बालकृष्ण गुप्त, हिन्दी उपन्यास : सामाजिक सन्दर्भ, पृ॰ 41

के आगमन ने सर्वप्रथम भारत के उद्योगधन्धों को प्रभावित किया। उन्होंने हमारे उद्योगधन्धों, करघों व चरखों को पूरी तरह तबाह कर डाला। जिससे सामान्य जन–जीवन प्रभावित हुआ। लोग भूख एवं बेरोजगारी से तंग आ गए, जिसका लाभ अंग्रेजी सरकार ने उठाया। उन्होंने इन मजदूरों को अपनी मिलों में काम करने के लिए सस्ते में रख लिया। वे उनसे ज्यादा काम लेते और कम पैसे देते थे। दूसरे विश्वयुद्धों के कारण भारतीय जन एवं धन की काफी हानि हुई थी, जिसका सीधा प्रभाव साधारण भारतीय नागरिक पर पड़ा। इस युद्ध से भारत से खाने की सामग्री व अन्य जरूरी सामान भेजा गया था। इसकी मात्रा इतनी अधिक थी कि भारत में इन चीजों का एक तरह से अकाल सा पड़ गया था। अकाल आर्थिक व्यवस्था को डगमगाने वाला एक अन्य कारण था। प्राकृतिक आपदा आए दिन भयंकर रूप में उपस्थित होती और जान–माल की भारी क्षति करती। इसके साथ–साथ अंग्रेज सरकार द्वारा टैक्स, लगान एवं विभिन्न अन्य करों ने तो भारतीय अर्थव्यवस्था की कमर ही तोड़ दी थी।

इस भारतीय दुर्बल अर्थव्यवस्था के विभिन्न गम्भीर परिणाम निकले। मिल–मालिक और मजदूर, जमींदार और किसान की स्थिति शोषक और शोषित की हो गई। मिल मालिक मजदूरों का और जमींदार किसानों का शोषण करने लगे। उत्पादन के साधनों पर शोषक वर्ग का नियन्त्रण जितना बढ़ता गया, भारत की स्थिति उतनी ही खोखली होती चली गई। अंग्रेजों की आर्थिक नीति का सबसे ज्यादा जबरदस्त प्रभाव भारत की प्राचीन ग्रामीण–व्यवस्था पर पड़ा और उसकी आत्मनिर्भरता विश्रृंखलित होने लगी। आर्थिक अव्यवस्था के परिणामस्वरूप ग्रामीण लोगों को शहर में नौकरी करने के लिए आना पड़ा और नागरीकरण में वृद्धि हुई। इस प्रकार आर्थिक अव्यवस्था के कारण दो–तीन मुख्य बातें स्पष्ट रूप से खुलकर सामने आयीं। (1) आर्थिक अव्यवस्था के कारण एक नए मध्य वर्ग का जन्म हुआ, (2) ग्रामीण सभ्यता कमजोर हुई और उसके स्थान पर नगरीकरण में वृद्धि हुई। (3) पूंजीपति और जमींदार क्रमशः श्रमिक वर्ग और किसानों का शोषण करने लगे।

समाज में इन तीन मुख्य कारणों से काफी परिवर्तन हुआ, जिससे समाज के पुरातन ढाँचे को बदल कर रख दिया। अब समाज में नई–नई समस्याओं ने जन्म लिया। डॉ॰ केशव देव शर्मा के अनुसार– "उद्योगपति, पूंजीपति, धनवान गरीब जनता का शोषण मनमाने ढंग से करने के लिए स्वतन्त्र हैं। फलतः आज श्रमिक, किसान एवं मध्यवर्ग का जीवन स्तर पतनोन्मुख होता जा रहा है। इसकी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि ज़हाँ भय, संत्रास, कुण्ठा, बेरोजगारी, श्रमिक मजदूर किसान वर्ग में हैं, वहीं मध्यवर्ग अर्थात् शिक्षित वर्ग में भी शिक्षित बेकारी, गुण्डागर्दी, आतंकवादी गतिविधियाँ आर्थिक व्यवस्था की मुख्य समस्या बन गई है।"[10] उपेन्द्रनाथ अश्क का रचना संसार भी इस आर्थिक व्यवस्था से प्रभावित है। उन्होंने अपने उपन्यासों में आर्थिक अव्यवस्था के दुष्परिणामों को चित्रित किया है। उनका साहित्य अपने परिवेश का एक दस्तावेज है। अश्क के उपन्यास मूलतः मध्यवर्ग और निम्नवर्ग की सत्य कथा है। 'गिरती दीवारें' मध्यवर्ग की ही कथा है। उसके सम्बन्ध में बच्चन सिंह का कथन है– "'गिरती दीवारें' निम्न–मध्यवर्ग के उन अनेक परिवेशों का चित्र उपस्थित करता है, जिसकी रूढ़ियों, वैषम्य और शोषण के कारण इस वर्ग को अपने आदर्शों, आशा और आकांक्षाओं तथा सुनहले सपनों को दफना देना पड़ता है। वह अपनी लाचारी और विवशता में सिसकता हुआ सारी सामाजिक व्यवस्था को उच्छिन्न करने का संकेत करता है, केवल संकेत करता है क्योंकि स्वयं अपनी स्वर्गीय मनोवृत्तियों में बन्धे रहने के कारण उसे बदलने में सक्रिय योग नहीं दे सकता।"[11] इसके अतिरिक्त 'शहर में घूमता आईना' 'बाँधों न नाव इस ठाँव' का नायक चेतन मध्यवर्गीय जीवन को चित्रित करता है, वहीं 'पत्थर अल पत्थर' में तथा 'एक नन्हीं किन्दील' में निम्न–वर्ग का चित्रण हुआ है।

---

10. डॉ॰ केशवदेव शर्मा, आधुनिक हिन्दी उपन्यास और वर्ग-संघर्ष, पृ॰ 159
11. डॉ॰ बच्चन सिंह, आलोचना पत्रिका-13 (उपन्यास विशेषांक) अक्तूबर 1945, पृ॰ 127

० सांस्कृतिक स्थिति

किसी भी देश, जाति, समुदाय का रहन–सहन, खान–पान, आचार–विचार, जीवन–स्तर, धार्मिक मान्यताएँ, सामाजिक मान्यताएँ, उसकी जीवन–शैली, भाषा, बोली आदि सभी संस्कृति में निहित होती हैं। संस्कृति मनुष्य के क्रमिक विकास का दस्तावेज होती है। मनुष्य इन सांस्कृतिक परम्पराओं में अपना जीवनयापन करता है। डॉ॰ कृष्णा अवस्थी के अनुसार, "संस्कृति मनुष्य को मानवता की ओर प्रेरित करने वाले आदर्शों, आचार–विचारों और कार्यों, अनुष्ठानों की समष्टि का नाम है।"[12] डॉ॰ केशव देव शर्मा के अनुसार, "संस्कृति मनुष्य एवं उसके पर्यावरण के मध्य तक एक अन्तवर्ती धारणा है जो आदिकाल से येन–केन–प्रकारेण इनसे सम्बद्ध रखती चली आ रही है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मानव समाज में आदिमकाल से ही प्रचलित रीति–रिवाजों, परम्परागत मान्यताओं एवं आचार–विचारों का नाम ही संस्कृति है।"[13]

अतः संस्कृति का सम्बन्ध समाज के साथ है और समाज का व्यक्ति के साथ अटूट सम्बन्ध है। इसलिए समाज के बिना संस्कृति जीवित नहीं रह सकती और न ही संस्कृति के बिना समाज। इसके विपरीत यदि कोई समाज अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं को भूलने की कोशिश करता है तो वह समाज स्वयमेव विशृंखलित हो जाता है। संस्कृति के निष्कर्षात्मक स्वरूप के विषय में डॉ॰ रामसजन पाण्डेय का अभिमत है कि "संस्कृति मानव के गतानुगतिक संस्कारों का वह सुफल रूप है, जिससे उसके सामाजिक आचार–विचार, पर्व–त्योहार, रहनी–करनी, रीति–रिवाज, नीति–धर्म, अध्यात्म–कला आदि की प्रतीति होती है। संस्कृति मानव की एक तरफ तो विधायिका है, दूसरी तरफ परिचायिका भी। समुन्नत और सौन्दर्यमयी संस्कृति समुन्नत, स्वस्थ

---

12. डॉ॰ कृष्णा अवस्थी, वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ॰17
13. डॉ॰ केशव देव शर्मा, आधुनिक हिन्दी उपन्यास और वर्ग-संघर्ष, पृ॰ 239

एवं सुन्दर समाज की सर्जना करती है।"[14]

भारतीय संस्कृति प्राचीनकाल से ही अपनी परम्पराओं को अपने अन्दर में आत्मसात् किए हुए हैं। ईश्वरवादिता, आत्मा के अस्तित्व में विश्वास, कर्मफल, जन्मान्त स्वाद आदि भारतीय संस्कृति के प्राणतत्त्व हैं। हमारा देश विचारों और रीति–रिवाजों का एक महान् अजायबघर है। सैंकड़ों–सदियों के रहन–सहन, रीति–बर्ताव और मान्यताओं को आज भी आत्मसात् किए हुए है। विदेशी आक्रमणों ने आदिकाल से ही हमारी संस्कृति को प्रभावित करने की कोशिश की है। भारत पर अंग्रेजी साम्राज्य का अधिकार होने से हमारी प्राचीन मान्यताओं एवं परम्पराओं को काफी ठेस पहुँची। अंग्रेजों और मुसलमानों ने भारतीय संस्कृति को नष्ट करने का भरपूर प्रयास किया। अंग्रेजी रहन–सहन, शिक्षा का प्रभाव और औद्योगीकरण तथा आर्थिकरण के कारण समाज़ के नए मूल्य बनते गए। भारतीय प्राचीन मूल्य यथा– दया, करुणा, परोपकार, गौरव, मानवता, प्यार–प्रेम, सहिष्णुता, आदर, सत्कार, कर्मनिष्ठा आदि मूल्यों का ह्रास हुआ। परन्तु भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए उतरे महान् सपूतों राजा राम मोहनराय, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रानाडे, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि ने नवीन मान्यताओं और मूल्यों को आत्मसात् करते हुए प्राचीन जीवन मूल्यों को बनाए रखने में काफी योगदान दिया। इन नेताओं ने भारतीय सामाजिक जीवन का पुनरुद्धार किया तथा पश्चिमी रीतियों का अनुकरण करके नए सांस्कृतिक मूल्य एवं आदर्शों की प्रतिष्ठा की। इनके प्रयासों से मानवतावादी विचारधारा को बल मिला, धार्मिक बन्धन शिथिल हुए, सामाजिक रूढ़ियाँ टूटीं। इस प्रकार इन्होंने मानवतावादी विचारधारा को भारतीय जीवन–दर्शन का प्रमुख अंग बना दिया। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में– "मैं ऐसे धर्म तथा ईश्वर पर विश्वास नहीं करता जो विधवा के आँसू न पोंछ सके तथा अनाथ के लिए रोटी का टुकड़ा न दे सके।

---

14. डॉ॰ रामसजन पाण्डेय, भक्तिकालीन हिन्दी निर्गुण काव्य का सांस्कृतिक अनुशीलन, पृ॰ 12

सामान्य जनता की उपेक्षा राष्ट्रीय अपराध है तथा यही हमारे पतन का कारण है।"[15]

उपन्यासकार अश्क भी सांस्कृतिक परिस्थितियों से प्रभावित है। उन्होंने अपने उपन्यासों में संस्कृति तत्त्व को स्वर प्रदान किया है तथा प्राचीन मूल्यों को यथेष्ट वाणी दी है। उपन्यास 'गिरती दीवारें', 'शहर में घूमता आईना', 'बान्धों न नाव इस ठाँव' में धार्मिक रूढ़िवादिता का चित्रण तत्कालीन सांस्कृतिक परिस्थितियों का प्रभाव है।

उपेन्द्रनाथ अश्क पर समकालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सभी परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा है जिनके आलोक में उन्होंने अपने विशाल साहित्य का निर्माण किया है, इसलिए उनके उपन्यासों में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक चेतना में प्रत्येक पहलू का स्पष्ट रूप से प्रभाव दिखाई देता है।

(ख) उपेन्द्रनाथ अश्क का जीवन और व्यक्तित्व

अश्क का जीवन परिचय इस प्रकार द्रष्टव्य है–

○ **जन्म** – उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का जन्म 14 दिसम्बर 1910 को जालन्धर के कल्लोवानी मुहल्ले के निवासी माधोराम जी के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम श्रीमती बसन्ती देवी था। माता बसन्ती देवी सहज, सरल, कोमलहृदया, मातृत्व से भरपूर, धर्मपरायण और पतिव्रता नारी थी। माता–पिता से अश्क जी को अपार स्नेह मिला, उसी स्नेह की कोमल छाया में जीवन की विविध समस्याओं का सामना करते रहे और जीवन में आगे बढ़ते रहे। 'अश्क' जी ने माता के प्यार और स्नेह से एल॰ एल॰ बी॰ की शिक्षा ग्रहण की। माता का स्नेह केवल 'अश्क' तक ही सीमित नहीं था वरन् अन्य भाइयों के लिए भी प्रेरणास्रोत था। अपनी माता के विषय में अश्क जी कहते हैं– "मेरी माँ अत्यन्त धम–भीरू कर्त्तव्यपरायण तथा पतिव्रता स्त्री थी। इसमें

---

15. मंजुलता सिंह, हिन्दी उपन्यासों में मध्यवर्ग, पृ॰ 49

कोई सन्देह नहीं कि यदि वे न होतीं तो पिता जी कहीं जेल में होते और हम छह के छह भाई अनपढ़, अशिक्षित, पान–बीड़ी या सोडा–वाटर बेचते अथवा कोई छोटा–मोटा व्यापार करते।"[16]

अश्क के पिता एक स्टेशन मास्टर थे। वे स्वभाव से तेज, मनमौजी, बेपरवाह और क्रूर व्यक्तित्व सम्पन्न थे। वे पेशे से स्टेशन मास्टर जरूर थे, परन्तु स्वभाव से वे किसी गुण्डे से कम नहीं थे। उनका यह उग्र स्वभाव बचपन में ही दिखाई पड़ता था। माधोराम जी स्कूल के दिनों में 'गुण्डों के रिंग लीडर'[17] थे। सदैव आवारा विद्यार्थियों के सम्पर्क में रहना और आवारागर्दी करना उनका कर्मक्षेत्र था। इसी आवारागर्दी के चलते वे दसवीं की परीक्षा में फेल हो गए। उनका यह अवारा व्यक्तित्व स्कूल तक सीमित नहीं रहा वरन् आजीवन उनके जीवन में अभिन्न रूप से जुड़ा रहा। अपने पिता के इस आवारा व्यक्तित्व के विषय में स्वयं 'अश्क' जी ने कहा है– "मेरे पिता अपनी तरह के अकेले आदमी थे। स्टेशन मास्टर थे। लड़कपन में ही पीने लगे थे। पीते ही न थे, जुआ भी खेलते थे और दासियों पर रुपया उड़ाते थे। बात के धनी और दरियादिल ! घर कैसे चलता है और छह बेटे कैसे पलते हैं इसका भार बीवी पर छोड़े, हर तरफ की चिन्ता–फिक्र से मुक्त, मौज उड़ाते थे।"

'अश्क' जी का गोत्र भारद्वाज था और वे सारस्वत ब्राह्मण थे। 'अश्क' जी आठ भाई–बहिन थे। इनमें एक पुत्री और सात पुत्र। परन्तु पुत्री एवं ज्येष्ठ पुत्र बचपन ही में स्वर्ग सिधार गए, अपने छह भाइयों में 'अश्क' दूसरे नम्बर पर थे। उनका बचपन का नाम इन्द्रनारायण था, परन्तु यह नाम पिता जी को पसन्द नहीं था, अतः उनका उपेन्द्रनाथ दूसरा नामकरण किया गया। उपेन्द्रनाथ जी प्रारम्भ में अपने

---

16. डॉ० पी० जे० शिवकुमार, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के नाटक, पृ० 22

17. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', कहानी के इर्द-गिर्द, पृ० 133

नाम के पीछे 'शनावर' लगाते थे। 'शनावर' का अर्थ है – तैराक। 'अश्क' जी बचपन में कवि कश्मीरीलाल 'अश्क' को लड़कपन का हीरो मानते थे। उनके प्रतिभाशाली व्यक्तित्व ने इनको इतना प्रभावित किया कि वे उसे अपने जीवन का आदर्श मानने लगे। इसी कारण कश्मीरी लाल जी की मृत्यु के बाद उनके उपनाम शब्द 'अश्क' को अपने नाम के पीछे जोड़ने लगे। कश्मीरी लाल जी के सन्दर्भ में 'अश्क' जी कहते हैं– "कश्मीरी लाल 'अश्क' मेरे लड़कपन के हीरो थे . . . मैं उनके जीवन–दर्शन का कायल था। उनके देहान्त पर बड़ा दुःख हुआ और उनकी याद को कायम रखने के लिए मैंने अपना उपनाम बदलकर 'अश्क' रख लिया।"

'अश्क' जी का जीवन सदैव दुखों एवं कष्टों में व्यतीत हुआ। सत्य तो यह है कि अश्क का बचपन घोर गरीबी, अभाव और कलहपूर्ण वातावरण की कहानी है। किताबों और फीस के लिए उन्हें तिल–तिल घुटना पड़ा। दुकानदारों से दोस्ती बनाई, ताकि वे उसे किताबें पढ़ने के लिए दे दें। वे दुकान के पिछवाड़े में बैठकर नंगे बदन पुस्तकें पढ़ते रहते थे। आर्थिक अभाव इतना अत्यधिक था कि दसवीं कक्षा तक उन्हें नंगे पैर स्कूल चलकर जाना पड़ा, दूसरी तरफ जिसका पिता शराबी एवं आवारा हो उसकी सन्तान का जीवन कैसा होगा ? इससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता। इसी दुखद एवं अभावपूर्ण जिन्दगी के कारण इन्होंने न बचपन में बचपन का सुख देखा और न युवावस्था में जवानी की मौजमस्ती।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के जीवन पर माता–पिता के प्रभाव की अमिट छाप है। उन्होंने अपने भाइयों को अपने पिता की बुराइयों को नजर अन्दाज करके लगातार अच्छे कार्यों और गुणों को ग्रहण क़रने की शिक्षा दी। साथ ही, दुःख, तकलीफ और विपदाओं को हँसते–हँसते स्वीकार करके लेकर साहस, इच्छाशक्ति ओर दृढ़ निश्चय के साथ उनका मुकाबला करना सिखाया। उन्हें सभ्य व्यक्तियों की तरह रहने की प्रेरणा दी तथा समाज में रहने–सहने, बोलने–चालने, उठने–बैठने के तौर तरीके सिखलाए। दूसरी तरफ पिता ने भी जिन्दगी जीने के लिए उन्हें अमूल्य सूत्र प्रदान

किए। पिता जी सदैव बुलन्दियों को छूने की बात करते थे। बीच के व्यक्ति का उनकी नजर में कोई महत्त्व नहीं था। इसलिए पिता जी कहते थे– "शिक्षा प्राप्त करो, विद्वान बनो।. . . मीडियाकार को कोई नहीं पूछता, इसलिए किसी कसब, किसी व्यवसाय में कमाल हासिल करो, गुण्डे बनो तो शहर के सबसे बड़े गुण्डे बनो, शायर बनो तो टैगोर और शेक्सपीयर।"[18] इस प्रकार उनके व्यक्तित्व और शील पर माता–पिता का गहरा और अमिट प्रभाव है, जिसे उन्होंने बार–बार स्वीकार किया है। "आज जब मैं पचास वर्ष का होने को आया हूँ तो पाता हूँ कि मैं जो कुछ बना हूँ, पिता के उपदेशों के कारण ही बना हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि मेरे जन्म पर चाहे उन्हें खुशी न हुई थी पर आज वे जिन्दा होते तो वे देखते कि उनकी शिक्षा बेकार नहीं गई और उन्हें जरूर खुशी होती।"[19]

o **शिक्षा** – उपेन्द्रनाथ 'अश्क' जी की प्रारम्भिक शिक्षा किसी बड़े स्कूल में नहीं हुई। उन्होंने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा अपने घर पर माता–पिता से ही ग्रहण की। इनके पिता रेलवे विभाग में स्टेशन मास्टर थे, इसलिए उनके आए दिन तबादले होते रहते थे। इसी कारण परिवार अव्यवस्थित था, जिसके चलते वे ज्यादा दिन एक स्थान पर नहीं टिक पाते थे। वे पिता जी के साथ आठ वर्ष तक पंजाब के बुगाना, हिसार, सैला–खुर्द आदि स्टेशनों पर घूमते रहे। इसके पश्चात् पिताजी के रिलीविंग में आ जाने के कारण कोयटा चले गए। इसी कारण माँ पिता जी के साथ न जा सकी और उन्हें बच्चों सहित जालन्धर में रुकना पड़ा। यहाँ रहकर माता ने उन्हें स्थायी शिक्षा प्रदान करने के लिए स्कूल में दाखिल करने की सोची। 'अश्क' जी प्रारम्भ से ही कुशाग्र बुद्धि थे। इनकी कुशाग्रता का परिचय उस समय मिलता है जब वे आयु में पाँच वर्ष के थे, तो इन्होंने संस्कृत के बीस श्लोकों और अंग्रेजी के वाक्य रूपों को

---

18. कपिल देव राय, साहित्यकार 'अश्क', पृ० 20
19. डॉ० पी० जे० शिवकुमार, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के नाटक, पृ० 23

कण्ठस्थ कर लिया था। इसी कुशाग्र बुद्धि के कारण स्कूली प्रशासन ने उन्हें पहली कक्षा में दाखिल करने की बजाय तीसरी कक्षा में दाखिला दे दिया। इस प्रकार 1919 में अश्क जी की औपचारिक शिक्षा का प्रारम्भ हुआ, जिसमें उन्होंने बड़ी लगन से 1921 में प्राइमरी शिक्षा पूरी की।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' जी पढ़ाई के विषय में सचेत थे। उनकी सदैव लिखने में रुचि थी। अपनी मेहनत और लगन के बल पर 1927 में हाई स्कूल की परीक्षा को द्वितीय श्रेणी में पास कर लिया। यह स्कूल दसवीं कक्षा तक ही था, इसलिए आगे की शिक्षा जारी रखने के लिए उन्होंने अन्यत्र कॉलेज की खोज की। इसी बीच उनका प्रवेश 1927 ई॰ में जालन्धर के डी॰ ए॰ वी॰ कॉलेज में हो गया। इसी कॉलेज से उन्होंने 1929 में इण्टर की परीक्षा पास की। परीक्षाफल जब आया तो मालूम हुआ कि वे द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हो गए हैं। द्वितीय श्रेणी प्राप्त करने पर उन्हें बड़ी खुशी हुई और इसी से उन्हें आगे पढ़ते रहने की प्रेरणा और नए उत्साह का संचार हुआ। इसी उत्साह से उन्होंने 1931 ई॰ में बी॰ ए॰ की परीक्षा उत्तीर्ण की, परन्तु अबकी बार वे द्वितीय के स्थान पर तृतीय श्रेणी में पास हुए। उनकी तृतीय श्रेणी आने का कारण उनका कम पढ़ना नहीं है, वरन् घर की आर्थिक विपन्नता है जिसके कारण वे समय पर पुस्तकें भी नहीं खरीद पाते थे।

'अश्क' जी अपनी शिक्षा में कोई व्यवधान नहीं चाहते थे। वे अपनी पढ़ाई को अविरल जारी रखना चाहते थे, परन्तु आर्थिक विपन्नता ने उनके सभी सपनों को अधूरा छोड़ने पर मजबूर कर दिया। जहाँ वह शिक्षा लेने की सोच रहा था, वहीं पेट की आग शान्त करने के लिए उन्हें शिक्षा देने का कार्य प्रारम्भ करना पड़ा। 'अश्क' जी ने शिक्षा देने का प्रारम्भ एक प्राइवेट स्कूल से किया। इन्होंने सही मायने में 1931 ई॰ में अपनी पढ़ाई छोड़ दी थी, परन्तु उनके जीवन की एक विशेष घटना ने उन्हें पढ़ाई करने के लिए एक बार फिर अवसर दिया। 1932 ई॰ में 'अश्क' जी की शीला देवी के साथ शादी हो गई। इसी बीच 'अश्क' जी के श्वसुर पागल हो गए। अतः

उनकी सास किसी सेठ के यहाँ नौकरी करने लगी। 'अश्क' जी को यह सहन नहीं हुआ। वे उसकी नौकरी छुड़ाने के लिए सेठ के घर पहुँचे तो उन्हें बराबर का आदर सत्कार दिया गया। इस व्यवहार को देखकर उसे कुछ सन्तुष्टि हुई। अपने स्वाभिमान और संस्कारों के कारण वे अपनी बेटी के घर का अन्न तक ग्रहण नहीं करती थी। इसी बीच गाँव का एक लड़का डिप्टी मजिस्ट्रेट हुआ था। वह अपने आपको किसी बड़े आदमी से कम नहीं समझता था और इसी कारण वह गाँव वालों को सदैव घृणात्मक दृष्टि से देखने लगा था। इसी के चलते एक दिन उसने 'अश्क' जी का अपमान कर दिया, जिसे वे सहन न कर सके। दूसरी ओर उसकी सगाई उसी घर में हो गई, जहाँ पर उसकी सास नौकरी करती थी। इस प्रकार अपनी पत्नी को सम्मान दिलाने के लिए और अपने अपमान का बदला चुकाने के लिए उन्होंने सब जज बनने की ठानी। इसके लिए उसके पास न तो ठीक से रहने के लिए मकान था, न ही पढ़ने लिखने की किताबों के लिए पैसे और न ही दाखिले के लिए फीस। परन्तु मन में दृढ़ निश्चय, स्वाभिमानी– व्यक्तित्व, कुछ करने की होड़ ने रास्ते के सभी काँटों और पत्थरों को फूल बना दिया। उन्होंने लॉ कॉलेज में प्रवेश ले लिया। 'अश्क' जी ने कानून की प्रथम और द्वितीय परीक्षा को बड़ी आसानी से पास कर लिया, परन्तु जब वे कानून की अन्तिम परीक्षा की तैयारी कर रहे थे, तो उन्हें सूचना मिली कि पत्नी को तपेदिक की बीमारी हो गई है। "इसकी सूचना मिलते ही तुरन्त उन्होंने पत्नी को सैनेटोरियम अस्पताल में भर्ती करा दिया। 'अश्क' जी इसी दौरान प्राइवेट ट्यूशनें करते रहे, एक साप्ताहिक अखबार के लिए कहानियाँ लिखते रहे, हफ्ते में दो बार तपती धूप में साइकिल पर आठ मील चलकर पत्नी को हस्पताल में देखने जाते और साथ ही इम्तहानों की तैयारी करते रहे।"[20] सन् 1936 में अपने सतत परिश्रम, लगन एवं मेहनत के बल पर उन्होंने प्रथम श्रेणी में कानून की शिक्षा

---

20. सुरेन्द्रपाल, अश्क : जीवन साहित्य, पृ० 288

पास की। परन्तु जिस के लिए यह कानून पास किया था, वे उसकी प्रतीक्षा किए बिना ही, उन्हें मझधार में छोड़कर चली गईं। शीलादेवी की मृत्यु के बाद 'अश्क' जी के सभी ख्वाब चकनाचूर हो गए और 'सब जज' के लिए सभी प्रयास बीच में ही बन्द कर दिए। उन्होंने सभी किताबों को बेच दिया और कचहरी जाना भी बन्द कर दिया। इस प्रकार वे अन्ततः स्वतन्त्र साहित्य की रचना करने में लीन हो गए। इस स्वतन्त्र साहित्य के माध्यम से इन्होंने अपनी दिवंगत पत्नी को सच्ची श्रद्धांजलि भेंट की।

o **विवाह** – उपेन्द्रनाथ 'अश्क' जी का विवाह 22 वर्ष की आयु में सन् 1932 में एक भोली–भाली, अशिक्षित, ग्रामीण परिवेश की लड़की शीला देवी के सम्पन्न हुआ। शादी से पूर्व वे शादी को एक बोझ स्वीकार करते थे, परन्तु इसके साथ ही पत्नी के महत्त्व को भी स्वीकार करते थे। जीवन के सारभूत तत्त्वों को समझने एवं समझाने में पत्नी का बड़ा सहयोग रहता है। सही लेखक तभी बन सकता है, जब वह पत्नी के साहचर्य में कुछ पल बिता ले। "मेरा यह निश्चित मत है कि लेखक चाहे दस औरतों के साथ रहे, वह जब तक घर नहीं बसाता और पत्नी नाम की स्त्री के साथ नहीं रहता और बच्चे पैदा नहीं करता, वह जिन्दगी की कुछ गहनतम अनुभूतियों से एकदम वंचित रह जाता है।"[21] शीलादेवी का आकर्षक व्यक्तित्व, पतिपरायण नारी का स्वरूप सदैव 'अश्क' जी को अपनी ओर आकृष्ट करता था। वह अपने पति से बेहद प्यार करती थी और अश्क भी उसे जी जान से चाहने लगे थे। इन दोनों के प्यार के प्रतीक के रूप में शीला देवी ने 1934 में उमेश नामक पहली सन्तान को जन्म दिया। उमेश का जन्म उसके भाग्य को लील गया। वह जन्म देते ही क्षयरोग से पीड़ित हो गई। बीमारी दिन–प्रतिदिन बढ़ती गई। आर्थिक तंगी और परीक्षा की तैयारी के बावजूद अश्क जी ने अपनी पत्नी की जी–जान से सेवा की। उसके बिस्तर बिछाता, उसकी दवा–दारू करता, इस समय उसकी सेवा करना ही अपना परम धर्म

---

21. अश्क : कुछ दूसरों के लिए, पृ० 129

मानने लगे थे। दूसरे किसी भाई अथवा रिश्तेदार का उसे सहयोग नहीं मिला, क्योंकि वे सभी इस बीमारी को छूत की बीमारी समझकर सदैव उससे दूर रहते थे, परन्तु 'अश्क' जी ने इन सब बातों की उपेक्षा कर उसकी सेवा की।

शीला देवी जी 'अश्क' की प्रेरणा–स्रोत थीं। उसी के कारण ही इन्होंने अधूरी छोड़ी हुई पढ़ाई को फिर से शुरु किया और कानून पास किया। इसके आगे वे सब जज बनने की भविष्य की योजनाओं में लीन थे, परन्तु दुर्भाग्य उस पर हावी था। ईश्वर ने 'अश्क' जी के प्रेरणा–स्रोत को जबरदस्ती उससे छीन लिया। अब जिन्दगी के सारे उद्देश्य, शक्ति और सम्पन्नता के सारे सपने मौत की उस भयावहता के आगे निहायत लचर, पोच और बेमारी लगते थे। इन स्वप्नों के बिखर जाने पर 'अश्क' जी की जिन्दगी ही बिखर गई और उन्होंने कम्पीटिशन को बीच में ही नहीं छोड़ दिया बल्कि सभी कम्पीटिशन की किताबें तक बेच डाली। इस प्रकार 'अश्क' जी जीवन से इतने हताश हो गए कि कई बार आत्महत्या करने तक की सोचने को मजबूर हो गए। उनका अपनी पत्नी से इतना अधिक प्रेम था कि शीला की मृत्यु के पाँच वर्ष बाद तक भी उन्होंने दूसरी शादी के लिए नहीं सोचा परन्तु समाज और परिवार वालों के दबाव के सामने अन्ततः झुकना पड़ा।

o **दूसरा विवाह** – फरवरी 1941 में 'अश्क' जी ने माया नाम की लड़की से दूसरी शादी कर ली।[22] वह अहंभाव से युक्त, संकुचित व्यक्तित्व सम्पन्न और पति को बन्धन में बाँधने वाली मूर्ख स्त्री थी। 'अश्क' जी का दूसरा विवाह भी असफल रहा, क्योंकि माया का स्वभाव लड़ना–झगड़ना था। उसके विषय में 'अश्क' का कहना है– "अपनी पहली पत्नी के बाद वैसी मूर्ख और लड़ाकी औरत के साथ रहना असम्भव था। उसकी जिन्दगी का एक स्पष्ट उद्देश्य बन चुका था। उसके साथ रहने का मतलब पाँच–सात वर्षों में उतने ही बच्चे पैदा करना, लड़ना–झगड़ना और उसे

---

22. अश्क : संक्षिप्त जीवन परिचय, पृ० 12

पीटना, जलना–भुनना और साहित्य को नमस्कार कह देना।"[23] 'अश्क' जी साहित्य के पुजारी थे, उनके लिए अपने जीवन के इन सिद्धान्तों एवं कर्मों से समझौता करना असम्भव था। उन्होंने प्रारम्भ में उसे लाख समझाने का प्रयत्न किया, परन्तु वह उनकी बातों की तरफ कोई ध्यान नहीं देती थी। 'अश्क' जी अपनी दूसरी शादी को अपने जीवन की सबसे बड़ी भूल मानते थे। उन्हें दूसरी शादी से जो आघात एवं पीड़ा हुई, उसे वे आजीवन नहीं भूले। उस समय की स्थिति इतनी भयावह हो गई थी कि 'अश्क' जी मरने और मारने तक की सोचने लगे थे। "समझ लो कि मेरी पत्नी के चरित्र को कोई खामी नहीं थी। इस पर भी मैं उसके साथ रहता तो कभी क्रोध में उसका गला घोंट देता अथवा आत्महत्या कर लेता। एक रात दो–ढाई बजे बेहद परेशान होकर मैं अपने वैद्य भाई की दवाइयों में जहर ढूँढता रहा।"[24]

'अश्क' जी की पत्नी माया ने 19 दिसम्बर 1941 में एक पुत्री को जन्म दिया, परन्तु इस पुत्री के जन्म से पूर्व ही 'अश्क' जी ने उन्हें तलाक दे दिया था। उन्होंने माया को तलाक देकर उन गलतियों पर रोक लगा दी जो भविष्य में घटित होने वाली थी। यदि वे ऐसा न करते तो भविष्य में न जाने कितने बच्चों की जिन्दगी परेशान करती। 'अश्क' जी अपना जीवन साहित्य को समर्पित कर चुके थे और यह विवाह इस समर्पण में सबसे बड़ी बाधा थी, इसलिए विवाह–विच्छेद करके उन्होंने अपनी समपर्णता को बनाए रखा। इस विच्छेद के सम्बन्ध में उन्हें कतई अफसोस नहीं है। "आज चौथी सदी बीत जाने पर भी मुझे इस कृत्य पर कभी खेद नहीं हुआ और गुस्सा मेरा वैसा ही बरकरार है।"[25]

माया देवी का चेहरा तो कुरूप था ही और साथ ही उसका अन्तर्मन भी

---

23. अश्क, कहानी के इर्द-गिर्द, पृ० 97
24. वही, पृ० 96
25. वही, पृ० 96

कुरूप था। 'अश्क' जी ने उसे अपने अनुसार ढालने को कहा परन्तु वह अपने को 'अश्क' के अनुसार ढाल न सकी। 'अश्क' जी ने उन्हें बहुत समझाया और वह एक सर्जक कलाकार के भावों को न समझ सकी। लेकिन यदि वह समझ जाती और थोड़ा सा सहयोग देती तो 'अश्क' जी कभी इस मार्ग को न अपनाते। अन्ततः 'अश्क' जी ने उसे छोड़ देना उचित समझा।

○ **तीसरा विवाह** – 'अश्क' जी का तीसरा विवाह 12 सितम्बर, 1941 को कौशल्या जी के साथ हुआ था। कौशल्या जी रूपवती स्त्री तो थी ही, साथ ही समझदार एवं संभ्रान्त परिवार की लड़की थी। उसका परिचय 'अश्क' जी की दूसरी शादी से पूर्व ही हो गया था। दोनों एक–दूसरे को चाहते थे। दोनों आपस में प्यार भरे पत्रों का व्यवहार भी करते थे। 'अश्क' जी माया देवी के विवाह से पूर्व ही उससे शादी करना चाहते थे, परन्तु उसके भाई ने उसकी कहीं और शादी की बात पक्की कर दी थी, इसलिए 'अश्क' ने कौशल्या के स्थान पर माया देवी से विवाह कर लिया था। माया देवी के विवाह में कौशल्या भी शामिल हुई थी और उसने अपने मन में निश्चय किया था कि अब वह 'अश्क' जी से कभी नहीं मिलेगी, परन्तु भाग्य को यह मंजूर नहीं था। उन दोनों के बीच थोड़े दिन की दूरी थी, वह जल्दी ही खत्म हो गई। इस प्रकार एक बार फिर कौशल्या और 'अश्क' का मिलन हुआ और यह मिलन अबकी बार जीवनभर तक बना रहा।[26]

कौशल्या देवी सुशिक्षित, अनुभवी, समझदार और उच्च विचारों से ओत–प्रोत थी। वह एक पतिपरायण नारी थी और पति की सेवा करना ही अपना परम धर्म मानती थी। वह त्याग की देवी अपने आप का विनष्ट करके, अपनी इच्छाओं और आकांक्षाओं का दमन करके 'अश्क' जी को आगे बढ़ते देखना चाहती थी। 'अश्क' जी ने जिस सामाजिक, आर्थिक और साहित्यिक उच्चता को प्राप्त किया, उसकी नींव में

---

26. अश्क : एक रगीन व्यक्तितत्व, पृ० 290

कौशल्या जी की आकांक्षा, उसकी इच्छाएँ दफन थीं। वह 'अश्क' जी के साहित्य की प्रेरणा थी, उसके अभाव में वह एक शब्द भी नही लिख पाते थे। 'अश्क' जी कौशल्या के विषय में विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं– "मैं जब उपन्यास लिखने या दूसरे बड़े प्रोग्रामों की सोचता हूँ तो तुम्हारे ही बल पर। क्योंकि तुम्हारे बिना मैं जानता हूँ, मैं बेहद कमजोर आदमी हूँ . . . मैं यह जानता हूँ कि मेरे साथ एक हाथ जरूर है। और यह हाथ तेरा है मेरी जान, और यदि चाहती हो कि मैं उपन्यास लिखूँ, तो वह हाथ मेरे हाथ पर रहना चाहिए मजबूती के साथ।"[27]

इस प्रकार 'अश्क' जी का कौशल्या के साथ तीसरा विवाह सफल रहा। दोनों आजीवन एक साथ चले। दोनों ने एक दूसरे की इच्छाओं का ध्यान रखा। परन्तु इस कार्य में कौशल्या अग्रणी रही। श्रीमती कौशल्या के विषय में अब्बास ने लिखा है-- "कौशल्या (जिसे लोग कौशल्या 'अश्क' भी कहते हैं, भाभी भी कहते हैं, बहन जी भी कहते हैं) जो 'अश्क' की पत्नी है, मित्र है, संगिनी है। सलाहकार है, नर्स है, डॉक्टर है, मैनेजर है, प्रकाशक है – कहूँ कि उसकी दासी है, उसकी मालिक है, वह स्वयं भी बहुत अच्छा लिख सकती थी, लेकिन उसने अपने साहित्यिक शोक को अपने पति की महत्त्वकांक्षाओं के लिए होम कर दिया। 'अश्क' ने उपन्यास, कहानियाँ, नाटक सजे; कौशल्या ने 'अश्क' की जिन्दगी सजी। 'अश्क' निरन्तर अपनी रचनाओं की नोक–पलक दुरुस्त करते हैं। लोग कहते हैं कि 'अश्क' युसुफ है और कौशल्या जुलेखां है, 'अश्क' मजनू है ओर कौशल्या लैला, लेकिन सच्ची बात यह है कि वह सावित्री है, जो अपने सत्यवान को यमराज के चंगुल से छुड़ा लायी है।"[28]

जीवन-यापन – 'अश्क' जी जीवन संघर्ष का पर्याय है। भाग्य ने उनके जीवन में संघर्ष बाँध दिया था। उनका जन्म एक निम्नमध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। मध्यम

---

27. शिव कुमार, उपेन्द्रनाथ अश्क के नाटक, पृ० 28

28. वही, पृ० 27

वर्ग में जन्म लेने वाला प्रत्येक व्यक्ति संघर्षशील होता है, परन्तु 'अश्क' जी के पिता शराबी और आवारा किस्म के इन्सान थे तथा साथ ही उन्होंनें अपने मन में कुछ इच्छाएँ पाल रखी थीं और स्वाभिमान पिता से प्राप्त कर लिया था; ये सभी कारण उसे संघर्षशील बनाते रहे। प्रत्येक मध्यवर्गीय, स्वप्नजीवी, स्वाभिमानी व्यक्ति की यही नियति होती है जो 'अश्क' जी के साथ भी घटित हुई। "अश्क' जी छुटपन में ही अध्यापक बनने, लेखक और सम्पादक बनने, वक्ता और वकील बनने, एक्टर और डायरेक्टर बनने और थियेटर अथवा फिल्म में जाने के सपने देखा करते थे।"[29]

'अश्क' जी ने नौकरी से पूर्व भी संघर्षशील जीवन व्यतीत किया है। आर्थिक कमी के कारण फीस व किताबों के लिए संघर्ष किया तो दूसरी तरफ पुस्तक विक्रेताओं के पिछले आंगन में बैठकर नंगे बदन, उनसे उधार मांग कर पुस्तक पढ़ना तथा नंगे पैर तीन–चार किलोमीटर पैदल चलकर स्कूल जाना, उसके संघर्ष की ही कहानी है। उनके संघर्ष की कहानी यहीं पर खत्म नहीं हो जाती वरन् यह तो संघर्ष की शुरुआत थी। उनके बी॰ ए॰ करने के बाद ही उन्हें अपने ही कॉलेज में नौकरी करनी पड़ी। परन्तु अध्यापकीय जीवन का दायरा संकीर्ण होता है और वे इस दायरे में अपनी इच्छाओं और योजनाओं को कोई कार्यरूप नहीं दे पा रहे थे, इसलिए उन्होंने छः महीने के अन्तराल में ही नौकरी से त्याग–पत्र दे दिया। इसके उपरान्त उनका सम्पर्क उर्दू के प्रसिद्ध कवि श्री मेलाराम 'वफा' के साथ हुआ, उन्होंने 'अश्क' जी की प्रतिभा को पहचाना, साथ ही उसकी मजबूरियों को जाना। मेलाराम जी उन्हें अपने साथ लाहौर ले गए, जहाँ पर इन्हें उर्दू के दैनिक पत्र 'भीष्म' में नौकरी मिल गई। वहाँ पर इन्होंने 25 महीने तक नौकरी की। यहाँ पर रहकर इनका विभिन्न लोगों से मिलना–जुलना हुआ, जिससे इनका दायरा विकसित हुआ। इसी समय इनका सुप्रसिद्ध कथाकार श्री सुदर्शन से परिचय हुआ तथा उनकी पत्रिका 'चन्दन' में अपनी

---

29. सम्पा॰ कौशल्या अश्क, नाटककार अश्क, पृ॰ 487

कुछ कहानियों का प्रकाशन किया, जिन्होंने इन्हें लाला लाजपत राय के दैनिक 'वन्दे मातरम्' में नौकरी लगवाने में सहायता प्रदान की। इस पत्र में इनका कार्य कथा लेखन का था। इस पत्र में इन्हें 14 से 18 घण्टे तक नौकरी करनी पड़ती थी, पत्र का काम ही इतना अधिक था कि इन्हें अपने साहित्य सर्जन के लिए समय निकालना कठिन हो गया। इसी बीच इनका सम्पर्क लाहौर के एक प्रसिद्ध वैद्य के साथ हो गया। अतः जून 1933 में वैद्यराज जी के साथ शिमला चले गए, जहाँ पर इन्होंने वैद्य के अनुसार 'हिदायतनामें' की रचना की। वहाँ पर वैद्य की चालाकी को इन्होंने जल्दी ही भाँप लिया, अतः उन्हें छोड़कर वापिस आ गए। यहाँ आकर इन्होंने 'वन्देमातरम्' से भी त्याग–पत्र दे दिया। "फिर 'वीर भारत' की रात की शिफ्ट में (केवल छः घण्टे के लिए) नियुक्ति। फिर उसे छोड़ कर 'भूचाल' नाम से शुरु होने वाले एक नये साप्ताहिक के सम्पादक पद पर नियुक्ति, किन्तु मतभेद होने के कारण एक ही महीने बाद त्याग–पत्र।"[30] 1930 में 'प्रीतलड़ी' के हिन्दी उर्दू संस्करणों के सम्पादक के रूप में नियुक्ति हुई। यहाँ पर वे आश्वस्त थे, परन्तु दुर्भाग्य को उन्हें यहाँ रहना भी पसन्द नहीं था। इसी बीच उनकी दूसरी शादी और उससे तलाक ने उन्हें मानसिक आघात पहुँचाया। इस मानसिक आघात के चलते उन्होंने इस पद से भी त्याग–पत्र दे दिया। एक बार पुनः नौकरी करने की इच्छा हुई तो उन्हें दिल्ली के 'आल इण्डिया रेडियो' में हिन्दी सहायक के रूप में नियुक्ति मिली। इस नियुक्ति में उन्हें उर्दू के प्रसिद्ध कथाकार कृष्णचन्द्र ने सहयोग प्रदान किया। स्वाभिमान से जीवन जीना 'अश्क' जी की फितरत थी। लेखकों के शोषण को वे सहन नहीं कर सके, जिसके कारण उनकी रेडियो स्टेशन के अधिकारियों से कहा–सुनी हुई। अपनी जिद्द पर अडिग रहे और लेखकों के पक्ष में बोलते रहे। मित्र साथियों और अन्य लोगों ने 'अश्क' और अधिकारियों के बीच के विवाद को दूर करने की कोशिश की, परन्तु उन्होंने अपने

---

30. कौशल्या अश्क, अश्क : एक रंगीन व्यक्तित्व, पृ० 197

स्वाभिमान के कारण नौकरी से त्याग–पत्र दे दिया। "मैं इतना जानता हूँ कि यदि सोच विचारकर अथवा ताव रखकर मैंने कोई नौकरी नहीं छोड़ी, वह पत्र की हो, रेडियो की या फिल्म की तो फिर मैं उधर नहीं पलटा . . . और न मैंने . . . पुराने मालिकों की खुशामद की। अपने लिए मैंने हमेशा नया मार्ग बनाया, अपने अहं की मैंने हमेशा रक्षा की और बिना झिझक या भय के जो मन में आया लिखा।"[31]

सन् 1945 में 'अश्क' जी ने फिल्मी जगत् में पदार्पण किया। यूँ तो फिल्मी जगत् में जाने का उनका शौक कॉलेज के जमाने से ही था, परन्तु उनका यह स्वप्न 1945 में 35 वर्ष की आयु में पूर्ण हुआ। इसकी पूर्णता के पीछे भी उनका शौक कम ओर मजबूरी ज्यादा थी। रेडियो स्टेशन की नौकरी उसके परिवार की इच्छाओं को पूरा करने में असमर्थ थी, क्योंकि पत्नी कौशल्या ने अपने मन में बड़ी–बड़ी इच्छाएँ पाल रखी थीं अैर कौशल्या जी का रहन स्तर 'अश्क' जी के स्तर से काफी ऊँचा एवं भिन्न था। इसलिए पत्नी की इच्छाओं को पूरा करने के लिए पैसा कमाने के उद्देश्य से फिल्मी दुनिया में नौकरी की। 'अश्क' जी वहाँ पर एक संवाद लेखक की हैसियत से प्रविष्ट हुए थे, परन्तु वहाँ पर जाकर कहानी, गीत, अभिनय आदि अनेक प्रतिभाओं का परिचय दिया। उनकी इन विशिष्ट उपलब्धियों ने उन्हें काफी शोहरत एवं दौलत प्रदान की। परन्तु इस कार्य को उनकी आत्मा स्वीकार नहीं कर सकी। फिल्मी कर्म के सन्दर्भ में उनके विचार हैं– "फिल्मों के लिए संवाद लिखते हुए मुझे यही लगता था कि मैं वेश्यावृत्ति से जी रहा हूँ। वेश्याएँ यदि शरीर का व्यापार करती हैं तो ऐसा लेखक अपनी प्रतिभा का।"[32] स्वाभिमान और जिल्लत जिन्दगी के दो अलग–अलग तत्त्व हैं। दोनों में एक साथ मेल असम्भव है। 'अश्क' जी का स्वाभिमानी व्यक्तित्व प्रभावी था, जिसके प्रभाव के कारण उन्होंने नौकरी से त्याग–पत्र दे दिया।

---

31. कपिलदेव राय, उपेन्द्रनाथ अश्क का उपन्यासकार रूप, पृ० 29

32. वही, पृ० 29

इसी समय दुर्भाग्य ने उन्हें आ घेरा और वे यक्ष्मा रोग से पीड़ित हो गए। फिल्मों से जो पैसा उन्होंने कमाया था, वह सारा का सारा अपनी बीमारी पर खर्च कर गए। परन्तु उस ईश्वर में विश्वास रखना जरूरी है। वही लेने वाला है तो वही देने वाला भी। उनके दुःख की आँधी के समय अकस्मात् उत्तरप्रदेश सरकार ने उन्हें 5000/– रुपये का अनुदान दिया, जिससे उन्हें काफी सहायता मिली। इसके बाद इन्होंने हिन्दी के लिए लिखना प्रारम्भ किया और इतना लिखा कि जल्दी ही हिन्दी के महान् लेखकों में उसकी गिनती शुरु हो गई।

सन् 1949 में कौशल्या जी ने 'नीलाभ प्रकाशन' का प्रारम्भ किया। इस प्रकाशन के लिए उन्होंने उत्तरप्रदेश सरकार से ब्याज पर ऋण लिया। इस प्रकार 'अश्क' जी अपने ही प्रकाशन की किताबों एवं पत्रिकाओं का अपने नेतृत्व में प्रकाशन करने लगे। वैसे प्रकाशक का कार्य उन्होंने पहले भी किया था, परन्तु अब उनकी ख्याति एक सफल प्रकाशक के रूप में स्थायी हो गई। प्रकाशन की प्रारम्भिक अवस्था में उन्हें काफी मेहनत करनी पड़ी। क्योंकि उनकी प्रतियोगिता में अनेक प्रकाशक पैर जमाये बैठे थे। इसलिए पति–पत्नी दोनों ने अपने प्रकाशन के प्रचार–प्रसार के लिए स्वयं पुस्तकें, किताब–घरों पर पहुँचानी पड़ती थीं। उनकी इस अवस्था पर एक बार प्रकाशक ने व्यंग्य किया तो उन्होंने कहा– "भाई मैं चोरी नहीं करता, किसी तरह का धोखा–धड़ी नहीं करता, आनेस्ट लेबर करता हूँ, इसे मैं शर्म की बात नहीं समझता। यह तो कहिए, मेरी पत्नी ने प्रकाशन का काम शुरु कर रखा है, नहीं तो यह काम मुझे आता है, इसलिए आवश्यकता पड़ती है तो लेखक होते हुए भी, हो सकता है मैं आप ही के यहाँ ऐजन्टी करता।"[33]

'अश्क' जी का प्रकाशन धीरे–धीरे उनकी आय का स्रोत बन गया था, परन्तु ईश्वर को यह मंजूर नहीं था, इसलिए अब उनके लिए यह घाटे का सौदा बन

---

33. डॉ॰ पी॰ जे॰ शिवकुमार, उपेन्द्रनाथ अश्क के नाटक, पृ॰ 31

गया। परिवार का खर्च चलाने में यह कारोबार भी असमर्थ हो गया। अन्ततः घर का खर्च चलाने के लिए उन्होंने परचून की दुकान खोल ली। उन्होंने दुकान को भी प्रकाशन की ही भाँति चलाने के लिए पूरी मेहनत एवं लगन से काम किया। इस प्रकार बेरोक–टोक, अबाग गति से लेखनी चलाने वाला, आर्थिक विपन्नता को चुनौती देने वाला, अडिग आत्म–विश्वास से अपने पथ पर चलने वाला यह व्यक्ति अपने में कितनी शक्ति एवं पौरुष भरे हुए हैं। जीवन की प्रत्येक विडम्बना का उन्होंने खुलकर सामना किया। विडम्बना का सामना करते हुए उन्होंने अपने स्वाभिमान को बनाए रखा। इसके साथ ही श्रम साधना में लीन रहकर अपने को युग–द्रष्टा और महान् साहित्यकार के रूप में प्रतिष्ठित किया।

o **साहित्यिक सम्मान** – साहित्यकार अपने साहित्य सर्जन से किसी पुरस्कार की अपेक्षा नहीं करता वरन् उसका उद्देश्य तो समाज में व्याप्त कुरीतियाँ और भ्रष्टाचार को दूर करके समाज और व्यक्ति को एक नई दिशा प्रदान करना होता है। उपन्यासकार 'अश्क' का भी साहित्य सर्जन के पीछे कोई लोभ, लालच नहीं था। साहित्य सर्जन के पीछे अपना फायदा देखना उन्हें पसन्द नहीं था, यही उन्हें माता के संस्कारों से प्राप्त हुआ था। माता भी यही कहती थी कि पेट भरना तो कुत्ते और कौवे भी जानते हैं और धन वेश्याओं के पास भी होता है। इस प्रकार 'अश्क' का साहित्य सर्जन के पीछे जो उद्देश्य है, वह दूसरों को अपना सुख–दुःख बाँटना है। "मैं साहित्य महज अपने सुख–सन्तोष के लिए सर्जता हूँ, पर मैं जब अपनी रचनाओं को प्रकाशित भी करता हूँ तो यह भी चाहता हूँ कि दूसरे भी सुख–सन्तोष अथवा राह पाये।"[34] सम्मान, लोभ और लालच से दूर रहने पर उनकी प्रकृति पर सन्तों की छाया प्रकट होती है। सन्त भी लोभ–लालच और सम्मान से परे रहते थे, लेकिन फिर भी समय–समय पर उनका साहित्य सम्मान पाता रहा है। केन्द्र तथा राज्य

---

34. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', कहानी के इर्द-गिर्द, पृ० 157

सरकारों ने उनकी प्रतिभा को पहचान कर उन्हें सम्मानित किया है। उनकी पुरस्कृत रचनाएँ इस प्रकार से हैं– 'साहब को जुकाम है, चरवाहे, शहर में घूमता आईना; हिन्दी कहानियाँ और फैशन, सड़कों पर ढले साये, सत्तर श्रेष्ठ कहानियाँ, कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल, पत्थर अल पत्थर, शिकायतें और शिकायतें तथा बड़ी–बड़ी आँखें आदि उल्लेखनीय हैं। उनकी नाटकीय रचनात्मक प्रतिभा को देखकर सन् 1965 में 'संगीत नाटक अकादमी' ने उन्हें सर्वश्रेष्ठ नाटककार की उपाधि से अलंकृत किया। सन् 1972 में उनको 'नेहरू पुरस्कार' से सम्मानित किया गया और रूस जाने का निमन्त्रण मिला।

'अश्क' जी का साहित्य इतना महान् है कि विदेशी भाषा–भाषी भी उनके साहित्य से परिचित होना चाहते थे। इसी क्रम में उनकी अनेक रचनाओं का विभिन्न विदेशी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। जिनमें 'गिरती दीवारें' का संक्षिप्त संस्करण 'चेतन' और उनका नाटक 'अलग–अलग रास्ते' को रूसी भाषा में अनूदित किया गया है। "इसके साथ ही 1952 में उनको 'प्रगतिशील लेखक संघ' के प्रयाग अधिवेशन का स्वागताध्यक्ष बनाया गया और 1961 में 'असम हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के वार्षिक अधिवेशन के अध्यक्ष बनाये गए थे।"[35]

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के व्यक्तित्व की भान्ति उनका कृतित्व भी महान् है। उसके महान् कृतित्व को किसी यश की आवश्यकता नहीं, परन्तु इतना जरूर है कि उनके कृतित्व के समान उन्हें न तो सम्मान ही मिला और न यश ही। ऐसे विशिष्ट व्यक्ति और ऐसे विशिष्ट साहित्यकार का देहावसान काफी संत्रासों के बाद 19 जनवरी, 1995 को ही गया।

o व्यक्तित्व

साहित्यिक कृतियों में कृतिकार का व्यक्तित्व स्वाभाविक रूप से विद्यमान

---

35. कपिलदेव राय, साहित्य अश्क, पृ० 51

रहता है। उपन्यास साहित्य की एक ऐसी विधा है जो समग्र जीवन की व्याख्या करती है। इसलिए उपन्यास में उपन्यासकार का व्यक्तित्व भी स्वयमेव समाहित हो जाता है। उसका यह व्यक्तित्व उसके विभिन्न क्रिया–कलापों, विचारों, प्रतिक्रियाओं, रुचियों और मानसिक प्रवृत्तियों के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। अतः उपन्यासकार अश्क के उपन्यासों का समुचित अध्ययन विश्लेषण और मूल्यांकन करने के लिए उनके व्यक्तित्व पर दृष्टिपात करना अनिवार्य है।

'व्यक्तित्व' का विश्लेषण करने से पूर्व व्यक्तित्व की अर्थ व्याप्ति से परिचित होना भी आवश्यक है। "हिन्दी का व्यक्तित्व शब्द अंग्रेजी के 'पर्सनैलिटी' शब्द का पर्यायवाची है। 'पर्सनैलिटी' से साधारणतया व्यक्ति के बाह्य आकार–प्रकार का अर्थ ग्रहण किया जाता है, क्योंकि 'नर्सनैलिटी' शब्द लैटिन भाषा के जिस 'पर्सोना' शब्द से बना है, उसका प्रयोग अभिनेताओं के द्वारा लगाये जाने वाले चेहरों तथा उनकी वेशभूषा आदि के लिए होता रहा है।"[36] परन्तु आज 'पर्सनैलिटी' शब्द को स्थूल अर्थ में ग्रहण करना एकदम भ्रामक है, क्योंकि इसके अन्दर व्यक्ति के अन्तः और बाह्य दोनों प्रकार के गुण अथवा विशेषताएँ समाविष्ट होती हैं। हिन्दी में 'व्यक्तित्व' का शाब्दिक अर्थ है 'व्यक्ति की विशेषता' अर्थात् व्यक्ति का वह 'गुण–समुच्चय', जो उसे अन्य सामान्य लोगों से पृथक् करता हो। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक रामकृष्ण टण्डन के अनुसार, "व्यक्तित्व किसी व्यक्ति के सम्पूर्ण मानसिक तथा शारीरिक योग्यताओं तथा विशेषताओं का वह समन्वय है, जिसमें दूसरों की अपेक्षा अपनी विशिष्ट भिन्नता होती है।"[37] डॉ॰ रामशकल पाण्डेय ने व्यक्तित्व में निम्नलिखित तत्त्व माने हैं– शारीरिक गठन, रूप, बुद्धि, संवेगात्मकता, चरित्रबल और सामाजिकता।"[38]

---

36. Encyclopaedia of Psychology, edited by Philiplaurence Harriman, P. 455
37. रामकृष्ण टण्डन, मनोविज्ञान के मूलाधार, पृ॰ 226
38. डॉ॰ रामशकल पाण्डेय, सामान्य मनोविज्ञान, पृ॰ 221

एन॰ एल॰ मन की मान्यता है– "व्यक्तित्व सामाजिक स्थितियों की संरचनाओं, व्यवहार के रूपों, रुचियों, मनोवृत्तियों, योग्यताओं, क्षमताओं और पात्रताओं का अनन्य संकलन है।"[39] राबर्ट एस॰ वुडवर्थ के अनुसार– "व्यक्तित्व व्यक्ति के व्यवहार का समग्र गुण है जिसका प्रकाशन व्यक्ति के विचार और व्यवहार की विशिष्ट आदतों, उसकी मनोवृत्तियों और रुचियों, काम करने के उसके तरीके और जीवन के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण में हुआ करता है।"[40]

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि व्यक्तित्व व्यक्ति की समूची विशेषताओं के विरल संगठन का नाम है। व्यक्ति के वे गुण जो उसे अन्य दूसरे व्यक्तियों से भिन्न करते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं– जन्मजात गुण और बाह्य प्रभाववश गुण। जन्मजात गुण अर्थात् मौलिकता व्यक्तित्व में निहित कस्तूरी के समान होती है, जिसकी सुगन्ध व्यक्ति के प्रत्येक क्रियाकलाप में देखी जा सकती है। यही मौलिकता बाहरी प्रभावों, संस्कारों और प्रेरणाओं से टकराकर एक मूर्तिमान जीवन की रचना करती है। अतः व्यक्तित्व का विश्लेषण करने के लिए उपेन्दनाथ अश्क के रहन–सहन, खान–पान, वेशभूषा, आकृति, आचार–व्यवहार, चारित्रिक गुणों और मनोवृत्तियों का अध्ययन आवश्यक है। क्योंकि उनके व्यक्तित्व के दो रूप सामने आते हैं। पहला रूप है साहित्यकार का और दूसरा साधारण मनुष्य का। इनमें से एक उनकी रचनाओं में और दूसरा उनके जीवन में परिलक्षित होता है। इसलिए अश्क को समझने के लिए इन दोनों रूपों को समझना आवश्यक है। अश्क के सन्दर्भ में डॉ॰ भैरवप्रसाद गुप्त का विचार है– "अश्क के व्यक्तित्व को एक–आध संस्मरण में उतार देना मुझे कठिन दिखाई देता है। अपनी सारी रोचकता, नाटकीयता

---

39. एन॰ एल॰ मन, मनोविज्ञान, अनुवादक आत्माराम शाह, पृ॰ 237
40. अनु॰ उमापति राय चन्देल, मनोविज्ञान, राबर्ट एस॰ बुडवर्थ और डोनाल्ड बी॰ माविबस, मनोविज्ञान, पृ॰ 112

और फक्कड़पन, बहुरूपियेपन तथा खुलेपन को लिए हुए भी उनका व्यक्तित्व इतना विषम, इतना गहरा, इतना विरल, इतना गम्भीर तथा इतना ठोस है कि एक दो नहीं, सौ पचास संस्मरणों के बल पर भी उनकी एक काम चलाऊ तस्वीर उतार लेना कठिन है। ठीक ही उनका व्यक्तित्व, उनका कृतित्व, उनका फ्राड, उनकी तिकड़मी चालें, उनकी व्यावसायिकता, उनका प्रचार–प्रसार, मित्र–शत्रुओं द्वारा प्रशंसा तथा कटु आलोचकों ने ऐसी भ्रामक एवं विचित्र–सी स्थिति उत्पन्न कर दी है कि अश्क की एक मुक्कमल तस्वीर खींच लेना या उनके व्यक्तित्व को स्पष्ट सा रूप दे देना सम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो गया हो।" अश्क के व्यक्तित्व की खूबियाँ इस प्रकार से हैं।

o **पहनावा-ओढ़ना** – उपेन्द्रनाथ अश्क जी अपने व्यक्तित्व के अनुकूल ही वेशभूषा धारण करते थे। जिस प्रकार उनका व्यक्तित्व विभिन्न रंगों से सना हुआ था, उसी प्रकार उनकी वेशभूषा भी पल–पल में बदलती दिखाई देती थी, परन्तु उनकी वेशभूषा में बनावटीपन या दिखावापन बिलकुल नहीं था। वे सूट–बूट, अचकन–टोपी, कमीज–सलवार, धोती–कुर्ता, कुर्ता–पायजामा, कभी सिल्क की गान्धी टोपी, कभी सीधी, कभी टेढ़ी आदि पहनते थे। उनके व्यक्तित्व में कबीर की भांति फक्कड़पन था जिसके प्रभाव से घर पर सभी चीजें होते हुए भी वे नंगे बदन रहते थे।

अश्क जी के व्यक्तित्व के विभिन्न आयाम थे। अध्यापक, वकील, लेखक, सम्पादक, अभिनेता आदि उनके जीवन के विभिन्न पहलू रहे हैं। उनका जीवन क्षण–क्षण बदलता रहा, उसी के अनुरूप उनकी वेशभूषा थी, परन्तु किसी विशेष वेशभूषा से उनको कोई लगाव नहीं था। अश्क जी की वेशभूषा के सन्दर्भ में कृष्णचन्द्र ने अपना मत प्रकट किया है– "अश्क के मिजाज में बेकार की साहबीयत और अहंकार नहीं, जो अक्सर साहित्यकारों में पाया जाता है। अक्सर साहित्यकार अपने आपको इस तरह लिये–दिये रहते हैं कि उनकी बातचीत में, चाल–ढाल में, उनके सारे व्यक्तित्व में ऐसी कैफ़ियत रहती है, जिससे यह पता चले मानो सारी

सृष्टि महज इसी साहित्यकार के सहारे चल रही है और यदि यह साहित्यकार, भगवान न करे, सोचना या लिखना बन्द कर देगा तो या तो जमीन की गर्दिश रुक जाएगी या नीला आसमान धड़ाम से जमीन पर गिर पड़ेगा।"[41] अतः अश्क जी की वेशभूषा भी उनकी सादगी ही दिखाती है।

o **खान-पान** – उपेन्द्रनाथ अश्क जी का जीवन जिस प्रकार विभिन्न रंगिनियों से लिप्त है, उनके जीवन में किसी प्रकार का बन्धन नहीं था, उसी प्रकार उनके खान–पान पर भी कोई पाबन्दी नहीं थी। वे स्वभाव के मस्त व्यक्ति कुछ भी खा लें, उसे ही अच्छी प्रकार पचा लेते थे। साधारणतया उनका खाना–पीना सादा एवं सात्विक था, परन्तु कभी–कभी किसी विशेष उत्सव पर वे शराब, बीयर तथा मीट का सेवन भी कर लेते थे। शराब और बीयर का सेवन पीयक्कड़ों की भांति नहीं था वरन् एक–दो पैग लेकर खाना खा लेते थे। वे सुबह डेढ़ कप चाय और दो बिस्कुट लेते थे और नाश्ता नौ बजे लेते थे जिसमें दो तोस, अण्डा और दूध का गिलास। दोपहर का भोजन दो बजे के आसपास होता था, जिसमें तीन पतले फुलके, दाल और सब्जी का सेवन करते थे। रात के भोजन में भी तीन पतले फुलके ही खाते थे। यदा–कदा बीच में भूख लग जाए तो वे चाय या कॉफी के साथ बिस्कुट ले लेते थे।

अश्क जी ने खाने में किसी चीज का परहेज नहीं रखा। मिठाइयाँ, नमकीन, समोसा, पनीर का पकौड़ा आदि का भी स्वाद लेना नहीं भूलते थे। "श्री यश, डॉ॰ इन्द्रनाथ मदान तथा नरुला जी आदि अश्क जी के साथ मेज पर बैठे और मिठाइयों तथा नमकीन समोसों और पनीर–पकौड़ों का स्वाद लेने के साथ–साथ परस्पर हँसी–मजाक का भी आनन्द लेते रहे।"[42] अश्क जी शाम पान लेना कभी नहीं भूले। पान खाने की आदत उन्हें यू॰ पी॰ में रहने के कारण लगी थी।

---

41. सम्पा॰ कौशल्या अश्क, अश्क : एक रंगीन व्यक्तितत्व, पृ॰ 56

42. वही, पृ॰ 272

o **स्वाभिमान-ऋद्धता** – उपेन्द्रनाथ अश्क स्वाभिमानी व्यक्तित्व के स्वामी हैं। वे अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए सदैव तत्पर रहते थे। उनके अन्दर स्वाभिमान के ये गुण बचपन से ही विद्यमान थे, जो उन्हें अपनी माता व पिता से पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिले थे। "अश्क जी का व्यक्तित्व पिता की दबंगई और लड़ाकूपन, महत्त्वाकांक्षा, दुस्साहसी स्वभाव और माँ की विनम्रता, सहनशीलता, अपरम्पार धैर्य, नैतिकता और दृढ़ इच्छा–शक्ति की परस्पर विरोधी अन्तःक्रियाओं से पैदा होने वाली दरारों और जोड़ों की जटिल और बारीक संरचना है।"[43] अश्क की पत्नी शीला की माँ जब सेठ के यहाँ नौकरी करने लगी तो उसका स्वाभिमानी मन इस घटना को स्वीकार नहीं कर सका और उसे नौकरी न करने को कहा दूसरे अपनी पत्नी की स्थिति को बनाए रखने के लिए उसने जज बनने के लिए जी तोड़ मेहनत की। ये उसके स्वाभिमानी व्यक्तित्व के गुण हैं।

स्वाभिमानी व्यक्तित्व के रास्ते काँटो से भरे हुए होते हैं। उसे कदम–कदम पर संघर्ष करना पड़ता है। अश्क जी को भी अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा। उनको फिल्मों में काम करने का अवसर प्राप्त हुआ था। यदि वे चाहते तो फिल्मों में खूब पैसा बटोर सकते थे, परन्तु उनका स्वाभिमानी व्यक्तित्व फिल्मी जिन्दगी को जिल्लत की जिन्दगी मानता था। इसलिए वे फिल्मी जिन्दगी के विषय में लिखते हैं– "फिल्मों के लिए संवाद लिखते हुए मुझे यही लगता है कि मैं वेश्यावृत्ति से जी रहा हूँ। वेश्याएँ यदि शरीर का व्यापार करती हैं तो ऐसा लेखक अपनी प्रतिभा का।"[44] अपने स्वाभिमानी व्यक्तित्व के सन्दर्भ में स्वयं अश्क जी का अभिमत है– "मैं इतना जानता हूँ कि यदि सोच–विचार कर अथवा ताव खाकर मैंने कोई नौकरी नहीं छोड़ी, वह पत्र की हो, रेडियों की या फिल्म की तो

---

43. मीनाक्षी अश्क, उपेन्द्रनाथ अश्क : संक्षिप्त जीवन परिचय, पृ० 6

44. कपिलदेव राय, उपेन्द्रनाथ अश्क का उपन्यासकार रूप, पृ० 29

मैं फिर उधर नहीं पलटा . . . और न मैंने . . . पुराने मालिक की खुशामद की। अपने लिए मैंने हमेशा नया मार्ग बनाया, अपने अहं की मैंने हमेशा रक्षा की और बिना झिझक या भय के जो मन में आया लिखा।"[45]

o **श्रम के प्रति गहरी निष्ठा** – उपेन्द्रनाथ अश्क मेहनती व्यक्तित्व के स्वामी थे। उन्होंने जीवन में किसी भी कार्य से न तो घृणा की और न ही जी चुराया। विपरीत परिस्थितियाँ आ जाने पर उनके कदम लड़खड़ाए नहीं अपितु साहस एवं लगन से उसका सामना किया। उन्होंने आर्थिक संकट आ जाने पर रूमाल बेचे हों अन्य कार्य किया हो, परन्तु मेहनत से जी नहीं चुराया। उन्होंने अपने जीवनयापन हेतु अध्यापक, लेखक, सम्पादक, वक्ता, अनुवादक, संवाद निर्देशक, रेडियो नाटककार, फिल्म अभिनेता, सिनारिस्ट आदि अनेक व्यवसायों को भली प्रकार निभाया। संघर्ष के दिनों में अखबार बेचने तक के कार्य सहर्ष किए। कृष्ण चन्द्र ने उनके मेहनती व्यक्तित्व के सन्दर्भ में लिखा है– "मैंने ऐसा जिद्दी, मुस्तकिल मिजाज, धुन का पक्का साहित्यकार बहुत कम देखा है। अश्क ने जब लिखना शुरु किया, उस वक्त साहित्यकारों के लिए परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं थीं। आज भी नहीं हैं। लेकिन उन दिनों का संघर्ष अत्यधिक तीव्र था। पर अश्क ने परिस्थितियों की परवाह न करते हुए, उन्हीं में से रास्ता निकालते हुए, न नौकरी की, न वकालत और साहित्य को ही अपना पेशा बना लिया।"[46] इस प्रकार उपन्यासकार अश्क मेहनती एवं अपने कर्त्तव्यों के प्रति सचेत रहे हैं। उन्होंने अपने जीवन की बाधाओं को चुनौती के रूप स्वीकार किया है, वे एक साथ उच्चकोटि के ऐसे प्रकाशक भी थे, जो बराबर लिखते रहे, बराबर किताबें छापते भी रहे और उनकी अच्छी निकासी का प्रबन्ध भी करते रहे, परन्तु परिश्रम करने से पीछे नहीं हटे।

---

45. कपिल देव राय, उपेन्द्रनाथ अश्क का उपन्यासकार रूप, पृ० 29

46. सम्पा० कौशल्या अश्क, अश्क : एक रंगीन व्यक्तितत्व, पृ० 60

o **गत्वर स्वभाव**– उपेन्द्रनाथ अश्क का व्यक्तित्व गत्वर प्रकृति का था। यह गतिशीलता उनके व्यक्तित्व में इस प्रकार घुल गई थी कि वे उससे वशीभूत से दिखाई जान पड़ते थे। अपनी गतिशील प्रवृत्ति के कारण वे स्वयं को ज्यादा समय के लिए एक स्थान या एक ही मुद्रा में बाँधे नहीं रख सकते थे। कभी साहित्यकार, कभी सम्पादक, कभी वकील, कभी अध्यापक, कभी अनुवादक, कभी निर्देशक; उन्होंने न जाने कितने व्यक्तित्वों की जिन्दगी जी। "चंचल–प्रकृति होने के कारण अश्क जी कहीं भी कुछ समय स्थिर नहीं बैठ सकते। बैठे–बैठे ही कुछ ऐसी हरकतें करने लगेंगे कि अनायास उनकी तरफ ध्यान चला जाएगा। मेज पर बैठे हैं तो टिक–टिक कर रहे हैं, खाने पर बैठे हैं तो कटोरी में दाल खनखना रहे हैं। किसी भी वातावरण में सीटी बजा देना उनके लिए आम बात है।"[47] उनकी बातें करने की शैली, उनकी मुख–मुद्रा, शारीरिक क्रियाकलाप – इन तीनों में सामंजस्य कभी भी नहीं हो पाया। डॉ॰ राजेन्द्र यादव के अनुसार– "सामान्य से सामान्य बात को निहायत मनहूस मुँह बनाकर गम्भीरता प्रदान करने वालों के बीच व्यंग्य और परिहास से मुस्कराते होंठ और आँखों की कुटिल चमक अकारण और अनायास ही कौंध जाती है। x x x गम्भीरता, बुजुर्गी, मनहूसियत, मुर्दनी अश्क जी के जीवन कोश में नहीं है। महत्त्वपूर्ण से महत्त्वपूर्ण बात को वे ऐसी आसानी और लापरवाही से कह डालते हैं कि लगता ही नहीं, वे महत्त्वपूर्ण बात कह रहे हैं। ठहाके लगाते, नकल उतारते, छेड़खानी करते, उन्हें किसी भी पार्टी, गोष्ठी में देखा जा सकता है।"[48] अपनी इस आदत से अश्क भी परेशान थे। उन्होंने यह स्वीकार किया है। "मैं आदत से बड़ा परेशान रहा हूँ। पहले किसी से मिलने जाते समय मैं सदा प्रण लिया करता था कि स्वयं नहीं बोलूँगा और दूसरे को बोलने दूँगा, लेकिन प्रायः ऐसा होता है कि जब मैं वहाँ से वापस आता तो पाता कि बातें अधिक

---

47. कपिलदेव राय, साहित्यकार अश्क, पृ॰ 58

48. सम्पा॰ कौशल्या अश्क, अश्क : एक रंगीन व्यक्तित्व, पृ॰ 64

मैंने ही कीं। तब बड़ा दु:ख होता और कई बार अपनी इस बेतुकी आदत के बारे में सोचते–सोचते मेरी रात की नींद हराम हो जाती।"[49]

○ जड़ता-विरोधी

उपेन्द्रनाथ अश्क जी ऐसी रूढ़िवादी विचारधारा के विरोधी रहे हैं, जो समाज एवं व्यक्ति के विकास में बाधक है। वे इतने भी अधिक आधुनिक नहीं हैं कि प्राचीन परम्पराओं एवं संस्कारों को भूल ही गए हों, परन्तु इतना अवश्य है कि उन्होंने समाज में व्याप्त प्रत्येक कुरीति एवं रूढ़ियों का विरोध किया क्योंकि वे समाज की जड़ों को खोखला कर रही थी। इन कुरीतियों से व्यक्ति अपने सामाजिक आदर्श भूलते जा रहे थे। उन्होंने जाति–पाँति, छुआछात, नारी का शोषण, वर्ण–व्यवस्था, अनमेल विवाह, विधवा–समस्या, दहेज–प्रथा आदि सभी का विरोध किया है। उन्होंने इन समस्याओं का खण्डन अपने उपन्यासों एवं रचनाओं में ही नहीं किया है, वरन् अपने जीवन में भी इन रूढ़ियों का विरोध किया है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण उनका एक विजातीय कन्या से समाज एवं परिवार के कटु विरोधों के बावजूद विवाह करना ही है।

○ हास्य और व्यंग्य मिश्रित व्यक्तित्व – हास्य और व्यंग्य अश्क जी के जीवन का एक अभिन्न अंग है। हँसना–हँसाना उन्हें सदैव प्रिय रहा है। वे जीवन की दुखद घड़ियों एवं कठिन परिस्थितियों में भी मुस्कराते रहे। हास्य जीवन के सन्दर्भ में अश्क जी स्वयं कहते हैं– "हास्य जिन्दगी के लिए कितना जरूरी है, इसे तभी जान सकते हैं, जब हम इसके बिना जिन्दगी की कल्पना करें। कल्पना करें कि हास्य रस हमारे जीवन में से एकदम निकल गया है। हम न मुस्कराते हैं, न हँसते हैं, न ठहाका लगाते हैं, बस चुपचाप अपनी धुन में मस्त, अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं और महत्त्वाकांक्षाओं के पंखों पर उड़े चले जाते हैं। . . . हास्य रस के बिना जीवन उस बड़े से हाल सा

---

49. सम्पा० कौशल्या अश्क, पदमसिंह शर्मा कमलेश, अश्क : एक रंगीन व्यक्तितत्व, पृ० 221

है, जिसमें खूब रोशनी हो और ऐश–आराम के सारे सामान हों, सब कुछ हो, पर हवा न हो।"[50] हँसना और हँसाना अंश्क जी के जीवन के अभिन्न अंग हैं। जीवन उलझनों से भरा रहा, परन्तु अश्क जी घबराए नहीं वरन् उसे हँसते–हँसते पार कर गए। ख्वाजा अहमद अब्बास के अनुसार– "काम करता ही रहता है, लिखता ही रहता है, हँसता ही रहता है, लिखता ही रहता है, नाम अश्क है और काम हँसना और हँसाना।"[51]

अश्क जी के जीवन में हास्य जितना अधिक है, उतना ही अधिक व्यंग्य भी है। अश्क जी जब जीवन–जगत् परिवेश की विकृति, असंगति, वैषम्य को देखता है तो अनायास ही उसकी व्यंग्य चेतना रूपायित होने लगती है। उनका जीवन विरोधी तत्त्वों का संधिस्थल है। अविराम संघर्ष और निरन्तर विरोध का सामना करने से उनके जीवन में स्वतः व्यंग्य की प्रवृत्ति आ गई। उनके व्यंग्य में किसी प्रकार की बनावट, दिखावा आदि की प्रवृत्ति नहीं है और न ही किसी प्रकार का संकुचित दृष्टिकोण। वे किसी भी बात को बिना किसी लाग–लपेट के कह देते, परन्तु उनके कहने के अन्दाज से दूसरे व्यक्ति को दुःख का अहसास नहीं होने देते। "हास्य और व्यंग्य के अश्क उस्ताद हैं – बिना हास्य–व्यंग्य के अश्क अधूरे हैं। अश्क का व्यंग्य कोई मामूली बौद्धिक अथवा खरोंच पैदा करने वाला नहीं होता, वह बिल्कुल नंगा कर देता है और वही हाल उनके हास्य का है।"[52] हास्य और व्यंग्य के अभाव में अश्क का व्यक्तित्व अधूरा ही लगता है। इस शैली का परिचय उनकी सम्पूर्ण रचनाओं में मिलता है।

o **मानव के प्रति गहरी सम्पृक्ति** – साधारणतः साहित्यकार सामान्य व्यक्ति से इतर

---

50. अश्क, फिल्मी दुनिया की झलकियाँ, भाग-2, पृ० 125
51. सम्पा० कौशल्या अश्क, ख्वाजा अहमद अब्बास, एक रंगीन व्यक्तितत्व, पृ० 109
52. श्री भैरवप्रसाद गुप्त, पत्थर अल पत्थर (भूमिका), पृ० 28

होता है। वह सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा संवेदनशील एवं जागरूक होता है। वह मानव–जीवन में अत्यधिक आस्था एवं विश्वास रखता है। वह मानव–जीवन की भलाई हेतु ही अपने कार्य, अपनी क्षमता का प्रयोग करता है। सामाजिक जीवन दृष्टि, जिसका उद्देश्य है समाज मंगल अथवा समाज कल्याण की भावना। यही समाज कल्याण की भावना उसे एक नई चेतना एवं दृष्टि प्रदान करती है। मानव जीवन के प्रति अश्क जी की आस्था बड़ी बलवती रही है। आज के आधुनिक युग में घृणा, पीड़ा, संत्रास, घुटन, मानवीय जीवन–मूल्यों का ह्रास उन्हें प्रभावित करता रहा। इसलिए ध्वंसक वृत्तियों के स्थान पर प्रेम, विश्वास, आस्था जैसी सद्वृत्तियों को स्थान देते हैं। इसलिए अश्क जी जीवन तथा साहित्य में जाति–पाँति, ऊँच–नीच से ऊपर उठ कर नैतिक मूल्यों को वाणी देते हैं। "मैं हिन्दू हूँ, ब्राह्मण हूँ, निम्न–मध्यवर्गीय परिवेश में मेरे संस्कारों का कुछ न कुछ प्रभाव जरूर होगा। लेकिन रचनाकार के नाते वर्ण, जाति, धर्म में मेरा कोई विश्वास नहीं, मानव–मानव में मुझे अन्तर नहीं लगता।"[53]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि उपेन्द्रनाथ अश्क का युग नाना प्रकार के उतार–चढ़ावों का युग है। इनका जीवन और इनकी रचना परतन्त्र भारत और स्वतन्त्र भारत का साक्षात् दस्तावेज़ है। संघर्षशील युग ने ही उनके संघर्षधर्मी व्यक्तित्व का निर्माण किया था। इस व्यक्तित्व निर्माण में उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि का भी विशेष योगदान रहा है। निस्सन्देह, उपेन्द्रनाथ अश्क विलक्षण प्रतिभा और विलक्षण विवेक के उपन्यासकार हैं।

(ग) उपेन्द्रनाथ अश्क का रचना-कर्म

o रचना के प्रेरणा-स्त्रोत

रचना में रचनाकार का समय और समाज निवास करता है। सहज प्रतिभा

---

53. सम्पा० कौशल्याउ अश्क, साक्षात्कार और विचार, भाग-दो, पृ० 28

व्यक्ति में एक ऐसी रचनात्मक प्रतिभा का विकास करता है, जिसके सहारे वह संसार में अनोखे कर्म करके चमत्कृत कर देता है। निस्सन्देह उपेन्द्रनाथ अश्क के पास भी ऐसी ही प्रतिभा है, जिसके सहारे उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज को अनेक कृतियाँ प्रदान की हैं। अश्क जी को पढ़ने लिखने का शौक बचपन से ही था। "वे ग्यारह वर्ष ही के थे, जब उन्होंने पंजाबी में तुकबन्दियाँ शुरु कर दी थीं। इसके अलावा उन्होंने 'आर्य भजन पुष्पांजलि' की तर्ज पर भजन भी रचे। चौदह वर्ष की आयु में उन्हें दसूआ के एक पंजाबी कवि ने बाकायदा कविता में दीक्षित किया। इस अवसर पर अश्क ने कविता रची, उसमें आदर्श शिष्य के गुण गिनाये गये।"[54] परन्तु उस समय पंजाबी भाषा एवं कविताओं का समाज में कोई विशेष महत्त्व नहीं था। इस भाषा के कवि निम्न मध्यवर्ग से सम्बन्ध रखते थे, इसलिए समाज उनको तथा उनकी रचनाओं को कोई स्थान नहीं देता था। अतः अश्क जी ने भी पंजाबी भाषा से हटकर उर्दू भाषा का दामन थामा। उर्दू भाषा का उन्हें अच्छा ज्ञान था, क्योंकि यह भाषा उन्हें पहली कक्षा में पढ़ाई जाती थी।

साहित्य–सर्जना की ओर आकृष्ट होने का आधार उनका परिवार एवं विशेष रूप से पिता का व्यवहार था। अश्क के पिता का व्यवहार अश्क के प्रति सहानुभूतिपूर्ण नहीं था। "पिता के आतंक की छाया, जिन दिनों वे घर में रहते, निरन्तर सारे घर में मँडराया करती। ऐसी स्थिति में मन शायद सब ओर से हटकर साहित्य सर्जन में सुख पाना चाहता था . . . बड़ी ही छोटी उम्र में मैंने देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास पढ़े, जासूस फ्लैक, शलैक होम्स और आरसीन लोपेन के कारनामे पढ़े और न जाने कितने पढ़ डाले। उन सबको पढ़ते–पढ़ते मुझे लिखने का शौक हो गया।"[55] दूसरी तरफ तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव भी उनके लेखक बनने में

---

54. मीनाक्षी अश्क, उपेन्द्रनाथ अश्क : संक्षिप्त जीवन परिचय, पृ० 5

55. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', ज्यादा अपनी : कम परायी, पृ० 62

सहयोगी हुआ। परिस्थितियाँ भी व्यक्तित्व और कृतित्व को प्रभावित करती हैं। "मैंने बीस वर्षों में व्यष्टि और समष्टि की कतिपय समस्याओं के बारे में जैसे–जैसे मैं सोचता रहा हूँ, अपने इर्द–गिर्द की परिस्थितियों का जो प्रभाव मेरे मन पर पड़ा है, जिन पात्रों ने मेरा ध्यान सर्वाधिक आकर्षित किया है, उनका थोड़ा बहुत प्रतिबिम्ब पाठकों को मेरे इन पाँचों उपन्यासों में दिखाई देगा।"[56]

उपेन्द्रनाथ अश्क को कथाकार बनाने की दिशा में दो व्यक्तियों का सर्वाधिक योगदान रहा है, जिनसे उन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रेरणा प्राप्त करके साहित्य सर्जन की दिशा निर्धारित की, वे हैं उनके बड़े भाई सुरेन्द्रनाथ शर्मा और पहली पत्नी सुशीला। "अश्क जी को कथाकार बनाने में उनके बड़े भाई डॉ॰ सुरेन्द्र नाथ शर्मा का बड़ा हाथ है। आज तो वे सब्जी मण्डी दिल्ली के बहुत बड़े डेण्टिस्ट हैं और लाखों में खेलते हैं, लेकिन तब पढ़ने–लिखने में विशेष रुचि न होने से भैरों बाजार, जालन्धर के महन्तराम बुकसेलर्ज़ से दो पैसे रोजाना पर एक नावल ले आते और दीमक की तरह चाट जाते। उनके पढ़ने के बावजूद कोरे रह जाते, अश्क जी उन्हें पढ़ कर स्वयं लिखने की कोशिश करते।"[57] साहित्य सर्जन की ओर अग्रसर होने में उनकी पहली पत्नी की मृत्यु भी काफी सीमा तक प्रेरणा–स्रोत रही है। वे अपनी पत्नी से अत्यधिक प्रेम करते थे, परन्तु ईश्वर को यह स्वीकार न था और उन्हें असमय ही लील लिया, जिसका सदमा वे बर्दाश्त न कर सके। कपिलदेव राय के अनुसार– "परन्तु साहित्य के क्षेत्र में प्रतिबद्धता के साथ प्रविष्ट होने का मूल कारण, जहाँ तक हमारी समझ में आता है, वह उनकी पहली पत्नी की मृत्यु है। यही वह कारण था, जिसने उनकी अन्तरात्मा को झकझोर दिया था, आँखें खोल दी थीं, मलिनता–खिन्नता एवं आशा– निराशा में झूलते हुए उन्होंने साहित्य का दामन

---

56. डॉ॰ इन्द्रनाथ मदान, उपन्यासकार अश्क, पृ॰ 59 से अवतरित

57. मीनाक्षी अश्क, अश्क : संक्षिप्त जीवन परिचय, पृ॰ 5

पकड़ा, जिसमें उनको सुख मिला, दुःख मिटा, झिलमिलाता भविष्य दीख पड़ा, यही सत्य है, ध्रुव सत्य।"[58] यह सत्य है कि पत्नी की असामयिक मृत्यु से अश्क जी काफी परेशान रहे। इस परेशानी में रहते हुए कुछ समय के लिए स्वयं को सभी कार्यों से दूर कर लिया। जज बनने का ख्वाब छोड़ दिया, पुस्तकों को बेच दिया। अन्ततः संघर्ष ही नए रास्ते का सूत्रपात करता है और वही इनके साथ भी हुआ। उसी पत्नी को अपने साहित्य–सर्जन का माध्यम बनाकर साहित्य की तरफ बढ़े। उसे अपने कल्पना लोक में बसाकर उनको अपना साहित्य लिखकर समर्पित करते रहे। "तुम्हारे चले जाने के बाद एक दिन मैं अचानक कवि बन गया। उस तरुण की तरह, जिसके अन्तर में, रात के धुँधलकों में से उगती हुई सुबह की तरह प्रेम का आलोक अंकुरित हो रहा है, मैं भी कुछ विचित्र सी, अर्द्ध–निद्रित सी, स्वप्लिन सी, नशीली, सरूरभरी सी दुनिया में रहने लगा। . . . तुम्हारी याद लेकर मैंने कई कविताएँ लिखीं। मैं जानता हूँ, मैं कवि नहीं हूँ – कल्पना के संसार में रहने के बदले यथार्थ की दुनिया का वासी हूँ . . . परन्तु इन आठ वर्षों में ऐसा समय भी आया जब मेरी सुधि समुद्र पार उन अनजाने रास्तों में तुम्हारा पीछा करती रही, जहाँ तुम अपनी निराशा के क्षणों में परिणीता बनकर चली गयी।"[59] पत्नी की मृत्यु के गहरे दुःख एवं विषाद में भरे अश्क के उभरने के विषय में राजेन्द्र सिंह बेदी ने लिखा है– "उसने अत्यधिक दुःख, अत्यधिक शोक, बेपनाह थकावट के आलम में अपनी कलम उठाई और साहित्य सर्जन में रत हो गया, क्योंकि यह साहित्य सृजन ही था, जिसमें अपने आपको गर्क कर देने से, वह अपने जीवन की उस महान् दुर्घटना को भूल सकता था।"[60] स्वयं अश्क ने अपने जीवन में आए इस महान् परिवर्तन को स्वीकार किया है।

---

58. कपिलदेव राय, साहित्यकार अश्क,पृ० 38
59. डॉ० इन्द्रनाथ मदान, उपन्यासकार अश्क, पृ० 68–69
60. सम्पा० कौशल्या अश्क, अश्क : एक रंगीन व्यक्तितव, पृ० 35

उसे एक नई दृष्टि और नई चेतना मिली है। "इन दो वर्षों में मैंने ज़िन्दगी को ऐसे नंगे रूप में देखा कि मेरी सारी रोमानियत उड़नछू हो गयी और मुझे वे आँखें मिल गईं, जो प्रकट दिखाई देने वाली हकीकतों के पीछे छिपी हकीकतों को देख सके। मैंने मौत को देखा और नियति का स्पर्श भी पाया और अपने उस घनघोर संघर्ष में नितांत व्यर्थता मेरे सामने मूर्त रूप से उजागर हो गयी, जो मैंने सब–जज बनने के प्रयास में किया था। मैंने दुःख, तकलीफ़, गरीबी, नेताओं की द्वैतवृत्ति, शोषण और अपने परिवेश की विवशता को जाना और मुझे नयी दृष्टि मिल गई, जो पहले मेरे पास नहीं थी।"[61]

उपेन्द्रनाथ अश्क को कथाकार बनाने में पारिवारिक वातावरण एवं स्वयं की इच्छा ही नहीं रही, अपितु कुछ ऐसी घटनाएँ भी हैं जो उसे रचनाकार ही नहीं बनाती, वरन् उस रास्ते पर चलकर उसे रचना करने के लिए, लिए गए निर्णयों को प्रगाढ़ बनाती है। उपेन्द्रनाथ अश्क के साथी रचनाकारों को अश्क जी की प्रसिद्धि फूटी आँख भी नहीं सुहाती थी, जो सदैव उसका विरोध करते रहते थे, परन्तु अश्क जी ने भी उन्हें मन कही मन नीचा दिखाने की ठान रखी थी, इसलिए वे निरन्तर प्रयास करके, अच्छे साहित्य का सर्जन करके, उन्हें जलाने की ताक में रहते थे। इस प्रकार वे निरन्तर सर्जन साहित्य की ओर अग्रसर रहे। साहित्य सर्जन केवल नाममात्र का ही नहीं, वरन् उच्चकोटि का दिया हैं आलोचक उसकी पुस्तक की नहीं, वरन् उसके स्वयं की अच्छाइयों–बुराइयों का अवलोकन करते थे। "लेखक की जिन्दगी में आलोचक उसकी रचना से ज्यादा उसके व्यक्तित्व से आक्रान्त रहता है। लेखक और आलोचक के अहं में सदा टकराहट होती है। लेखक आलोचक को साध ले तो वह उसकी त्रुटियों को नज़र–अंदाज कर देता है, और उसके गुणों का संकेत देता है।"[62]

---

61. मीनाक्षी अश्क, अश्क : संक्षिप्त जीवन परिचय, पृ० 10

62. अश्क, कहानी के इर्द-गिर्द, पृ० 209

दूसरी तरफ साथी लेखकों में परस्पर प्रतिस्पर्द्धा होती है जो किसी दूसरे को ऊँचा उठते हुए नहीं देख सकते हैं, परन्तु अश्क जी ने हिम्मत और साहस से उनका सामना किया। "कुछ ऐसे लेखक हैं, जिसे हर सफल साथी से डाह होती है, जो अपनी ईर्ष्या के वश उन्हें हानि पहुँचाता है। जो आदमी मेरा अहित करता है, अपने जोम में मुझे परेशान करता है, तब मैं भी उसे परेशान करता हूँ। ऐसा कई बार हुआ कि कुछ मित्रों ने गुट बनाकर मेरे खिलाफ मोर्चे लिये।"[63] उनकी इन विरोधी क्रियाओं से अश्क जी हताश नहीं हुए, अपितु ज्यादा मेहनत करके उनसे आगे बढ़ने का प्रयास किया। "हिन्दी के गुटबन्द लेखकों और आलोचकों ने अगर मेरे उपन्यासों को उनका जायज हक नहीं दिया और इनके मुकाबिले में इस या उस उपन्यास को उछालते रहे या मेरे उपन्यास के अस्तित्व को सिरे से नकारते रहे और उपन्यासों की चर्चा करते हुए, इसे एकदम नज़र अन्दाज कर देते रहे तो मुझे बुरा नहीं लगा, उल्टे उन पर दया आयी।"[64]

अश्क को लेखक बनाने में इन व्यक्तियों और परिस्थितियों के अतिरिक्त माता–पिता का प्रभाव रहा है। उसके माता–पिता की इच्छा थी कि वह अच्छा लिखे और महान् व्यक्ति बने। इसलिए वह अपने माता–पिता की सन्तुष्टि के लिए लिखता रहा है। "मैं जब–जब अपने अन्तर्मन में कहीं गहरे में झाँकता हूँ तो पाता हूँ कि शायद मैं केवल अपने उन माता–पिता के लिए लिखता हूँ, जो ब नहीं हैं।"[65] उसकी माता एवं उसके पिता उसके लेखक बनने के प्रेरणा–स्रोत रहे हैं। "एक दिन उसने कहा था, "मैं लिख सकती तो अपने दुःख की कहानी लिखती और मैंने कहा था, "माँ तुम फ़िक्र न करो, मैं लिखूँगा। . . . और मैं लिख रहा हूँ, उसके दुःख की ही नहीं, अपने

---

63. अश्क, कहानी के इर्द-गिर्द, पृ० 123

64. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', बाँधों न नाव इस ठाँव, (भूमिका), पृ० 14

65. अश्क, कहानी के इर्द-गिर्द, पृ० 135

और दूसरों के दुख की भी। और मेरे पिता ने कहा था। बेटे लिखो तो ऐसी चीज़ लिखो, जो किसी दूसरे ने न लिखी हो। हमेशा शिखर तुम्हारा आदर्श रहे।"[66]

उपेन्द्रनाथ अश्क के व्यक्तित्व में एक ऐसा तत्त्व विद्यमान था, जो उसे सदैव प्रेरित करता रहता था और वह था स्वेच्छा। यह निश्चित है कि जब तक कोई व्यक्ति अपनी स्वयं की इच्छा या मन से कार्य नहीं करता, तो वह सफल नहीं हो पाता। अश्क जी ने भी जीवन में अनेक कर्म किए – अध्यापक, वकील, अभिनेता, पत्रकार आदि–आदि, परन्तु अन्ततः उसका मन साहित्य सर्जन में ही लगा। अन्य कार्यों को एक–दो वर्षों में ही ऊब कर छोड़ देता। परन्तु साहित्य का दामन उन्होंने जीवन–भर थामे रखा। "मेरे लिए लिखना जीने सरीखा ही है। लिखता हूँ तो लगता है, जीता हूँ। मैंने कई बार इससे भागने का प्रयास किया है, पर हमेशा मेरे प्रयास असफल रहे हैं। गरीबी हो या अमीरी, बीवी–बच्चे हों या न हों, जब तक दिमाग जैसा कि है रहेगा, मैं लिखता रहूँगा, पागल या अपाहिज हो गया तो बात दूसरी है।"[67] साहित्य लेखन ने आत्म सन्तोष एवं सुख प्रदान किया है। "मैं साहित्य महज अपने सुख सन्तोष के लिए सर्जता हूँ, पर जब मैं अपनी रचनाओं को प्रकाशित भी करता हूँ तो यह भी चाहता हूँ कि दूसरे भी सुख–सन्तोष अथवा राह पायें।"[68]

अन्ततः कह सकते हैं कि अश्क की साहित्यिक प्रेरणा में उनकी आत्म–सन्तुष्टि काफी प्रभावी तत्त्व है, अन्यत्र दूसरे तत्त्व गौण हैं। वास्तव में अश्क जी लेखक हैं और निरन्तर लिखते रहना उनकी नियति है, यहीं उनका अहं सन्तुष्ट होता है, यहीं उनकी प्रकृति रमती है।

o **रचना कर्म** – उपेन्द्रनाथ अश्क यथार्थ जीवनानुभव को लेकर साहित्य सर्जन की

---

66. अश्क, कहानी के इर्द-गिर्द, पृ० 135
67. अश्क, ज्यादी अपनी, कम परायी, पृ० 247
68. अश्क, कहानी के इर्द-गिर्द, पृ० 157

दिशा में अवतरित हुए। वे एक साथ अपने जीवन में कई प्रतिभाओं को आत्मसात् किए हुए हैं। वे कवि, नाटककार, उपन्यासकार, कहानीकार, सम्पादक एवं आलोचक रहे हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में यथार्थवाद का चित्रण किया है। उनमें निम्न मध्यवर्ग का जीवन, रीति, स्वभाव, संस्कार, विचार, पद्धति तथा विभिन्न प्रकार की कुण्ठाओं को परखने की पैनी दृष्टि है। अश्क जी ने जीवन और समाज का सत्य चित्रण करके व्यक्ति के लिए यथार्थवादी मार्ग प्रशस्त किया है। उसकी गुत्थियों एवं उलझनों को पूर्ण व्यापकता एवं विराटता की पृष्ठभूमि पर चित्रित करते हुए उसे निरन्तर संघर्षरत रहने की प्रेरणा दी है।

जीवन और समाज के साथ व्यक्ति की समस्याओं एवं प्रवृत्तियों का जितना यथार्थ चित्रण पूर्ण कलागत ईमानदारी के साथ अश्क जी ने किया है, उतना शायद ही किसी अन्य उपन्यासकार ने किया हो। इसका प्रमाण उनका निजी जीवन है जिसने उनको इतने ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित किया। "आज अपनी सर्वतोन्मुखी प्रतिभा और अपूर्व कलाकारिता के बल पर अश्क जी की गणना भारत के इने–गिने आठ–दस महान् साहित्यकारों में की जाती है। जिसका नाम देश की सीमाओं के पार कर सार्वभौम प्रतिष्ठा का केन्द्र बन चुका है।"[69] अश्क जी का सृजित साहित्य इस प्रकार से है।

o रचना-कर्म का प्रारम्भिक प्रयास

उपेन्द्रनाथ अश्क ने अपने साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ पंजाबी कवि के रूप में किया। सन् 1921 में उनकी आयु मात्र ग्यारह वर्ष थी, तभी से उन्होंने पंजाबी में तुकबन्दियाँ आरम्भ कर दी थीं। 1922 में आर्य भजन पुष्पांजलि के अनुकरण में भजन लिखे। 1924 में उन्होंने दसूआ के एक पंजाबी कवि से औपचारिक दीक्षा ली और पंजाबी की पहली कविता 'की चाहिदै गुरु बनान लगियाँ' लिखकर सर्जक के

---

69. सप्तसिन्धु, जनवरी–फरवरी, 1962, अश्क विशेषांक, हिन्दी विभाग, पंजाब, भूमिका से

रूप में अवतरित हुए। लगभग डेढ़ वर्ष तक पंजाबी कविता लिखने पर होली के अवसर पर एक पंजाबी कवि सम्मेलन में रजत पदक प्राप्त किया। ज्यादा समय तक उनका मन पंजाबी भाषा में न लगा।

अश्क जी ने पंजाबी का दामन सदैव–सदैव के लिए छोड़ उर्दू को स्वीकार क़र लिया था। सन् 1926 में प्रसिद्ध शायर जालन्धर निवासी उस्ताद मुहम्मद अली 'आजर' की शागिर्दी कबूल की। उनके शिष्यत्व में सन् 1926 में 'तूफाने अश्क' पहली पद्य रचना लिखी जिसका प्रकाशन लाहौर के प्रसिद्ध उर्दू दैनिक 'मिलाप' के रविवासरीय अंक में हुआ। इसी समय 1927 में 'याद है वो दिन' पहली उर्दू कहानी लिखी। इस तरह से अश्क जी गज़लें और उर्दू कहानियाँ लिखते रहे, परन्तु गज़लों के स्थान पर उर्दू कहानियाँ उन्होंने अत्यधिक लिखीं। गज़लों और उर्दू कहानियों का दौर लगभग दस वर्ष तक चला। इसके साथ ही उन्होंने कविता लिखनी प्रारम्भ कर दी, परन्तु कविता उर्दू के स्थान पर हिन्दी में लिखी। कविता लिखने की प्रेरणा उन्हें अपनी पत्नी की मृत्यु से मिली। पत्नी की मृत्यु से उनका हृदय शोक, करुणा और वेदना से भर गया था। उनकी यह वेदना कविता के माध्यम से प्रस्फुटित हुई 1936 में उनकी पहली हिन्दी कविता 'विदा' का प्रकाशन हुआ।

० उर्दू में प्रकाशित कहानियाँ एवं गज़लें

1927 में 'याद है वो दिन', 1928 में 'एक विधवा के जज़्बात', 'रिश्ता–ए–उल्फत', 'खामोश शहीद', 'आजाद मुतरिब', 1929 में इतने नजदीक, अहसोस फर्ज, सरदार, बुद्ध मियाँ, सीरत की पुतली उर्फ बावफ़ बीवी, तालिबे अमन। 1930 में पहला उर्दू कहानी संग्रह 'नौ रतन' प्रकाशित हुआ, फूल का अंजाम, मगरूर साहिरा, वह रो रही थी, मुहब्बत, आखिरी मुलाकात आदि। सन् 1931 में बी॰ ए॰ की परीक्षा पास की थी, इसी समय तांगेवाला, औरत की फितरत, मिस्त्री की बीवी, हमारा पहला त्याग–पत्र, लीडर, नरक का चुनाव, सैलाब, शिकस्त, शायर की शिकस्त, शायन का अंजाम, दो पहलू, तारीक दिवाली आदि कहानियों का प्रकाशन

हुआ। सन् 1932 में मुजरिम, कुर्बानगाहे–इश्क, जिस तन लागे, होली, कर्ज की लानत, ऐरोमा, रुतबा और गरूर, चोरी–चोरी, सराब, गिलट, रिफाकत, हवाई किले, जंग के बाद सुलह, कफ़्फ़ारा, आतिशे हसद, बेटी, रोशनी और तारीकी आदि कहानियाँ प्रकाशित हुईं। 1933 में इनका दूसरा कहानी संग्रह 'औरत की फ़ितरत' प्रकाशित हुआ जिसमें 'दूसरी शादी', नज्जिया, निशानियाँ, मुसव्विर की मौत, जवानी का रोमान, राजकुमार, हरबा, जन्नत और जहन्नुम, एप्रिल फूल आदि कहानियाँ प्रकाशित हुईं। सन् 1934 में आर्टिस्ट, चपत, डाँकी, सेक्रेटरी, जिन्दगी, फ़र्ज, वह मेरी मंगेतर थी, सतवन्ती, क्लर्कों का मज़ाक, बदरी, कुन्ती, सलोमी और मनहर, रसपान आदि कहानियाँ लिखी। 1935 में माया, चंचल, हक–ब–हकदार रसीद आदि कहानियों की रचना की तथा1936 में उनकी दोस्ती, माँ, क्या चारा है, तरसौबे गुनाह, आशा–निराशा आदि कहानियों का प्रकाशन हुआ। कहानी लिखने को उन्होंने छोड़ा नहीं वरन् कहानी कला में अब और निखार आ गया था। 1937 में गली का नाम, डाची, ये मर्द, संगदिल, यह इन्सान, तहज़ीब, तार बाबू आदि कहानियाँ लिखी गईं। 1938 में कोंपल, नन्हा गोखरु, मोती, कफ़स, रोब–दाब, ऐनी शाहिद, नहूसत, खुदकुशी आदि कहानियों का प्रकाशन हुआ। उपेन्द्रनाथ अश्क का परिचय 1932 में प्रेमचन्द जी से हो गया था जिनसे वे बहुत प्रभावित हुए। प्रेमचन्द की सलाह पर अश्क जी काफी समय तक लिखते रहे। प्रेमचन्द का असर अश्क जी की जिन्दगी के सबसे निर्णायक प्रभावों में शामिल है। प्रेमचन्द ने अश्क जी के हिन्दी हिज्जों की गलतियाँ सुधारीं, पढ़ने की सामग्री के बारे में राय मशविरा दिया, दुख–सुख बाँटे, सान्त्वना दी और अपने परवर्ती कथाकार को अपने सपनों और आकांक्षाओं में हिस्सेदार बनाया, जिसके प्रभाव से उन्हें एक नई दृष्टि प्राप्त हुई। इस दृष्टि के सन्दर्भ में अश्क जी कहते हैं– "1934 और 1936 के दरम्यान मेरी जिन्दगी में बहुत कुछ ऐसा घटा कि जिसने न केवल अपने जीवन के बारे में मेरा दृष्टिकोण बदल दिया, बल्कि मुझे वह यथार्थवादी दृष्टि भी दी, जिससे मैंने दुनिया को एक नई नजर से देखना सीखा

और पहले से एकदम अलग किस्म की रचनाएँ कीं। . . . संघर्ष तो मेरा कटुतम था, लेकिन वह मुझे खलता नहीं था। मैं उसे पार्ट ऑफ द गेम समझता था और उस तमाम दलदल, कीचड़ और ग़लाज़त में रहते हुए मैं न उसके बारे में लिखता था, न उसके बारे में सोचता था। उस जमाने में मैं कल्पना से अनोखे और अनजाने प्यार की रूमानी कहानियाँ लिखता था; बिना वैयक्तिक अनुभव के क्रान्तिकारियों के किस्से कहता था; आदर्श नारियों, प्रेमियों, नेताओं, कलाकारों को अपनी कहानियों के पात्र बनाता था। मेरी उन कहानियों को वास्तविक जीवन का जरा भी संस्पर्श नहीं मिला था।"[70]

यहाँ पर आकर अश्क की दृष्टि में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। 1939 में 'डाची', कहानी–संग्रह प्रकाशित किया तो 1940 'कोंपल', उर्दू कहानी–संग्रह तथा 'बगूले', पंजाबी कहानी–संग्रह प्रकाशित किया गया। 1942 में 'नासूर', 1943 में 'कफ़स', 1944 में 'पिंजरा', (हिन्दी) तथा 'चट्टान' (उर्दू), 1945 में 'अंकुर' (हिन्दी), 1947 'निशानियाँ' (हिन्दी), 1949 'छींटे' (हिन्दी), दो धारा (हिन्दी), 1951 में 'जुदाई का शाम का गीत' (हिन्दी), 1954 में 'बैंगन का पौधा' (हिन्दी) तथा 'काले साहब' (उर्दू), 1957 में 'लेखिका और जेहलम के सात पुल' (हिन्दी), 1958 में 'सत्तर श्रेष्ठ कहानियाँ' (हिन्दी), 1961 'पलंग' (हिन्दी) कहानी–संग्रह प्रकाशित किया।

उपेन्द्रनाथ अश्क जी प्रारम्भ में उर्दू कहानियाँ लिखते थे, लेकिन प्रेमचन्द के सम्पर्क में आने पर उन्होंने हिन्दी कहानियाँ लिखनी प्रारम्भ कर दीं। प्रारम्भिक कहानियाँ काल्पनिक थीं, परन्तु 'डाची' के बाद ये व्यक्तिगत दुखों से भरी यथार्थवादी कहानियाँ लिखने लगे। उनमें वैचारिक सक्रियता और जीवन–दर्शन या दृष्टि के संकेत भी मिलते हैं। अश्क की कहानियों का मूलाधार मानव का चित्रण है। इन्होंने अपनी कहानियों के माध्यम से सामाजिक बुराइयों की आलोचना, समाज–सुधार और

---

70. मीनाक्षी अश्क, अश्क : संक्षिप्त जीवन परिचय, पृ० 7-8

मानसिक संघर्षों को उभारा है। समाज की रूढ़िवादिता और निम्न मध्यवर्ग की कुण्ठा, शोषण आदि का चित्रण किया है। समाज की विद्रूपता पर व्यंग्य किए हैं। अन्ततः अश्क की कहानियाँ सामाजिक जागरूकता और यथार्थवादी दृष्टि लिए हुए हैं।

o नाट्य रचना

नाटक लिखने की प्रेरणा उन्हें अपनी पत्नी की मृत्यु से मिली, परन्तु इससे भी पहले नाट्य रचना लिखने की इच्छा उनमें बाल्यकाल से थी। बचपन में 'रासलीला' देखते हुए उन्होंने मन ही मन निश्चय किया था कि वे बड़े होकर नाटक लिखेंगे। अश्क की नाट्य रचना की प्रेरणा के पीछे पत्नी का निधन तथा देशी–विदेशी साहित्यकारों का प्रभाव रहा है। "मैंने शुरु में टैगोर के नाटक पढ़े। फिर पहले मैंने पश्चिम के लगभग सभी एकांकीकारों को पढ़ा और बैरी, ओ–नील, इब्सन, स्ट्रिंड बर्ग, पिरेन्देलो, शॉ, प्रीस्टले, मेतरलिंव और चेखव के नाटक पढ़े। शॉ बड़ा विटी है ओर पढ़ने में अच्छा भी लगता है, पर वह कादिचत् मेरी रुचि से मेल नहीं खाता। उसकी अपेक्षा चेखव, ओ नील, प्रीस्टले, मेतरलिंक मुझे सदा नाटक लिखने की प्रेरणा देते रहे हैं। शिल्प मैंने उनसे सीखा है, अनुभूतियाँ अपनी दी हैं।"[71] अन्ततः हम कह सकते हैं कि अश्क की नाट्य लेखन प्रेरणा में स्वेच्छा, पत्नी की मृत्यु एवं देशी–विदेशी नाटककारों का प्रभाव है। उनकी नाट्य रचनाएँ इस प्रकार हैं।

उपेन्द्रनाथ अश्क ने अपनी पहली नाट्यकृति 'जय पराजय', 1937 में प्रकाशित की। यह एक ऐतिहासिक नाटक है। उनका दूसरा नाटक 'स्वर्ग की झलक' 1939 में प्रकाशित हुआ। यह नाटक सामाजिक समस्याओं से ओत–प्रोत है। 1940 में 'छठा बेटा' 1946 में 'अज़ली रास्ते', 1947 में 'कैदे हयात', 1950 'आदि मार्ग', 1952 में 'पैंतरे', 1954 में 'अलग–अलग रास्ते', 1955 में 'अंजो दीदी', 1956 में

---

71. सम्पा० कौशल्या अश्क, श्री द्वारिका प्रसाद, अश्क : एक रंगीन व्यक्तितव, पृ० 109

'अन्धी गली', 1962 में 'भँवर', 1967 में 'बड़े खिलाड़ी', सन् 1972 में 'लौटता हुआ खिलाड़ी'।

उपेन्द्रनाथ अश्क सामाजिक चेतना के नाटककार हैं। उन्होंने यथार्थवादी सामाजिक चेतना को वाणी दी है, जिसका सम्बन्ध राष्ट्रीय प्रगतिशील परम्परा से है। उन्होंने अपने नाटकों में अनेक मध्यवर्गीय पात्रों को वाणी दी है; यथा– डॉक्टर, पत्रकार, कवि, कलर्क, अभिनेता आदि। इन्होंने गरीबों, मजदूरों तथा शोषितों का चित्रण अपनी ही अनुभवों की कसौटी पर परख कर किया है। इसके साथ नारी को विभिन्न रूपों में चित्रित किया है। ये नारी को न दासी देखना चाहते हैं, न देवी और न खिलौना। वे उसे पुरुष के साथ पग में पग मिलाकर चलने वाली संगिनी और सहयोगी मन्त्रिणी के रूप में देखना चाहते हैं। उन्होंने नाटकों में मध्यवर्गीय जीवन में पूंजीवादी प्रभावों से उत्पन्न विश्रृंखलताओं और उच्छृंखलताओं तथा उसे जीवन के अन्तर्विरोध के व्यंग्यात्मक चित्र उपस्थित करने के साथ जीवन के उदात्त मानवीय भावों का चित्र भी प्रस्तुत किया है, जो मानव विकास का आशावादी प्रतीक है।

o **एकांकी** – हिन्दी एकांकी लेखन में उपेन्द्रनाथ अश्क का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नाटक लिखने से पूर्व अश्क जी एकांकी लिखते थे। एकांकी विधा का साहित्य की अन्य विधाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि एकांकी नाटक का पूर्व रूप है। नाटक किसी जीवन की सम्पूर्ण घटनाओं को व्यक्त करता है, परन्तु एकांकी जीवन के एक अंश का पृथक् चित्र उपस्थित करती है। वह जीवन की एक झाँकी मात्र है।

अश्क के एकांकी लेखन में भारतीय तथा पाश्चात्य एकांकीकारों एवं नाटककारों का प्रभाव है, परन्तु यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपनी एकांकियों में किसी पाश्चात्य नाटककारों या एकांकीकारों की किसी रचना की छाया, विचार, वस्तु और भावधारा को नहीं आने दिया, अपितु निरन्तर नए भावबोध और स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर रहे। उन्होंने अपनी एकांकियों का विषय यथार्थता के धरातल पर चुना है। उन्होंने सामाजिक जीवन की अनेक समस्याओं, मध्यवर्गीय पात्रों का चित्रण यथार्थ

रूप में चित्रित किया है।

अश्क जी प्रारम्भ में कहानियाँ लिखते थे, परन्तु 1937 में पहली एकांकी 'बेसवा' प्रकाशित हुई। यह एक सामाजिक एकांकी है और नारी की वेश्यावृत्ति पर आधारित है। 'बेसवा' के साथ ही उनका एकांकी लेखन आरम्भ हो गया। क्रमशः 1938 'लक्ष्मी का स्वागत', 'अधिकार का रक्षक', 1939 में जोंक, आपस का समझौता, पहेली, 1940 में देवताओं की छाया में, एकांकी संग्रह प्रकाशित हुआ। इसमें सात एकांकियों को प्रकाशित किया गया है। इसमें व्यंग्य, प्रहसन और ट्रेजेडी के रूप का प्रयोग हुआ है। सभी एकांकियाँ सामाजिक हैं। 'अधिकार का रक्षक और जोंक' काफी विख्यात एकांकी रही है। इनकी महत्ता इस बात में भी है कि इन्हें आल इण्डिया रेडियो के विभिन्न स्टेशनों से प्रसारित किया गया।

1941 में 'पापी', एकांकी संग्रह प्रकाशित किया गया। जिसकी भाषा उर्दू थी। 1942 में 'चरवाहे' उर्दू में लिखित एकाकी संग्रह प्रकाशित हुआ। ये दोनों संग्रह भी मूलतः सामाजिक ही रहे। 1947 में 'तूफान से पहले' और 1948 में 'चरवाहे' हिन्दी की एकांकी संग्रह प्रकाशित हुए। 1951 में 'पर्दा उठाओ : पर्दा गिराओ' तथा 1959 में 'साहब को जुकाम है', 'पक्का गाना', 1956 में 'अन्धी गली', 'नए रंग' एकांकी–संग्रह प्रकाशित किए गए हैं।

o कविता

उपेन्द्रनाथ अश्क एक साथ उपन्यासकार, नाटककार, एकांकीकार और कहानीकार तथा कवि भी हैं। उनका हिन्दी साहित्य में प्रवेश कवि के रूप में हुआ था। उन्होंने अनेक कविताओं का सृजन भी किया, परन्तु हिन्दी साहित्य में उनकी पहचान गद्यकार के रूप में हो गई। हिन्दी कविता की प्रारंभिक अवस्था के विषय में अश्क जी कहते हैं– "मैं हिन्दी में लिखने लगा था। हिन्दी काव्य के छन्दों का कुछ भी ज्ञान नहीं था, पर यह कठिनाई मेरे मार्ग की बाधा नहीं बनी। मैंने एक कवि मित्र से एक छन्द का पूरा ज्ञान प्राप्त कर लिया और अपने उस मूड की पन्द्रह–बीस

कविताएँ उसी छन्द में लिख डालीं।"[72] कविता लेखन में एकाग्रता और मन की बलवती इच्छा को अश्क ने भी स्वीकार किया है। इसके लिए समय की अत्यधिक आवश्यकता रहती है और दूसरी ओर बलशाली प्रेरणा ही इस कार्य की पूर्णता करने में सहयोग प्रदान करती है। "कविता हमेशा मैंने तब लिखी है, जब मैं कुछ और न कर पाऊँ। प्रेरणा इतनी बलवती हो कि मेरे सब काज धरे के धरे रह जाए या फिर मेरे पास अपार समय हो और मैं मजे से कविता लिख सकूँ।"[73] इस प्रकार जब भी उन्हें समय मिलता तो वे कविता लिखते थे, उनकी काव्य रचनाओं का परिचय इस प्रकार है–

o काव्य रचनाएँ

सन् 1936 में अश्क जी की पहली कविता 'विदा' प्रकाशित हुई। 1937 में 'प्रात–प्रदीप' पहला हिन्दी कविता संग्रह प्रकाशित हुआ। 1941 में ऊर्मियाँ, 1950 में 'दीप जलेगा', 1952 में 'चाँदनी रात और अजगर' (खण्डकाव्य), 1960 'सड़कों पे ढले साये', 1949 में 'बरगद की बेटी' (खण्डकाव्य) 1965 में 'खोया हुआ प्रभामण्डल', 1978 में 'अदृश्य नदी', 1991 'स्वर्ग एक तलधर है', 1995 में उनका आखिरी कविता–संग्रह 'एक दिन आकाश ने कहा' प्रकाशित हुआ।

अश्क के प्रथम कविता–संग्रह में 1937 तक की रचनाएँ संकलित हैं तथा 'ऊर्मियाँ' में 1938 से 1941 तक की स्फुट कविताएँ संकलित हैं। 'दीप जलेगा' 1947 तक की तीन रचनाएँ हैं। 'चाँदनी रात और अजगर' तथा 'बरगद की बेटी' खण्डकाव्य है। सड़कों पे ढले साये में 53 से 60 खोया हुआ प्रभामण्डल में 61 से 65, अदृश्य नदी में 65 से 78 तक, स्वर्ग एक तलधर है, में 1979 से 1991 'एक दिन आकाश ने कहा' में 91 से 95 तक की कविताएँ संकलित है।

---

72. कपिलदेव राय, साहित्यकार अश्क, पृ० 34

73. अश्क, कहानी के इर्द-गिर्द, पृ० 203

अश्क जी की काव्य रचनाएँ निरन्तर प्रकाशित होती रही। उनके काव्य रचना सर्जन में बाधाएँ तो अवश्य आयीं, परन्तु बाधाओं ने उनका मार्ग अवरुद्ध नहीं किया। उनकी काव्य यात्रा ने छायावाद, प्रेम–विवाह, प्रगतिशील विचारधारा, नई कविता आदि अनेक चरणों को पार किया। इन्होंने अपने काव्य में जीवन की अनुभूतियों को यथार्थ, आत्मचिन्तन, जीवन–अनुभव और गहरी अन्तर्दृष्टि देकर सींचा है। इन्होंने व्यक्तिवादी से समष्टिवादी काव्य बना दिया। "अश्क का कवि रूप साधारण छन्दों से शुरु होकर अश्क की कविता–सरि मुक्त छन्द की धारा को अपने में समाती, नयी कविता के प्रयोगधर्मा बीहड़ मार्गों से शक्ति ग्रहण करती हुई, हर युग को अपने पानियों में प्रतिबिम्बित करती, निरन्तर बहती और विस्तार पाती आ रही है। क्योंकि अश्क को समय और युग की पहचान है। इसलिए उनकी काव्य सरिता थोड़ी दूर बह कर किसी बन्द तालाब में नहीं जा समायी, बल्कि हर वातावरण में आगे बढ़ती रही और यह सच है कि प्रगति की इस यात्रा में अश्क की काव्य सरिता को मैदान कम, पहाड़ ही ज्यादा मिले हैं और उन्हें पार करने का सामर्थ्य भी अश्क की काव्यधारा ने दिखादिया।"[74]

० संस्मरण साहित्य

उपेन्द्रनाथ अश्क उपन्यासकार, नाटककार, एकांकीकार, कहानीकार, निबन्धकार के साथ ही संस्मरण लेखक भी हैं। उन्होंने संस्मरण लिखते समय अत्यधिक कल्पना का प्रयोग न करके वास्तविकता को वाणी दी है। उनके संस्मरणों का प्रमुख गुण रोचकता ही नहीं, वरन् जीवन का गहरा संस्पर्श है, दुःख–सुख भरा, कटु, निर्मम लेकिन सहानुभूति से सना हुआ। उन्होंने किसी भावुकता, राग–द्वेष या श्रद्धा से अपने पात्र का चरित्रांकन नहीं किया अपितु सीधी, सच्ची नजरों से देखा, उसका मूल्यांकन किया और उसे वैसा ही चित्रित किया, जैसा वह है। किसी प्रकार

---

74. कपिलदेव राय, साहित्यकार अश्क, भूमिका, पृ० 8

की लाग–पलेट या दिखावा करने की प्रवृत्ति न तो अश्क की थी और न ही संस्मरण लेखन में अनायास ओढ़ने की कोशिश ही की गई। "मैं संस्मरण की खूबी पूर्णतः सच्चाई मानता हूँ। उपन्यास और कहानी में असत्य से काम लिया जा सकता है, कल्पना की लगामें ढीली छोड़ी जा सकती हैं, लेकिन संस्मरण और आत्मकला की शर्त, मेरे निकट, सच्चाई और शत–प्रतिशत सच्चाई है। वरना लेखक कहानी लिखे, आत्मकथा या संस्मरण न लिखे।"[75] अश्क जी सच्चाई और अनुभूति के मिश्रण से संस्मरण लिखे हैं जो अपने आप में अद्वितीय है।

उन्होंने सबसे पहला संस्मरण 1949 में 'अड्डी चुक भूतना', 'कश्मीरीलाल अश्क' लिखा, जिसका प्रकाशन अपने ही प्रकाशन 'नीलाभ प्रकाशन' से किया था। 1953 में 'वेपा के नगर में', 1954 में 'मौसी', 1955 में 'रेखाएँ और रेखाचित्र', 1956 में 'मण्टो मेरा दुश्मन', 1959 में 'ज्यादा अपनी कम परायी', 1964 में 'शिकायतें और शिकायतें' 1965 में 'परतों के आर–पार', 1973 में 'आस्मां और भी हैं', 1979 में 'फिल्मी जीवन की झलकियाँ, (दो खण्डों) में प्रकाशित की गई। 1986 में 'बेदी : मेरा हमदम मेरा दोस्त' पाँच खण्डों में विभाजित किया गया है, जो क्रमशः 1977, 1978, 1980, 1981, 1988 में प्रकाशित किया गया।

उपेन्द्रनाथ अश्क संस्मरण साहित्य की अन्य विधाओं की भान्ति काफी प्रभावशाली बन पड़े। उनके संस्मरण साहित्य में तो अद्वितीय स्थान रखते ही हैं, साथ उन्हें एक नई प्रेरणा प्रदान करते हैं। उनके संस्मरणों को पढ़कर लगता है कि वे न तो उपन्यासकार हैं, न नाटक एवं कहानीकार वरन् एक सफल संस्मरणकार हैं। भीमसेन त्यागी के अनुसार– "अश्क जी हिन्दी के श्रेष्ठतम उपन्यासकार, कहानीकार, नाटककार, कवि, आलोचक, निबन्धकार एवं संस्मरण लेखक हैं। इन सब विधाओं में निरन्तर लिखते रहने के बावजूद वे संस्मरण के क्षेत्र को छोड़कर असाधारण कृति

---

75. डॉ० श्रीमती वीणापाणि, अश्क के उपन्यास : कथ्य और शिल्प, पृ० 38

किसी भी विधा में नहीं दे सके। जहाँ तक संस्मरण लेखन का सवाल है, इस दिशा में अश्क की उपलब्धि निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है। 'मण्टो : मेरा दुश्मन' ऐसी अकेली रचना है जो हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ संस्मरण लेखक का स्थान दिला सकती है।"

o निबन्ध साहित्य

उपेन्द्रनाथ अश्क ने अपने सृजन साहित्य में निबन्धों को भी शामिल किया है। वे उपन्यास, नाटक, कहानी की भांति निबन्ध विधा पर इतना अधिक कार्य नहीं कर सके, परन्तु उन्होंने जो भी निबन्ध लिखे, वे अपने आप में अद्वितीय है। उन्होंनें 1951 में अपना प्रथम निबन्ध 'उर्दू हिन्दी दोस्तों से' तथा 1952 में 'रेखाचित्र तथा प्रगतिशील आन्दोलन' प्रकाशित किए गए। 1958 मेें 'मेरे कहानी लेखन के पैंतीस वर्ष' 1959 में 'ज्यादा अपनी : कम परायी' में संस्मरण तथा निबन्धों को संकलित किया गया है। 1959 में ही 'नाटक और रंगमंच', 1960 में 'नयी कविता : पुराना कवि', 1968 में 'कुछ दूसरों के लिए', 1971 में 'छोटी–सी पहचान', 1981 में 'खोने और पीने के बीच', 1984 'उस्ताद की जगह खाली है' आदि निबन्ध प्रकाशित हुए हैं, जिनके माध्यम से समाज तथा साहित्य को चित्रित किया गया है।

o अनुवाद

अनुवाद मौलिक लेखन की अपेक्षा कष्टकर कार्य है। अनुवादक को अनुवाद करते समय मूल को ज्यों का त्यों दूसरी भाषा में रूपान्तरित करना होता है। अनुवाद मात्र शब्दों का पुनर्कथन नहीं है, वरन् अनुवादक को मूल के भावों, विचारों एवं उद्देश्य को भी ज्यों का त्यों पुनर्प्रस्तुत करना होता है। इसलिए अनुवाद कार्य मौलिक लेखन की अपेक्षा दुष्कर कार्य है। अश्क मौलिक कृतिकार ही नहीं, सफल अनुवादक भी है। अश्क ने कई उपन्यास तथा नाटकों का अनुवाद करके अपनी अनुवादक की प्रतिभा का परिचय दिया है। उनके अनूदित उपन्यास एवं नाटक इस प्रकार से है।

'ये आदमी ये चूहे' जॉन स्टाइनेक के 'आव माउस एण्ड मैन' उपन्यास का

अनुवाद है। 'हिज़ एक्सलेंसी' उपन्यास दॉस्तोयेस्की द्वारा लिखा हुआ है, जिसका अनुवाद हिन्दी में 'हिज़ एक्सलेंसी' किया गया जो पूर्व में 'डर्टी स्टोरी' था। इसके अतिरिक्त 'रंगसाज' चेख़व का उपन्यास है। अश्क ने उपन्यासों के अतिरिक्त नाटकों का भी अनुवाद किया है। 'लम्बे दिन की मात्रा : रात में' ओ' नील, 'क्षितिज के पार' ओ' नील, 'अभिशप्त' ओ' नील, 'हितचिन्तक' थॉर्नटन बाइल्डर का नाटक हैं।

उपेन्द्रनाथ अश्क ने उपन्यास, नाटक, कहानी, निबन्ध, संस्मरण, अनुवाद आदि के अतिरिक्तज भी आलोचना, सम्पादन, समालाप जैसे कठिन कार्य भी किए हैं।

○ आलोचना

'हिन्दी कहानी : एक अन्तरंग परिचय', 'अन्वेषण की सहयात्रा', 'हिन्दी नाटक और रंगमंच', 'हिन्दी कहानियाँ और फैशन', 'कहानी के इर्द–गिर्द', 'कुछ दूसरो के लिए', 'उर्दू काव्य की एक नई धारा'।

'हिन्दी कहानी : एक अन्तरंग परिचय' में युगीन रचनाओं एवं रचनाकारों का विवेचन किया गया है। 'अन्वेषण की सहयात्रा' में संस्कार रहित गतिशील व्यक्तित्व चित्रित किया गया है। 'हिन्दी नाटक और रंगमंच' में नाटक की दशा, दिशा और रंगमंच का महत्त्व चित्रित किया गया है। 'हिन्दी कहानियाँ और फैशन' एवं 'कहानी के इर्द–गिर्द' में विभिन्न लेखकों के साक्षात्कार तथा स्वयं अश्क की विचारधारा सम्मिलित है। 'कुछ दूसरों के लिए' में लेखक की समस्या एवं समाधान प्रस्तुत किया गया है।

○ समालाप

अश्क के अन्य रूपों में समालाप भी शामिल है, जिसमें सन् 1971 में 'कहानी के इर्द–गिर्द' 1979 'गिरती दीवारें : दृष्टि–प्रतिदृष्टि', 1981 में 'आमने–सामने', 1985 में 'हम कहें आप कहो', 1986 में 'विवादों के घेरे में' तथा 1992 'साक्षात्कार और विचार' तीन खण्डों में प्रकाशित किया गया है।

० सम्पादन

सम्पादक एक उत्कृष्ट कलाकार होता है। वह प्रतिभाशाली एवं विवेकवान प्राणी होता है। वह स्व–विवेक से तटस्थ होकर सम्पादन होने वाली कृतियों का मूल्यांकन करता है और तब कहीं जाकर उन्हें सम्पादित करता है। उपेन्द्रनाथ अश्क प्रतिभाशाली, विवेकशील, तटस्थ निर्णायक व्यक्तित्व के स्वामी हैं। जिन्होंने अपने सम्पादनत्व में अनेक कृतियों का सम्पादन किया है। सम्पादित ग्रंथ–सूची इस प्रकार से है। संकेत (हिन्दी) 1956 में, संकेत (उर्दू) 1962 में प्रकाशित की। उन्होंने 'उर्दू की कहानियाँ', 'उर्दू की बेहतरीन नज्में', 'उर्दू की बेहरतीन गज़लें', 'तूफानी लहरों में हँसता मांझी', 'उदास फूल की मुस्कान', 'उगते सूरज का दर्शक', 'महान लेखक बाल जीवनी माला', 'प्रतिनिधि एकांकी' और 'रंग एकांकी' आदि का सम्पादन किया।

० उपन्यास-साहित्य

हिन्दी साहित्य के उपन्यास इतिहास में उपेन्द्रनाथ अश्क का नाम स्वर्ण अक्षरों में लिखा हुआ है। उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर साहित्य की विभिन्न विधाओं – उपन्यासों, नाटक, कहानी, निबन्ध, संस्मरण, कविता, आलोचना आदि के क्षेत्र में लेखनी चलायी, परन्तु उन्हें अत्यधिक सफलता उपन्यास के क्षेत्र में मिली है। अपने प्रारम्भिक चरण में वे कहानियाँ और कविताएँ लिखते थे, परन्तु प्रेमचन्द के सम्पर्क से उनकी साहित्यिक प्रतिभा ने करवट ली और वे उपन्यास लेखन की ओर प्रवृत्त हुए। प्रेमचन्द के प्रभाव से उनके लेखन में व्यापक परिवर्तन हुआ और उन्होंने एक नई दृष्टि से लिखना शुरु किया। यह सही नहीं है कि लेखन का कार्य प्रेमचन्द के सम्पर्क में आने से ही शुरु हुआ है, अपितु लेखन कार्य वे पहले भी करते थे। परन्तु प्रारम्भ में उनकी दृष्टि नहीं थी, वे कल्पनाओं और बनावटी आदर्शों को अपने साहित्य का कर्मक्षेत्र मानते थे। "मैं साहित्य महज अपने सुख–सन्तोष के लिए सृजता हूँ, पर जब मैं अपनी रचनाओं को प्रकाशित भी करता हूँ तो भी यही चाहता हूँ कि दूसरे भी सुख एवं सन्तोष अथवा राह पायें।"[76]

---

76. अश्क, कहानी के इर्द-गिर्द, पृ० 157

यह सत्य है कि उपेन्द्रनाथ अश्क आत्मसन्तुष्टि की प्राप्ति के लिए साहित्य सृजन की ओर प्रवृत्त हुए हैं। पत्नी के आकस्मिक निधन ने उन्हें काफी दुःखी किया। सहसा उनके चले जाने से वे अपने आपको अकेला महसूस करने लगे। सदैव एकान्त रहने पर जीवन, जीवन की सच्चांइयों तथा मृत्यु पर चिन्तन करते रहते थे। इन सत्यों को देखकर वे अत्यधिक दुखी हो उठे। "जीवन को उन्होंने कई रंगों में बहुत करीब से देखा–भोगा है। जीवन की व्यर्थता के बोध ने उन्हें किसी महान् उद्देश्य से जोड़ने में सहयोग दिया है। मरने के बाद जीने की मानवीय कामना ने उन्हें साहित्य की ओर पूर्णतः समर्पित कर दिया। जीवन की नश्वरता की चेतना उन्हें लिखने की प्रेरणा देती है, उन्हें रात–दिन चुप, शान्त, कर्महीन बैठने नहीं देती।"[77]

उपन्यासकार प्रेमचन्द ने उनकी औपन्यासिक दृष्टि को विकसित किया। प्रेमचन्द जी की प्रेरणा ने उनके व्यक्तिवादी चिन्तन को समष्टिवादी, कल्पना को यथार्थ के धरातल पर उतार दिया जिससे इनकी दृष्टि व्यक्ति सत्यों को व्यंजित करने की ओर प्रवृत्त हुई। "यद्यपि उस समय तक आँखों को यथार्थ दृष्टि नहीं मिली थी तो भी कुछ आदर्शवादी स्थितियों की यथार्थता पाने का प्रयास मैं जरूर करता था।"[78] उनका पारिवारिक जीवन सामन्ती रूढ़ियों, संस्कारों से ग्रस्त और आर्थिक चिन्ताओं से आक्रान्त था। इसलिए उनके मन में नियति का भी कुछ न कुछ विश्वास अवश्य था। लेकिन जीवन की घटनाओं एवं विषमताओं ने उनके दृष्टिकोण को पूर्णतः बदल दिया और वह सोचने लगे कि समाज बदला भी जा सकता है। उसके बन्धन तोड़े भी जा सकते हैं और मनुष्य नियति से चालित होने के बदले उसका संचालन भी कर सकता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु उन्होंने निम्न मध्यवर्ग का आधार बनाया। अतः निम्न मध्यवर्ग की वैवाहिक समस्याओं, आर्थिक विषमताओं,

---

77. चन्द्रेश्वर कर्ण, उपन्यासकार अश्क, अश्क के उपन्यासों का आलोचनात्मक विश्लेषण, पृ० 18

78. डॉ० इन्द्रनाथ मदान, उपन्यासकार अश्क, परिसंवाद, पृ० 60

सामाजिक विद्रूपताओं, दमित वासनाओं, अनिर्दिष्ट आकांक्षाओं, असफल मान्यताओं, रूढ़िगत संस्कारों, विडम्बनापूर्ण कुण्ठाओं, काम–ग्रंथियों और अर्थशून्य विकृतियों का विपुल चित्रलेखन अश्क का साहित्य है। अश्क का उपन्यास संसार इस प्रकार से है।

i. सितारों का खेल - अश्क जी का प्रथम उपन्यास है यद्यपि इन्होंने पहला उपन्यास 'एक रात का नरक' लिखा है, लेकिन उसका प्रकाशन बाद में हुआ है। इसलिए 'सितारों का खेल' ही प्रथम उपन्यास के रूप में स्वीकार किया गया है। इसकी प्रेरणा लेखक को सती अनुसूया से प्राप्त हुई, जो अपने पंगु पति के लिए दर–दर घूमती है। अश्क जी को इस पौराणिक कथा पर विश्वास नहीं होता तथा उसकी प्रतिक्रियास्वरूप इस उपन्यास की रचना की है। अश्क जी ने इस उपन्यास में पौराणिक आदर्श को काल्पनिक, अमानवीय एवं अस्वाभाविक सिद्ध किया है। "यह उपन्यास एक प्राचीन हिन्दू गाथा के पुनर्मूल्यांकन के उद्देश्य से बुना गया था। अश्क जी उस गाथा से सम्बद्ध बुनियादी नैतिक विचार पर सवाल उठाना चाहते थे। परम्परागत नैतिक आचार–व्यवहार की तर्कहीनता से पीछा छुड़ाने की इस कोशिश में और उस नैतिक विचार से युक्त प्राचीन गाथा की विश्वसनीयता परखने के उत्साह में अश्क जी ने एक ऐसा कथानक चुना, जो उस पुरानी हिन्दू गाथा जितना ही अद्भुत था।" यह उपन्यास घटना–प्रधान है और जीवन में नियति के व्यापार एवं महत्त्व को समझने के लिए घटनाओं का चयन एवं संयोजन किया गया है। इस उपन्यास में व्यक्ति का सबसे बड़ा शत्रु उसका भाग्य है। भाग्य के इस स्वरूप को उद्घाटित करने के लिए उपन्यासकार ने विवाह और प्रेम की समस्या को केन्द्र में रखकर चित्रित किया है।

उपन्यास का आरम्भ लता से होता है, जो कि उपन्यास में अनुसूया का प्रतीक है और बंशीलाल को अनुसूया के पंगु पति के रूप में चित्रित किया गया है। बंशीलाल का जीवन दरिद्रता, दैन्य और नैराश्य से परिपूर्ण है। उपन्यास का प्रारम्भ कॉलेज की वाद–विवाद प्रतियोगिता से शुरु होता है। इस प्रतियोगिता का विषय है

'वैवाहिक पद्धति पर भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोण'। लता और जगत दोनों सहपाठी इस प्रतियोगिता में हिस्सा लेते हैं। लता और जगत भारतीय पौराणिक आदर्शों पर जोर डालते हैं, दूसरी तरफ बंशीलाल यूरोपीय पद्धति को अच्छा बताता है। इसी प्रतियोगिता में लता जगत की तरफ आकृष्ट हो जाती है। वह जगत से प्यार करने लगती है। प्रेम–जाल में बन्धने के कारण विवाह–बन्धन में बान्धने के लिए लता के वृद्ध पिता उत्साहित हैं, परन्तु जल्दी ही पता लग जाता है कि जगत के हृदय में नारी के प्रति प्रेम भावना न होकर वासना की आग धधक रही है। जगत का विश्वासघात लता के लिए गहरा आघात था। वास्तविकता को जान लेने के बाद लता की बंशीलाल के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। बंशीलाल के त्याग ने लता पर गहरा प्रभाव डाला। जब बंशीलाल लता के कोठे से गिरकर अपने को विकलांग बना लेता है तो लता उसकी जी–जान से निःस्वार्थ भावना से सेवा करती है। उसकी इस त्याग भावना को देखकर, तीन अन्य नारियों से सम्पर्क में आ चुका डॉ॰ अमृतराय प्रभावित हो जाता है। वह एक दिन लता पर अपना प्रेम प्रदर्शित कर देता है। डॉ॰ अमृतराय को प्यार का संकेत पाकर लता टूटी हुई तारिका की तरह उसकी तरफ खिंच गई। वह डॉक्टर का संसर्ग पाकर बंशीलाल को भूल गई। इतना ही नहीं वह डॉक्टर के प्रेम में इतना पागल हो गई कि वह बंशीलाल की हत्या करने की योजनास्वरूप उसे जहर दे देती है। डॉक्टर ने लता के इस कुकृत्य को देखकर उसकी तरफ से मुँह फेर लिया। भयंकर रोग से ग्रस्त होकर मरने से पहले डॉक्टर अमृतराय से लता का अनुरोध किया कि वे राजरानी से विवाह कर लें। इस अनुरोध से ही कथानक मोड़ ले लेता है। लता डॉक्टर से कहती है, "बंशीलाल को मार कर पाप किया या पुण्य, यह मैं नहीं जानती, डॉक्टर साहब। पर यह सब अच्छा ही हुआ। उसके और मेरे मध्य जो पर्दा–सा छा गया था, मौत ने उसे हटा दिया और उस पर्दे के हट जाने पर वह और मैं फिर, आमने–सामने हो गए।"[79]

---

79. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', सितारों का खेल, पृ॰ 200

इस प्रकार उपन्यासकार ने अपने उपन्यास में प्रेम और विवाह की समस्या को उभार कर यही दिखाया है कि 'प्रेम' व्यक्तिगत है और 'विवाह' समाजगत। अश्क ने प्रेम के वैयक्तिक पक्ष का उद्घाटन करने के लिए लता और बंशीलाल का अन्त करना पड़ा। इसी के साथ अश्क की व्यक्तिवादी दृष्टि भी मुखरित हो उठती है। उपन्यास का कथानक उसकी नायिका लता के चारों ओर इस उद्देश्य से संगठित किया गया है कि प्रेम के व्यक्तिमूलक स्वरूप का उद्घाटन हो सके और उसके सफल होने के पथ में नियति को बाधा के रूप में उपस्थित किया जा सके। नियति को इस रूप में चित्रित करने के लिए आकस्मिक एवं अस्वाभाविक घटनाओं की अवतारणा की गई। अतः लेखक अपने उद्देश्य में सफल हो जाता है।

ii. गिरती दीवारें – 'गिरती दीवारें 1947 में प्रकाशित होने वाला दूसरा उपन्यास है, जो दो खण्डों में विभाजित है। इसका प्रथम खण्ड 1947 में तथा दूसरा खण्ड दस साल बाद प्रकाशित किया गया। यह उपन्यास निम्न मध्यवर्ग के चित्रण पर आधारित है, जिसमें वैवाहिक जीवन, आर्थिक और सामाजिक समस्याएँ, आकांक्षाओं, कुण्ठाओं, सद्वृत्तियों, कुवृत्तियों तथा ग्रन्थियों का चित्रण किया गया है, जिसके कारण युवकों को अपनी आकांक्षाओं और इच्छाओं को दफनाना पड़ता है जो सदैव आर्थिक शोषण तथा सेक्स कुण्ठाओं से ग्रसित रहता है। अश्क के अनुसार– "जिन्दगी में प्यार केवल एक समस्या है – बड़ी समस्या सही मगर कई बार रोज़ी उससे भी बड़ी समस्या बन जाती है और फिर महत्त्वकांक्षा प्यार और रोजी से भी बड़ी प्रेरणा शक्ति बन जाती है। आदमी अपने वातावरण से ऊपर उठ जाना चाहता है, अपने ध्येय को पाना चाहता है और उसी प्रयास में अपनी प्रकृत इच्छाओं का गला स्वेच्छापूर्वक, किंचित् गर्व की भावना से, घोंटता चला जाता है।"[80]

अश्क अपने उपन्यास 'गिरती दीवारें' के नायक चेतन के माध्यम से इसी

---

80. डॉ० इन्द्रनाथ मदान, उपन्यासकार अश्क, मेरे उपन्यास : मेरी दृष्टि में, पृ० 63

समस्या को चित्रित किया है। चेतन का पिता एक शराबी है, जो परिवार के पालन–पोषण की अपेक्षा अपनी शराब और अवारगी को मुख्य मानता है। चेतन की आर्थिक दृष्टि कमजोर है, जिसके कारण बी० ए० तक की शिक्षा ग्रहण करता है। बी० ए० करने के तुरन्त बाद आर्थिक समस्याओं से निजात पाने के उद्देश्य से चेतन ने स्कूल में अध्यापक की नौकरी करनी पड़ती है। प्रारम्भ में चेतन के प्यारका आकर्षण कुन्ती होती है, परन्तु पिता का कठोर स्वभाव दीनबन्धु की लड़की चन्दा से विवाह करने को बाधित करता है। उसकी शादी चन्दा से हो जाती है। शादी के बाद उसके प्यार का आवेग नहीं रुका, यद्यपि चन्दा ने अपने गुणों एवं कर्मों से उसे प्रभावित कर लिया था, परन्तु फिर भी वह चन्दा की चचेरी बहन नीला की तरफ आकर्षित हो जाता है। उसके आकर्षण में इतना घिर जाता है कि उससे मिलने की आतुरता में बार–बार ससुराल जाता है।

चेतन शादी के बाद लाहौर में उप–संपादक बन जाता है, लेकिन उसकी इच्छाओं का संसार काफी विशाल है, वह एक साथ लेखक, कवि, चित्रकार, संगीतकार, अभिनेता, वकील, सम्पादन आदि सभी कुछ बनना चाहता है। लाहौर में ही रहते–रहते उसका सम्पर्क प्रकाशो और केशर नाम की लड़कियों से हो जाता है परन्तु जब तक वह उनके प्यार में डूबता इसी बीच पत्र के माध्यम से से सूचना मिलती है कि नीला की शादी बर्मा के किसी अधेड़, कुरूप मिलिटरी एकाउंटेंट से निश्चित हो जाती है। वह उस शादी में शामिल हो जाता है, परन्तु वह नीला की उपेक्षा का शिकार होता है। चेतन अपनी उपेक्षा के विषय में सोच ही रहा था परन्तु इतनी ही देर में नीला अपनी गलती का अहसास करके उससे क्षमा मांगती है। नीला चौखट में आकर खड़ी हो गई। दोनों हाथ बाँधकर मस्तक तक ले जाते हुए उसने लगभग आर्द्र स्वर में कहा, "जीजा जी नमस्ते, मेरी भूल–चूक क्षमा कर दीजिएगा।"[81]

---

81. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ० 207

उसके ये भावपूर्ण शब्द सुनकर चेतन पिंघल गया था। "वह तेजी से मुड़ने को थी कि चेतन ने उठकर उसका हाथ थाम लिया। उसके क्रोध, ईर्ष्या, दर्द की चट्टानें जैसे नीला के एक वाक्य से पानी–पानी होकर बह चलीं। नीला मुझे माफ कर दो, मैंने सचमुच तुम्हारा बड़ा अपराध किया है और वह उसके चरणों में झुक गया।" इस प्रकार इस घटना से उपन्यास का अन्त होता है।

iii. गर्म राख – 'गर्म राख' 1952 में प्रकाशित होने वाला अश्क का तीसरा उपन्यास है। यह एक सामाजिक उपन्यास है, जिसमें समाज के माध्यम से व्यक्ति को चित्रित किया गया है। इस उपन्यास में निम्न मध्यवर्ग चित्रण को आधार बनाया गया है। निम्न मध्यवर्ग का एकतरफा प्रेम और उसकी निराशा का खुलकर चित्रण किया गया है।

उपन्यासकार अश्क ने प्रेम से ज्यादा जीवन को महत्त्व दिया है और इसमें निष्फल प्रेम का बेबाक चित्रण प्रस्तुत किया गया है। इस अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने यह भी निश्चय किया कि वे जीवन से पलायन के गीत नहीं गायेंगे। प्रेम से ज्यादा जीवन का महत्त्व बताते हुए उन्होंने लिखा है, "प्रेम में मेरा विश्वास है लेकिन जिन्दगी में मेरा विश्वास उससे ज्यादा है। प्रेम यदि जिन्दगी को बेहतर तौर पर जीने में मदद नहीं देता तो मैं उसे आदमी की शक्ति का अपमान समझता हूँ।"[82] इस उपन्यास में साधारण लोगों की कहानी का चित्रण है। यह उपन्यास अश्क जी की सामाजिक प्रेरणा से लिखी कृति है, यथार्थ समाज की विषमताएँ उसमें ज्यादा खुलकर नहीं आयी हैं।

इस उपन्यास का कथानक तीन कथा चक्रों में संगठित है। इसमें पहली कथा चातक से सम्बन्धित है। चातक जी ऐसे हृदय कवि हैं जो किसी भी सुन्दर युवती की तस्वीर देखकर नयी कविता बना डालते हैं। वह अपने घर से सदैव

---

82. डॉ० इन्द्रनाथ मदान, उपन्यासकार अश्क : एक परिसम्वाद, पृ० 70

कतराते रहते हैं क्योंकि उनकी अपने पारिवारिक जीवन से संगति नहीं बैठती। उनकी पत्नी चातक जी की भांति रसिक विचारों की नहीं है। भावुक हृदय कवि चातक अपनी अरसिक पत्नी के कारण कुण्ठित है, इसलिए प्रत्येक युवती को अपनी भावी प्रेयसी समझकर कविता लिखने बैठ जाता है जिसके माध्यम से अपनी कुण्ठा को शान्त करता है। दूसरी कथा सत्या और जगमोहन की है। सत्या जगमोहन पर आकर्षित है। वह उसे किसी भी कीमत पर प्राप्त करने के लिए तत्पर है, इसी मनोच्छा से वह एक दिन उससे शारीरिक सम्बन्ध स्थापित कर लेती है। उसी समय वह अपनी माँ और पिता के पूर्व सम्बन्धों के विषय में बताती है जिनके कारण उसकी माँ और पिता की शादी हुई थी। वह सत्या को छोड़ देता है और इस प्रकार सत्या की शादी एक कुरूप मेजर से हो जाती है। तीसरी कथा कामरेड हरीश से सम्बन्धित है। दूरो नामक युवती हरीश से प्रेम करती है। उनका यह प्रेम प्लेटॉनिका एवं आदर्शमूलकं है।

इस प्रकार 'गर्मराख' में प्रेम के विविध पात्रों का विवेचन किया गया है जिसके मूल में व्यक्ति चिन्तन तथा व्यक्ति हित की दृष्टि है। इस प्रकार प्रेम की समस्या के उद्‌घाटन तथा प्रतिपादन में मूल दृष्टि व्यक्तिमूलक है। यह उपन्यास स्वस्थ प्रेम के स्थान पर कुण्ठित प्रेम का चित्रण करने में सफल रहा है।

iv. बड़ी-बड़ी आँखें – 1955 में प्रकाशित यह उपन्यास क्रम संख्या में चौथा उपन्यास है। यह उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया यथार्थवादी उपन्यास है, परन्तु उपन्यासकार अश्क इसे राजनीतिक उपन्यास मानते हैं। "उपन्यास को यदि गहराई से देखा जाए तो यह उतना सामाजिक नहीं जितना राजनीतिक है। चूँकि इसमें प्रत्यक्ष रूप से राजनीति की चर्चा बिल्कुल नहीं है, शायद इसलिए लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित नहीं हुआ। जिस प्रकार जायसी के पद्‌मावत की काया प्रेमकाव्य की है, लेकिन आत्मा सूफी भक्ति–भावना की, उसी प्रकार 'बड़ी–बड़ी आँखें' के रोमानी कथानक में राजनीतिक भावना आत्मा के रूप में विद्यमान है। पूरे

का पूरा देवनगर, उसकी व्यवस्था एक विशिष्ट सरकारी ढाँचे का प्रतीक है।"

उपन्यास का नायक संगीत निम्न मध्यवर्ग का आदर्शवादी युवक है, जो सदैव अपने आदर्शों की रक्षा के लिए संघर्ष करता है। उपन्यास की नायिका उसकी प्रेरणा है जो उसे सदैव आदर्शों पर चलने के लिए प्रेरित करती रहती है। कथा का प्रारम्भ संगीत सिंह और उसकी पत्नी के बीच की बातों से होता है। संगीत सिंह का व्यक्तित्व घुटन, पीड़ा एवं संत्रास से भरा हुआ है, क्योंकि विधाता ने उसकी हँसती–खेलती प्यारी पत्नी को लील दिया, जिसके विरह में वियोगी की भांति दर–दर भटक रहा है। उसको मानसिक शान्ति नहीं मिल रही है। वह इसी मानसिक शान्ति के लिए देवनगर आता है।

'देवनगर' बसाने का स्वप्न 'देवसेना' के प्रधान सेनापति सरदार देवेन्द्र सिंह उर्फ श्री देवा जी का था। उसका स्वप्न था कि इस नगर का कोई प्राणी गरीब न हो और न अमीर हो, कोई किसी का शोषण न कर सके, सबको उचित भोजन मिले, सभी काम करने के लिए स्वतन्त्र हों, सभी व्यक्ति प्रेम और भाईचारे की भावना से जीवनयापन करें। परन्तु जब संगीत इस समाज से जुड़ जाता है तो उसे पता चलता है कि देवनगर को चलाने वाला प्रधान की मंशा तो ठीक है, लेकिन उसके सहयोगी इसके विपरीत कार्यों में संलग्न है। "देवनगर मुझे देश–सा लगा जिसका प्रधानमन्त्री उदाराशय, स्वप्नशील, भविष्यद्रष्टा हो, पर जिसके सहकारी अवसरवादी, चाटुकार और खुशामदी और जिसके दफ्तरों में भ्रष्टाचार और स्वजन–पालन का दौर–दौरा हो।"[83] इस प्रकार देवनगर भारतीय आदर्शों का प्रतीक है, जिसके संस्थापकों की भावना तो ठीक थी, परन्तु उसके सहयोगी भ्रष्टाचार में लिप्त थे।

कथा नायक संगीत एक तरफ से तो समाज सुधारक देवा की भावनाओं और विचारों से प्रभावित है, दूसरी तरफ देवा की पुत्री वाणी की सुन्दरता पर मुग्ध

---

83. डॉ० इन्द्रनाथ मदान, उपन्यासकार अश्क : एक परिसंवाद, पृ० 49

है। वाणी की सुन्दरता पर एक अन्य व्यक्ति तीरथराम मुग्ध है। सभा में जब वाणी संगीत के पास बैठ जाती है तो तीरथराम इसे सहन नहीं कर पाता। अपनी इसी कुण्ठा को जब व्यक्त करता है, जब वह संगीत पर सरेआम अप्रिल फूल की आड़ में हँसी उड़ाई जाती है। संगीत भली–भांति जानता है कि तीरथ राम का वाणी के प्रति प्रेम वासना–जनित है। इस प्रकार भ्रष्टाचार से सने हुए देवनगर के खोखले आदर्शों के खिलाफ संगीत अपनी आवाज बुलन्द करता है।

v. पत्थर अलपत्थर – यह अश्क जी का पाँचवाँ उपन्यास है जो 1957 में प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास निम्न मध्यवर्ग को चित्रित करता है। निम्न मध्यवर्ग को वाणी देने के लिए उपन्यासकार ने इसमें कश्मीर को आधारभूमि के रूप में रखा है, जिसमें कश्मीर की यथार्थ झाँकी प्रस्तुत की है। प्रायः सभी लेखकों को कश्मीर के सौन्दर्य ने प्रभावित किया परन्तु अश्क जी की दृष्टि अन्य लेखकों से भिन्न थी, इसलिए उन्होंने कश्मीर सौन्दर्य की अपेक्षा वहाँ पर रहने वाले निम्न मध्यवर्गीय लोगों के करुणामय जीवन को अपने उपन्यास में यथार्थ रूप में चित्रित किया है।

इस उपन्यास का नायक घोड़वान हसनदीन है, जो कश्मीर की गरीब जनता और घोड़ावानों का प्रतिनिधित्व करता है। इनके अतिरिक्त खन्ना साहब, उनकी पत्नी, हरनाम सिंह, उप्पल साहब, ऊषा आदि अन्य पात्र हैं, जो अपने–अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। खन्ना साहब, उनकी पत्नी उप्पल साहब, उनकी भतीजी और अन्य साथीगण कश्मीर की सैर करने आए हैं। इनकी दृष्टि दर्शनीय स्थलों के सौन्दर्य पर इतनी नहीं है, जितनी कि ये लोग वापिस जाकर अपने आस–पास के लोगों को वहाँ की चीज़ों के बारे में बता सकें जिससे समाज में उनका रौब बन जाए।

हसनदीन घोड़ावान है जो उन्हें सवारी करवाता है और सारा दिन उन्हें वहाँ की प्रसिद्ध चीजों के दर्शन करवाता है। इसी कार्य से हसनदीन की रोजी–रोटी चलती है, परन्तु जब वह शाम के समय उन लोगों को घुमाने के बाद पैसे मांगता है,

तो उसे पैसों के बदले में ढेर सारी पिटाई और चोरी का इल्जाम मिलता है। इसी आधार पर खन्ना उसे पुलिस के हवाले कर देता है। पुलिस वालों ने उसके जेल से छोड़ने के लिए पचास रुपये मांगे, जो कि उसकी बीवी देने में असमर्थ थी। खन्ना और पुलिस के इस व्यवहार से हसनदीप का दिल टूट जाता है। इस उपन्यास में लेखक हसनदीप के माध्यम से निम्न–वर्ग पर होने वाले अत्याचारों को प्रकाश में लाने का प्रयास करता है, जिसमें कश्मीरी मजदूरों का जीवन संघर्ष, उनकी गरीबी एवं मजदूरी, उनके परिश्रम एवं शोषण को चित्रित किया गया है।

vi. शहर में घूमता आइना – सन् 1963 में अश्क जी ने अपना छठा उपन्यास 'शहर में घूमता आइना' प्रकाशित किया। यह उपन्यास 'गिरती दीवारें' उपन्यास का बड़ा रूप है। वातावरण और घटनाएँ भी वही है, जो 'गिरती दीवारें' के अन्त में चित्रित की गई है। चेतन की साली नीला का विवाह एक अधेड़ उम्र के कुरूप पुरुष से हो जाता है। इस विवाह से चेतन सन्तुष्ट नहीं है। वह इस बेचैनी को दूर करने के लिए शहर में घूमता है। इस पात्र के माध्यम से सामाजिक विकृतियों का यथार्थवादी चित्रण किया गया है। चेतन जालन्धर शहर में घूमता हुआ रामदित्ता से सम्पर्क स्थापित करता है। रामदित्ता वृद्ध विवाह की विषमताओं को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है।

चेतन नीला के विवाह से खिन्न रहता है। वह इस विवाह का कारण स्वयं मानकर, अपने को दोषी स्वीकार करता है। वे सभी दृश्य उसकी आँखों के सामने घूमते जाते हैं। वह उस सीमित क्षेत्र में अब ठहर नहीं पाता है, क्योंकि वे दृश्य उसे परेशान करते रहते हैं। वह सोचता है कि वह अपने दोस्तों से कितना पीछे रह गया है, वे उससे जीवन की दौड़ में कितना आगे निकल गए हैं। चन्दा उसे समझाती है, तभी वह निश्चय कर लेता है कि उसके पास जो कुछ भी है, वह उसको बेहतर बनाने की कोशिश करेगा। जो नहीं है, उसकी चिन्ता वह नहीं करेगा। यही इस उपन्यास का उद्देश्य है।

उपन्यासकार ने इस उपन्यास में समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत किया है। इन्होंने अपने दूसरे उपन्यासों में तो समस्याओं का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है, लेकिन इस उपन्यास में उनको सुधारा गया है। इस उपन्यास में ऐसे लोग भी हैं जो परिस्थितिवश बदल जाते हैं। इसमें ऐसे लोगों का चित्रण भी है जो ज्यादा बच्चे पैदा करते चले जाते हैं, उनके प्रति उपेक्षा का व्यवहार, लेखक की जनसंख्या समस्या दृष्टि को भी चित्रित करता है।

vii. बाँधो न नाव इस ठाँव – यह उपन्यास अश्क जी का सातवाँ वृहत् उपन्यास है। इसकी कथा लगभग बारह सौ पृष्ठों में संकलित है। यह 'गिरती दीवारें' का तीसरा भाग है। यह दो खण्डों में प्रकाशित किया गया है। प्रथम खण्ड में नायक चेतन अपने व्यक्तित्व की सार्थक पहचान के लिए विभाजन से पूर्व के लाहौर की तमाम परिस्थितियों से अवगत होता है। वह वहाँ के जीवन की कटु सच्चाइयों को जानता है। दूसरे भाग में धर्म सम्बन्धी मान्यताएँ व विश्वास दिखाई पड़ते हैं।

इस उपन्यास में चेतन का मन उत्साह से भरा हुआ होता है। वह अब कुछ बनकर दिखायेगा। वह सिविल जज बनने के लिए संकल्प करता है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए लाहौर में लॉ कॉलिज में दाखिला लेता है। उसकी इस इच्छा में अश्क का व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से झलकने लगा, क्योंकि उपन्यासकार की भी जज बनने की इच्छा रही थी, परन्तु विपरीत परिस्थितियों ने अश्क के सपनों को चकनाचूर कर दिया। उसका जज बनने का स्वप्न टूट गया। लेखक ने अपनी इसी इच्छा की पूर्ति उपन्यास के नायक के माध्यम से की है।

viii. एक नन्हीं सी 'किन्दील' – यह उपन्यास 1969 में प्रकाशित होने वाला आठवाँ उपन्यास है। यह उपन्यास भले नये नाम के आधार पर प्रस्तुत हुआ है, परन्तु यह वास्तव में 'गिरती दीवारें' की ही कथा को गति प्रदान करने वाला और उसके अधूरेपन को पूरा करने वाला है। नायक चेतन शिमला में कवि रामदास के शोषण का शिकार होता है। वह जालन्धर और फिर लाहौर चला जाता है। वहाँ पर उसका

जीवन संघर्ष में व्यतीत होता है। यहाँ आकर चेतन को संघर्ष, स्वप्न, महत्त्वाकांक्षा, अन्तर्द्वन्द्व और उलझनों का यथार्थ परिचय होता है। इसके साथ–साथ उपन्यासकार ने इसमें लाहौर की राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का चित्रण किया है, साथ ही विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में होने वाले राजनीतिक दबाव, घोटाले, अधिकारिक दबाव को चित्रित किया गया है।

ix. निमिषा – यह उपन्यास अश्क जी का नौवां उपन्यास है, जिसका प्रकाशन 1976 में साप्ताहिक हिन्दुस्तान में किश्तों के रूप में छपा है। इस उपन्यास में लेखक ने अपने जीवन की एक विशेष घटना को चित्रित किया है। केवल पात्रों के नाम बदले हैं, बाकी सारा ढाँचा अश्क जी की शादी के समय का ही है। अश्क जी ने इस उपन्यास को नायक गोबिन्द के माध्यम से बताया कि उनकी शादी एक कुरूप फूहड़ लड़की से हो जाती है। अश्क उसे एक महीने में ही छोड़ देता है। यद्यपि इनकी वह दूसरी पत्नी गर्भवती थी। अश्क ने उसका परित्याग करने से पूर्व अपने अनुसार ढालने की चेष्टा की परन्तु असफलता हाथ लगने पर वे उसे छोड़ देते हैं।

प्रस्तुत उपन्यास का नायक गोबिन्द भी अपनी दूसरी पत्नी का परित्याग कर देता है, दूसरे उसका निमिष से भी पत्र–व्यवहार बन्द हो जाता है। वह अपनी पत्नी से तंग आकर भाग जाता है। उस समय इनकी दूसरी पत्नी गर्भवती होती है, लेकिन गोबिन्द कोई परवाह नहीं करता। अब गोबिन्द विषम परिस्थिति में फंसा है। उसके हृदय में एक अजीब अन्तर्द्वन्द्व है कि वह क्या करे या क्या न करे। इस अन्तर्द्वन्द्व को ही निस्संकोच भाव से चित्रित करना लेखक का उद्देश्य था।

अश्क का नाम उपन्यासकारों की श्रेणी में महत्त्वपूर्ण है, जिनकी ख्याति सुदूर विदेशों में भी फैली हुई है। आज अश्क जी अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त साहित्यकार हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों के माध्यम से सामाजिक बुराइयों, व्यक्ति का चित्रण, नारी की मनोदशा, अन्तर्द्वन्द्व, आर्थिक पीड़ा, शोषण, घुटन, कर्मफल, भाग्यवाद, पारिवारिक बिखराव, प्रेम, विवाह आदि–आदि विषयों पर लेखनी चलाई

है। इन्हीं विषयों के माध्यम से सामाजिक समस्याओं को उठाया है और उन पर विवेचन, चिन्तन–मनन किया है, साथ ही जहाँ तक बन पड़ा, उनका समाधान भी प्रस्तुत किया है। इस प्रकार कह सकते हैं कि उपेन्द्रनाथ अश्क का पूरा साहित्य हमारे जीवन का वास्तविक चित्र अंकित करता है।

ooooooooooooooooo

तीसरा अध्याय

उपन्यासकार अश्क के उपन्यासों के सामाजिक सन्दर्भों में आधुनिकता बोध

(क) समाज : अर्थ और परिभाषा

(ख) समाज और साहित्य

(ग) सामाजिक सन्दर्भ के विविध पक्ष

तीसरा अध्याय
उपन्यासकार 'अश्क' के उपन्यासों के सामाजिक सन्दर्भों में आधुनिकता बोध

(क) समाज : अर्थ और परिभाषा

सामान्यतः साधारण बोल-चाल की भाषा में हम 'समाज' शब्द को जनसमूह के लिए प्रयुक्त करते हैं। समाज व्यक्तियों के ऐसे समुदाय को कहते हैं; जिसमें रहने वाले व्यक्ति किसी न किसी दिशा में उद्देश्यपूर्ण कार्य करते हैं। ऐतिहासिक और भौगोलिक रूप में समाज का धीरे-धीरे विकास होता है। व्यक्ति समाज की इकाई है। व्यक्ति के बिना समाज की कल्पना निरर्थक है। इसलिए व्यक्ति समाज में रहने के कारण सामाजिक प्राणी है। जब हम स्त्री-समाज, पुरुष-समाज, हिन्दू-समाज, कृषक-समाज जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं, तो हमारा आशय इन्हीं विशिष्ट वर्ग के लोगों की तरफ इंगित होता है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'समाजवाद' में समाज शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए डॉ॰ सम्पूर्णानन्द ने समाज की परिभाषा इस प्रकार दी है- "जिसमें लोग मिलकर, एक साथ, एक गति से, एक से चलें, वही समाज है। एक साथ या एक से चलने का अर्थ फौजी सिपाहियों की भाँति किसी एक दिशा में कदम मिलाकर चलना नहीं है। तात्पर्य तो यह है कि लोगों का, उन लोगों की जो समाज के अंग हों, परिस्थिति एक जैसी हो, उनके प्रयत्न और उद्देश्य एक जैसे हों।"[1]

इसी प्रकार 'मानक हिन्दी कोश' में कहा गया है – "समाज बहुत से लोगों का गिरोह या झुण्ड है।"[2] पाश्चात्य समाजशास्त्री राबर्ट ब्रिफोल्ट ने भी समाज के विषय में कहा है- "समाज का अर्थ है – भाईचारा। एक उद्देश्य की सिद्धि

---

1. डॉ॰ सम्पूर्णानन्द, समाजवाद, पृ॰ 19

2. वही, पृ॰ 19

के लिए काम करने वाले, एक भाव से परिचालित व्यक्तियों की, बिना किसी प्रकार के दबाव के अपनी इच्छा से संचालित संस्था, जिसके सभी सदस्य सबके हित के प्रयत्न की सफलता के इच्छुक हों।"[3] जिस प्रकार जीवन एक वस्तु नहीं है, बल्कि जीवित रहने की प्रक्रिया है, उसी तरह समाज एक वस्तु नहीं अपितु सम्बन्ध स्थापित करने की एक प्रक्रिया है। ("Just a life is not a thing that but a process of living, so society is not a thing but a process of associating.")

जिंसबर्ग का कथन है– "समाज व्यक्तियों का वह समूह है जो किन्हीं सम्बन्धों या तरीकों द्वारा संगठित है और जो कि उन्हें उन दूसरें लोगों से अलग करता है, जो इन सम्बन्धों में शामिल नहीं होते अथवा जो उनसे व्यवहार में भिन्न है।"[4] समाज के लिए परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना अत्यावश्यक अंग है। सभी व्यक्तियों के सम्बन्ध भावनात्मक रूप से स्थापित किये गए हों। समाज में एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति की सहायतार्थ तत्पर रहना चाहिए। इसी सम्बन्ध में ग्रिडिंग्स ने भी कहा है– "समाज स्वयं एक संघ है, एक संगठन है, औपचारिक सम्बन्धों का योग है, जिसमें सहयोगी व्यक्ति परस्पर आबद्ध है।"[5]

कूले के अनुसार समाज वह ढाँचा है जिसमें रीतियाँ और प्रक्रियाएँ जीवित रहती हैं तथा विकसित होती हैं। प्रत्येक रीति जीवित है और एक–दूसरे के कारण बढ़ती रहती है एवं पूर्ण अस्तित्व में इस प्रकार की एकरूपता पायी जाती है कि जो कुछ किसी एक भाग में होगा, वही शेष पर प्रभाव डालेगा।"[6] किंग्सले डेविस ने समाज को व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली संस्था माना है। समाज

---

3. सम्पा० रामचन्द्र वर्मा, मानक हिन्दी कोश, पृ० 284
4. डॉ० सम्पूर्णानन्द, समाजवाद, पृ० 19
5. Reuter, E.B., Handbook of Sociology, P.19
6. Ginsberg, M, Sociology

के अन्दर रहकर व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को पूरा करता है और यह समाज की भी जिम्मेवारी बन जाती है कि वह अपने सदस्य की सहायता करे। "प्रत्येक प्रकार के समाज में एक प्रकार की संरचनात्मक व्यवस्था का विकास होता है, जिससे सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।"[7] समाज के विषय में ओड़म का कथन है– "दूसरे दृष्टिकोणों से समाज को मानव व्यवहार एवम् उसी के परिणामस्वरूप उत्पन्न सभी सम्बन्धों की समस्याओं और सामंजस्यों से चित्रित किया जा सकता है।"[8]

इन सभी परिभाषाओं से स्पष्टता झलकती है कि सामाजिक सम्बन्धों की परिणति में ही समाज का उदय होता है। इन्हीं सम्बन्धों में ही समाज की सार्थकता तथा पहचान दिखाई देती है। समाज में व्यक्ति की अपनी आवश्यकताएँ होती हैं और उन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से व्यवहार करता है और दूसरा व्यक्ति उस व्यवहार का प्रत्युत्तर अपने व्यवहार से देता है। इसी प्रकार समाज में व्यवहारों का क्रम निरन्तर चलता रहता है। समाजशास्त्रीय शब्दावली में सामाजिक सम्बन्धों के इस आदान–प्रदान एवम् व्यवहार को 'समाज' कहा गया है। मैकलिवर और पेज ने इस बात की पुष्टि की है– "सामाजिक सम्बन्धों की संपृक्तता ही 'समाज' है।"[9] 'समाज' शब्द विशाल तन्तुओं से मिलकर बना है। इस समाज का सबसे बड़ा तन्तु व्यक्ति है। व्यक्ति समाज में रहता है, समाज में व्यवहार करता है, इसलिए व्यक्ति सामाजिक प्राणी कहलाता है। सामाजिक प्राणी होने के नाते उसकी समाज से अनेक आकांक्षाएँ एवम् आवश्यकताएँ रहती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य समाज के अनेक व्यक्तियों से व्यवहार करता है, जिसमें उसे सफलता और असफलता दोनों ही प्राप्त होती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु उसे अनेक

---

7. Cooley, The Social Process
8. डॉ० द्वारिका प्रसाद गोयल, समाज, पृ० 4
9. Odum; Understanding Society, P. 9

विरोधों एवम् संघर्ष का सामना करना पड़ता है। सहयोग प्राप्त हो या न हो, आवश्यकताएँ पूर्ण हों या न हों, परन्तु इतना तो निश्चित ही है कि व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक लोगों से सम्पर्क किया होगा और उनसे व्यवहार किया होगा। परिणामतः व्यक्ति के दूसरे व्यक्तियों से सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं, जो व्यक्ति के इर्द–गिर्द जाल की भाँति जुड़ जाते हैं। सम्बन्धों का यह जाल ही समाज है। अतः समाज एक सामाजिक सम्बन्धों का योग है। इन सम्बन्धों की गणना करना जटिल कार्य है। सामाजिक पहलू पर यदि व्यक्ति के सम्बन्धों का पर्यालोचन करें तो देखते हैं कि परिवार में स्त्री के ही विभिन्न रूप नहीं हैं वरन् पुरुष के भी अनेक रूप हैं; यथा – पिता, भाई, चाचा, ताऊ, मामा, मौसा, साला, बेटा आदि अनेक सम्बन्ध होते हैं। ये सभी सम्बन्ध प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में नहीं होते हैं।

किसी सभ्यता के विकास के प्रथम सोपान में समाज का रूप सरल होता है लेकिन ज्यों–ज्यों विकास बढ़ता जाता है, त्यों–त्यों इसका रूप बड़ा और जटिल होता चलात जाता है। समाज के इस जटिलतम रूप के विभिन्न घटक हैं जो एक दूसरे घटक से किसी न किसी भाँति जुड़े रहते हैं। इन घटकों में धर्म, राजनीति, अर्थव्यवस्था और सामाजिक संस्कृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके साथ ही समाज के तीन स्तर हैं– "समाज का पहला स्तर सीमित और सामान्य होता है। इस स्तर पर समाज मोहल्लों या गाँवों की परिकल्पना में बँधा होता है। इस स्तर पर सभाज किसी भी तरह की बड़ी हलचलों से अप्रभावित रहता है। इस समाज के अपने विविध विधि–विधान होते हैं, जो परम्परा से चले आ रहे होते हैं। आपसी व्यवहार, सद्भाव और लेन–देन के इस समाज में अपने नियम होते हैं। सुख–दुःख प्रायः साँझे रहते हैं। समाज का दूसरा रूप वृहत्तर और व्यापक होता है। इस स्तर पर समाज अपनी भौगोलिक सीमाओं से बाहर निकलने लगता है। उसमें वैचारिकता का उदय होता है और वर्गीय चेतना की समझ पैदा होने लगती है। तीसरा स्तर अन्तरराष्ट्रीय, सार्वभौमिक स्तर है जिसकी समीक्षा वैचारिक और दार्शनिक धरातलों पर होती है।

कोई भी राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय हलचल इस समाज को सीधे ही प्रभावित करती है।"[10]

'समाज' शब्द को विभिन्न पर्याय शब्दों द्वारा भी सम्बोधित किया जाता है। यथा– समुदाय, समिति, संस्था या रूप समाज। परन्तु इन सभी शब्दों में अन्तर है। समाज अमूर्त है, परन्तु यह संस्था नहीं है, क्योंकि समाज साध्य है और संस्था साधन है। समाज विस्तृत व्यवस्था है और संस्था उसका अंग। समाज में सामूहिकता है, पर वह एक, समाज, समुदाय अथवा समिति नहीं, क्योंकि समाज व्यक्तियों का ही नहीं वरन् सामाजिक सम्बन्धों का जाल भी है।

मनुष्य का संतुलित विकास समाज से अन्यत्र सम्भव नहीं है। समाज में ही मनुष्य अपना संतुलित विकास कर सकता है। मनुष्य के विकास पर ही समाज का विकास केन्द्रित रहता है। अतः मनुष्य तथा समाज का विकास परस्पर सम्बन्धित हैं, दोनों ही एक–दूसरे के विकास के पूरक हैं। "समाज मनुष्य के अन्तःसम्बन्धों के अन्तर्गत केवल और पूर्ण रूप से इस सम्भावना का ही समावेश होता है किसी सार्थक बोधगम्य भाव में कोई सामाजिक क्रिया होगी।"[11] प्राकृतिक रूप से दूसरे के साथ रहकर जीवन बिताना मनुष्य की आवश्यकता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर मनुष्य एक के बाद दूसरे के सम्पर्क में आकर सह–अस्तित्व के रूप में बस्तियों से लेकर सभ्यता और फिर सांस्कृतिक जीवन का विकास करता है। यही उसकी सामाजिक होने की पहचान है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समाज का अस्तित्व व्यक्ति–व्यक्ति के बीच पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर उत्तरोत्तर विकसित और परिष्कृत होता रहा है।

---

10. सम्पा॰ शशिभूषण सिंहल, साहित्यानुशीलन (अन्तर्विद्यावर्ती शोध-पत्रिका) में डॉ॰ बैजनाथ सिंहल का लेख - समाजशास्त्रीय शोध, पृ॰ 52, 53
11. Max Weber, The theory of an Economic orgranisation, P. 78

० समाज के तत्त्व

मानव समाज के अन्य प्राणियों से भिन्न है। मानव के अन्दर कुछ ऐसी विशिष्टताएँ हैं, जो उसे अन्य प्राणियों से इतर सिद्ध करती हैं। जैविक या शारीरिक क्षमता ही कारण नहीं बल्कि अन्य प्राणियों में इतर घोषित करने वाला आधार वृद्धि है जिसके फलस्वरूप मानव बोलना, लिखना, पढ़ना और पढ़कर समझना या तर्क–वितर्क कर सकता है। बुद्धि के बल पर मानव ने अपने को अन्य प्राणियों से अलग घोषित किया और सभ्यता के विकास में अपनी अहम् भूमिका अदा की। मानव ने जीवन को सुखी और समृद्ध बनाने के लिए अनेक आविष्कार किये, जिससे उसने अपना जीवन ही सुखी नहीं किया वरन् सम्पूर्ण विश्व की दूरी कम कर दी। निस्सन्देह मनुष्य संसार का अद्भुत प्राणी है। इसलिए मनुष्य को जैविक स्तर पर पशुओं की श्रेणी में रखते हुए भी उसे ज्ञानयुक्त प्राणी कहा जाता है। मानव की भाँति अन्य प्राणियों में यह उत्तरोत्तर विकास दिखाई नहीं देता। इस विकास प्रक्रिया में मनुष्य एक से दूसरे के सम्पर्क में आया, जिससे 'समाज' की नींव पड़ी और समाज का अस्तित्व उभरा।

जैविक विकास की दृष्टि से प्रकृति मनुष्य तक पहुँचकर इस विकास को सम्पन्न कर लेती है। बौद्धिक दृष्टि से केवल मानव ही अन्य प्राणियों में श्रेष्ठ है। शायद बुद्धि के आधार पर ही मानव को 'व्यक्ति' की संज्ञा से विभूषित किया गया। मानव ने अपना अनेक स्तरों पर विकास करते हुए अपनी एक अलग सभ्यता विकसित की। अब तक प्रचलित समाज की अनेक व्याख्याओं एवं परिभाषाओं का गहनता से अध्ययन किया जा रहा है। समाजशास्त्री और विद्वान आज भी इस दिशा में चिन्तन कर रहे हैं। साधारण रूप में समाज के आधार तत्त्व, लक्षण, घटक, समाज के स्वरूप में ही निहित रहते हैं, परन्तु यहाँ पर समाज के तत्त्वों को अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

व्यक्तियों के समूह को समाज कहते हैं। समाज केवल व्यक्ति समूह के

रूप में ढाँचा मात्र नहीं है बल्कि इसके अन्तर में एक प्रक्रिया और गतिशीलता विद्यमान रहती है। यह प्रक्रिया और गतिशीलता समाज में रहने वाले लोगों में उत्पन्न सम्बन्ध पद्धति और अन्तःक्रियाओं से जन्मे, नियमों या बन्धनों के रूप में स्वयं को रूपायित करती है। समाज, सामाजिक सम्बन्धों पर आधारित एक गतिशील व्यवस्था का नाम है। इस व्यवस्था के रूप में समाज के तत्त्वों का उल्लेख किया गया है।

○ समाज अमूर्त है

समाज सम्बन्धित विभिन्न परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है। सामाजिक सम्बन्धों को न तो मूर्त रूप में देखा जा सकता है और न ही वह हाथ से स्पर्श करने योग्य है। हम केवल सम्बन्धों के विषय में कल्पना या अनुभव कर सकते हैं। इसलिए समाज अमूर्त शब्द है। इस सम्बन्ध में रयूटर की परिभाषा ठीक प्रतीत होती है– "समाज एक अमूर्त शब्द है, जो कि एक समूह के अथवा सदस्यों के मध्य स्थित परस्पर सम्बन्धों की जटिलता का बोध कराता है।"[12]

○ समाज में सहयोग एवं संघर्ष

सामाजिक जीवन परस्पर सहयोग पर आधारित है। इसके साथ ही हम यदि समाज के इतिहास का अवलोकन करें तो समाज में संघर्ष की प्रवृत्ति सदैव रही है। समाज की उत्पत्ति ही संघर्ष से दिखाई देती है। इस प्रकार सहयोग एवं संघर्ष के सम्मिलित रूप में समाज का निर्माण हुआ है। श्री जार्ज सिम्मेल का कथन है कि समाज में दो प्रकार की शक्तियों का समावेश होता है – एक तो वह प्रकार है जो मनुष्यों को एक सूत्र में बाँधती है और दूसरी वह जो उन्हें पृथक् करती है। वास्तव में सहयोग और संघर्ष एक सुप्रतिष्ठित समाज का एक प्रमुख घटक है, साथ ही एक आवश्यक शर्त भी है। यदि एक व्यक्ति की आवश्यकताओं में अधिकता है, तो क्या

---

12. Reuter, Handbook of Sociology, Dryden Press Inclave, New York, P.157

वह उन सभी आवश्यकताओं को अपने बल पर पूर्ण करने में समर्थ होगा ? कदापि नहीं ! उसको दूसरे व्यक्तियों के सहयोग की आवश्यकता पर निर्भर रहना पड़ेगा। सहयोग की भाँति ही समाज में संघर्ष का होना भी स्वाभाविक है। समाज में संघर्ष की अभिव्यक्ति प्रायः अनेक रूपों में व अनेक स्तरों पर होती है। वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति में, दूसरे व्यक्तियों से कुछ न कुछ शारीरिक, मानसिक भिन्नता अवश्य होती है, जो किसी भी स्तर पर संघर्ष का रूप धारण कर लेती है। समाज में शोषण और अन्याय की समाप्ति संघर्ष द्वारा ही होती है।

o पारस्परिक जागरूकता

एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की सत्ता का आभास करके ही सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करता है। जब दो व्यक्ति आपस में व्यवहार करते हैं तथा इस माध्यम से एक–दूसरे के नजदीक आते हैं और इन परिस्थितियों में वे एक–दूसरे को प्रभावित कर जाते हैं। जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना और पारस्परिक जागरूकता उत्पन्न हो सकती है। जागरूक सम्बन्ध ही सामाजिक कहलाते हैं। भाई–बहन का सम्बन्ध, माता–पिता का सम्बन्ध, पति–पत्नी का सम्बन्ध दो मित्रों का सम्बन्ध इत्यादि – ये सभी सम्बन्ध सामाजिक हैं क्योंकि इनमें से प्रत्येक के अन्तर में पारस्परिक जागरूकता पायी जाती है।

o अन्योन्याश्रितता

अन्योन्याश्रितता भी समाज की एक प्रमुख विशेषता है। वास्तव में समाज की जन्मस्थली यह अन्योन्याश्रितता रही है। मानव की कुछ आवश्यकताएँ होती हैं जिनसे वह समाज में जीवन निर्वाह करता है। ये आवश्यकताएँ आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, शारीरिक होती हैं। सामाजिक व सांस्कृतिक आवश्यकताएँ मानव को सामाजिक प्राणी बनने के लिए मजबूर करती है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति में उसे समाज से व्यवहार करना पड़ता है जिससे वह एक सामाजिक प्राणी बन जाता है। उसकी ये आवश्यकताएँ जन्मकाल से ही शुरु हो जाती हैं। जन्म की

प्रारम्भिक अवस्था में मानव को अपने माता–पिता एवं परिवार के सदस्यों पर निर्भर रहना पड़ता है और ज्यों–ज्यों उसका विकास शुरु होता है त्यों ही वह परिवार की सीमाओं से बाहर निकलकर समाज के अन्य व्यक्तियों पर निर्भर हो जाता है। मानव एक–दूसरे की निर्भरता पर ही जीवन व्यतीत करता है।

o **परिवार**

परिवार समाज की महत्त्वपूर्ण इकाई है। यह समाज का प्राथमिक समूह है। परिवार का निर्माण विवाह के परिणामस्वरूप होता है। श्री रामनारायण यादवेन्दु के अनुसार– "परिवार स्वाभाविक प्रेम के आधार पर टिका हुआ है। उसका मुख्य प्रयोजन है शैशवकाल में बाल–बालिकाओं का भरण–पोषण। परन्तु साथ ही साथ परिवार प्रेम, सहानुभूति, मातृ–प्रेम, पितृ–प्रेम और मानव–प्रेम की आरम्भिक शिक्षा प्रदान करता है। परिवार मानव शिक्षा की प्रारम्भिक पाठशाला है। परिवार का मूलाधार है – दाम्पत्य सम्बन्ध।"[13] परिवार अपनी–अपनी सीमाओं में अपने सदस्यों की सुरक्षा अथवा सहयोग की भावना सिखाता है। परिवार ही व्यक्ति के अन्दर सहयोग, सद्‌भावना, त्याग, परोपकार जैसे सद्‌गुणों का विकास करता है। इसके साथ ही परिवार व्यक्ति के असत् गुणों एवं बुराइयों से मुक्ति प्रदान करवाता है। परिवार ही मानव के सार्वभौमिक एवं चिरस्थायी मूल्यों के विकास की आधार भूमि है। पारस्परिक लगाव, सहानुभूति, न्याय तथा पारस्परिक सुख कामना और प्रसन्नता के लिए निज–सुख त्याग आदि पारिवारिक मूल्य हैं। अतः परिवार व्यक्ति के विकास में एवं उसके उत्तरदायित्व बोध में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अतः परिवार बच्चों की प्रथम पाठशाला होती है और माँ उस बच्चे की पहली शिक्षिका। परिवार, व्यक्ति को पूर्णता प्रदान करता है, जिसे वृहत्तर स्तर पर सामाजिकता के प्रति अनिवार्य कदम भी कहा जा सकता है। इस प्रकार परिवार व्यक्ति को अकेलेपन से उभारने वाली प्रथम संस्था है।

---

13. श्री रामनारायण यादवेन्दु, भारतीय नीतिविज्ञान, पृ० 162

o समाज केवल मनुष्य तक सीमित नहीं है

सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण का आधार सामाजिक जागरूकता है। जहाँ भी ये सम्बन्ध पाये जाते हैं, वहाँ समाज का निर्माण सम्भव है। मनुष्यों के सम्बन्धों की भाँति विश्व के अन्य प्राणी भी सम्बन्ध बनाकर रहते हैं। छोटे से छोटे जीव से लेकर बड़े से बड़ा जीव भी सम्बन्ध बनाकर रहता है परन्तु वह मानव की तुलना में नगण्य है क्योंकि मानव बुद्धिवान प्राणी है जबकि अन्य प्राणी सामान्यतः मनुष्य की अपेक्षा कम बुद्धिमान है। बन्दर का बच्चा अपनी माँ की छाती से चिपका रहता है और बन्दर भी यह जानता है कि वह उसका बेटा है। यदि कोई बन्दर के बच्चे को सताने की कोशिश करे तो बन्दर उसका विरोध जताता है। इसी प्रकार गाय का दूध निकालते समय किसी दूसरी गाय के बच्चे को लाया जाए तो वह गाय उस बच्चे को अपने पास भी नहीं आने देगी। यही अन्य प्राणियों की जागरूकता का प्रतीक है। अतः यह कहना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता कि समाज केवल मनुष्यों तक ही सीमित है। वास्तव में अन्य प्राणियों का भी अपना समाज होता है। वास्तव में, जहाँ जीवन है, वहाँ समाज है।

समाज और व्यक्ति

समाज और व्यक्ति एक–दूसरे से जुड़े हुए हैं तथा दोनों में गहरा सम्बन्ध है। इन दोनों को पृथक् करके नहीं समझा जा सकता है। वास्तविकता तो यह है कि व्यक्ति के बिना समाज और समाज के बिना व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं है।

सामान्यतः जो व्यक्त होता है, उसे व्यक्ति कहते हैं। मानक हिन्दी कोश के अनुसार– "मनुष्य या किसी शरीरधारी का सारा शरीर जिसकी पृथक् सत्ता मानी जाती है और जो किसी समूह या समाज का अंग माना जाता है, उसे व्यक्ति कहते हैं।"[14] व्यक्ति बाह्य रूप से अपने बाहरी व्यक्तित्व रूप, रंग, आकार, वेशभूषा तथा

---

14. रामचन्द्र वर्मा, मानक हिन्दी कोश, पाँचवाँ खण्ड, पृ० 124

विचारों के रूप में अपने आन्तरिक व्यक्तित्व को प्रकट करता है। वह अपने विचारों को भाषा के माध्यम से प्रकट करता है।

समाज और व्यक्ति दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनमें से किसी एक पक्ष को महत्त्व देना न्यायोचित नहीं है। व्यक्ति का जन्म समाज में होता है और वह जीवनपर्यन्त समाज से ही दिशा–निर्देश प्राप्त करता है। व्यक्ति समाज से अलग होकर पशु तुल्य विकास कर सकता है उसका वह नैतिक, आध्यात्मिक और आचारिक स्तर पर समाज के बिना विकास असम्भव है। टरायन एडवर्ड के अनुसार– "समाज में मनुष्य की वही स्थिति है जो जन्मजात कली में विकसित होते हुए फूल की। उसकी कार्यक्षमता पूर्णता के साथ समाज में ही विकसित होती है।"[15] समाज व्यक्ति को विकसित होने के अवसर प्रदान करता है और दूसरी तरफ व्यक्ति भी समाज द्वारा निर्मित मर्यादाओं को स्वीकार करता है। समाज रहित मनुष्य की मनुष्यता ही समाप्त हो जाती है। अगर कोई समाज द्वारा बनाई गयी मर्यादाओं का हनन करता है, तो समाज उसे दण्डित करता है। समाज व्यक्तियों का ऐसा संगठन है जो विचारों और भावनाओं की नींव पर खड़ा है जिसकी गति की कोई विशिष्ट दिशा होती है। रीति–रिवाज, रस्म, संस्कार, जातीयता, साम्प्रदायिकता के कारण सामाजिक लोगों में अन्तःसम्बन्ध होते हैं। प्रो॰ राइट के अनुसार– "समाज का अर्थ केवल व्यक्तियों का समूह नहीं है, समूह में रहने वाले व्यक्तियों के जो पारस्परिक सम्बन्ध हैं, उन सम्बन्धों के संगठित रूप को समाज कहते हैं।"[16] व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध में आज दो धारणाएँ प्रचलित हैं। एक धारणा व्यक्ति को मुख्य मानती है तो दूसरी समाज को। परन्तु यह विचारधारा निरर्थक है। दोनों के सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हुए मैकाइवर ने कहा है– "व्यक्ति की मानसिक और शारीरिक आवश्यकताओं के कारण समाज

---

15. ट्रायन एडवर्ड, दी न्यू डिक्शनरी ऑफ थाट्स, पृ॰ 626

16. डॉ॰ जगदीश सहाय, समाज दर्शन की भूमिका, पृ॰ 25

को अपने सभी रीति–रिवाजों, संस्थाओं और साधनों में सामाजिक जीवन का बड़ा ही परिवर्तनशील क्रम प्राप्त होता है। एक ऐसा क्रम जिसके अन्तर्गत लोग जन्म पाते हैं और अपने आपको पूर्ण करते हैं और आने वाली पीढ़ियों को जीवन की आवश्यकताएँ दे देते हैं। हमें ऐसे किसी भी विचार को अस्वीकृत कर देना चाहिए, जिसमें व्यक्ति और समाज का परस्पर सम्बन्ध केवल एक अथवा दूसरे पहलू से ही देखने का प्रयास किया जाता है।"[17] अन्ततः समाज और व्यक्ति अभिन्न हैं तथा एक–दूसरे के पूरक हैं, पोषक हैं तथा संवर्धक हैं। समाज के बिना व्यक्ति और व्यक्ति के बिना समाज अधूरा है। रामविलास शर्मा के अनुसार– "व्यक्ति के बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती, समाज के बिना व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी के रूप में असम्भव है। x x x व्यक्ति समाज का अंग है, इसलिए समाज निरपेक्ष व्यक्ति की सत्ता नहीं होती।"[18]

एक ही प्रकार के उद्देश्यों और संस्कारों से जुड़े हुए व्यक्ति एक देश अथवा भू–भाग में रहते हैं तथा जिनकी एक स्वतन्त्र आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था होती है, वे सभी मिलकर एक समाज का निर्माण करते हैं। समाज भीड़ से भिन्न होता है। रीति–रिवाज, रस्मों, संस्कारों तथा जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से सामाजिक लोगों में अन्तःसम्बन्ध होते हैं। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तथा वह समाज का मुख्य घटक है। मनुष्य की शारीरिक और मानसिक क्षमताओं का सम्यक् विकास समाज में ही होता है। यदि कोई व्यक्ति समाज से विलग रहकर जीवन व्यतीत करता है, तो उसका विकास पाशविक स्तर का होगा। समाज से अलग व्यक्ति का शारीरिक विकास तो सम्भव है परन्तु मानसिक और आचरिक विकास समाज में ही सम्भव है। उपर्युक्त कथन की पुष्टि हेतु निम्न उदाहरण दिया जा सकता है–

---

17. मैंकाइवर एण्ड पेज, सोसायटी, पृ० 4

18. रामविलास शर्मा, आस्था और सौन्दर्य, पृ० 24

कमला एवं अमला – एक चर्च में पादरी जे॰ सिंह को मानव के दो बच्चे भेड़िये की माँद में मिले जिन्हें भेड़िया उठाकर ले गया था और जिनकी आयु क्रमशः दो और आठ वर्ष थी। दोनो लड़कियाँ थीं जिनमें छोटी का नाम अमला और बड़ी लड़की का नाम कमला था। छोटी लड़की अमला की कुछ माह बाद मृत्यु हो गई परन्तु बड़ी लड़की कमला जीवित रही। कमला बचपन से ही अपने माँ–बाप यानि समाज से विलग हो गई थी, इसलिए उसमें कोई भी सामाजिक गुण विकसित नहीं हुआ। वह दोनों हाथ और पैरों से पशु की भाँति चलती थी, भेड़िए के समान गुर्राती थी और मनुष्य को देखकर डरती थी। उसका कोई भी आचरण मानव की भाँति नहीं था। वह दिन की अपेक्षा रात को घूमती थी। वह कच्चा माँस खाती थी और भेड़िये की तरह दूध पीती थी। परन्तु जब पादरी की पत्नी ने उसका पालन–पोषण किया तब कहीं जाकर वह धीरे–धीरे बोलने लगी। इसके साथ–साथ कपड़े पहनना, भोजन करना, आसपास के लोगों विशेषकर पादरी की पत्नी के प्रति उसका लगाव बढ़ने लगा। इस प्रकार मानव–समाज के सम्पर्क में आकर ही उसमें मानवोचित सामाजिक गुणों का विकास हुआ। इस प्रकार कमला के उदाहरण से स्पष्ट है कि व्यक्ति में सामाजिक गुण तब तक विकसित नहीं हो पाते जब तक वह इस सामाजिक संस्था का सदस्य बनकर प्रशिक्षण नहीं ले लेता। मानव समाज से दूर रहने के कारण कमला के अन्दर एक भी मानवीय गुण नहीं पनपा। इससे स्पष्ट है कि व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है और वह भी इस अर्थ में कि मानव–स्वभाव के निर्माण के लिए जो संस्कार एक व्यक्ति को वंशानुक्रम से प्राप्त हाते हैं, वे ही काफी नहीं होते वरन् वास्तविक सामाजिक प्राणी का निर्माण समाज में ही होता है। समाज व्यक्ति को व्यक्तित्व के विकास के लिए अवसर प्रदान करता है जिससे मानव स्वभाव व व्यक्तित्व का निर्माण तथा विकास सम्भव हो। इसके अतिरिक्त समाज ही व्यक्ति के व्यवहार, आचार–विचार को प्रभावित और नियन्त्रित करता है। परन्तु व्यक्ति के विकास में समाज की अहम् भूमिका के बाद यह नहीं मान लेना चाहिए कि समाज ही सब कुछ है। व्यक्ति के

बिना समाज का अस्तित्व ही नहीं है। व्यक्ति को निकाल कर समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। अन्ततः व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। व्यक्तियों के विकास में जहाँ समाज का; वहाँ समाज के उत्थान में व्यक्तियों के व्यक्तित्वों का विकास होता है। दोनों के हित एक–दूसरे में निहित हैं। मैकाइवर तथा पेज के अनुसार– "व्यक्ति तथा समाज के बीच का सम्बन्ध एकतरफा सम्बन्ध नहीं है, इनमें से किसी को भी समझने के लिए दोनों ही आवश्यक हैं।"[19]

(ख) समाज और साहित्य

साहित्य और समाज दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये दोनों एक–दूसरे के सहयोगी हैं। एक के अभाव में दूसरा अधूरा है। साहित्य को समाज से अलग नहीं किया जा सकता है और न ही समाज को साहित्य से। क्योंकि साहित्य का केन्द्र मानव रहता है और मानव एक सामाजिक प्राणी है। साहित्यकार अपने साहित्य में मानव की भावनाओं, अनुभूतियों एवं विचारों को लिपिबद्ध करता है। इसलिए हम निभ्रान्त रूप से कह सकते हैं कि साहित्य सामाजिक विषय है। साहित्य में समाज के हर पहलू पर विवेचन एवं चिन्तन किया जाता है। इसीलिए महावीर प्रसाद द्विवेदी ने साहित्य को 'समाज का दर्पण' कहा है।

'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा के शब्द 'सहितस्य भावः साहित्यम्' से हुई है, जिसका अर्थ है – साथ होना। अर्थात् जिसमें साथ होने का भाव हो, उसे साहित्य कहते हैं।

हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार - "साहित्य में उन सभी बातों का जीवन्त विवरण होता है, जिसे मनुष्य ने देखा है, अनुभव किया है, सोचा है और समझा है।"[20]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार– "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा

---

19. मैकाइवर तथा पेज, समाज, पृ० 136

20. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, साहित्य सहचर, पृ० 3

कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आयी है, उसे कविता कहते हैं।"[21] शुक्ल जी ने साहित्य या काव्य में रागतत्त्व की प्रधानता स्वीकार की है क्योंकि काव्य का निर्माण रागतत्त्व से होता है।

मुंशी प्रेमचन्द के अनुसार – "मेरे विचार से साहित्य जीवन की आलोचना है। चाहे वह निबन्ध के रूप में हो, चाहे कहानियों के या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या कहना चाहिए।"[22] मुंशी जी साहित्य को जीवन की आलोचना एवं व्याख्या करने वाला मानते हैं। मानव जीवन की व्याख्या एवं आलोचना ही साहित्य का निर्माण करते हैं। साहित्य के विषय में भारतीय विद्वानों के अतिरिक्त पाश्चात्य विचारकों ने भी अपने मत दिए हैं तथा साहित्य को परिभाषित करने की चेष्टा की है।

विलियम वड्र्सवर्थ के अनुसार -

"प्रबल भावों के सहज उद्रेक को कविता कहते हैं।"[23]

मैथ्यू आर्नल्ड के अनुसार -

"संसार में जो कुछ अच्छा सोचा और कहा गया है, वही साहित्य है।"[24]

हैनरी हडसन के अनुसार -

"मानव के लिए उपयोगी तथा रुचिकर ग्रंथ साहित्य है।"[25]

इसके अतिरिक्त 'साहित्य' को परिभाषाबद्ध करने का संस्कृताचार्यों ने भी प्रयास किया है।

---

21. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, भाग-1, पृ० 113
22. मुंशी प्रेमचन्द, साहित्य का उद्देश्य, पृ० 10
23. उद्धृत - डॉ० द्वारिका प्रसाद सक्सेना, निबन्ध, नवनीत, पृ० 9
24. उद्धृत - देवीप्रसाद गुप्ता, साहित्य सिद्धान्त एवं आलोचना, पृ० 49
25. वही,

भोज के अनुसार -

"निर्दोष गुणवत्काव्यत्यमलंकारैरलंकृतम्

रसान्वितम् कविः कुर्वन कीर्तिम् प्रीतिंच विंदति।"[26]

अर्थात् दोषरहित, गुणयुक्त, अलंकारों से युक्त एवं रस समन्वित काव्य को करता हुआ कवि कीर्ति और प्रीति को प्राप्त होता है।

कुन्तक के अनुसार -

"शब्दार्थो सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि

बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम् तद्विदाह्लादकारिणी।"[27]

अर्थात् सहृदयों को आह्लादित करने वाली वक्रतामय कवि कौशल समन्वित रचना में स्थित शब्द और अर्थ काव्य है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आलोक में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि साहित्य और मानव जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मानव द्वारा किए गए कार्यों का प्रतिफलन साहित्य में साफ–साफ दिखाई देता है।

साहित्य एक सामाजिक वस्तु है और साहित्यकार एक सामाजिक प्राणी है। साहित्यकार समाज की विभिन्न समस्याओं का अपने साहित्य में चित्रण करता है। वह अपने साहित्य में पारिवारिक जीवन की विभिन्न दशाओं, उनसे उत्पन्न होने वाले प्रश्नों, सामाजिक परम्पराओं, रीति–रिवाजों और प्रेम सम्बन्धी विभिन्न विषयों पर लेखनी चलाता है। अतः साहित्यकार की रचनाएँ सामाजिक परिवेश में विकसित होती हैं। वह अपनी अनुभूतियों को व्यष्टि से समष्टि प्रदान करता है। ये अनुभूतियाँ एवं भावनाएँ साहित्यकार की अपनी न रहकर समाज की बन जाती है। परन्तु इस लेखन में रचनाकार के साहित्य सिद्धान्त स्वमेव समाविष्ट हो जाते हैं। मुंशी प्रेमचन्द

---

26. सरस्वती कण्ठाभरण, प्रथम अध्याय, दूसरा श्लोक, पृ० 2

27. वक्रोक्ति जीवितम्, पृ० 17

के अनुसार– "साहित्यकार बहुधा अपने देशकाल से प्रभावित होता है। जब कोई जहर देश में उठता है तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असम्भव हो जाता है।"[28] साहित्यकार समाज का चित्र अपने साहित्य में यथावत् नहीं उतारता वरन् पात्रों के माध्यम से संकेतित करता चलता है। यथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'अँधेर नगरी' में अंग्रेजी शासन की अव्यवस्था की तस्वीर राजा एवं उसके नगर के माध्यम से चित्रित की है।

साहित्य और समाज में घनिष्ठ सम्बन्ध है। समाज में जो कुछ भी घटित होता है उसका प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर अवश्य पड़ता है। जो साहित्य अपने सामाजिक परिवेश से अलग होता है उसे उत्कृष्ट साहित्य नहीं कहा जा सकता है क्योंकि समाज साहित्यकार को अनुभूतियाँ प्रदान करता है। जिसके आलोक में रचनाकार रचना करता है। डॉ॰ शशिभूषण सिंहल के अनुसार– "मनुष्य जीवन जीता है और उसकी अनुभूति को अपने व्यक्तित्व से नयी भंगिमा देकर साहित्य के रूप में परिणत करता है। साहित्य की जड़ें जीवन में हैं और उसके बदले में साहित्य स्वतः जीवन का पथ प्रशस्त करता है।"[29]

साहित्य समाज का जीवन्त वाहक है। साहित्य ही किसी देश के समूचे इतिहास को साहित्य की विभिन्न विधाओं के रूप में सुरक्षित रखता है। यह उस देश की सामाजिक चेतना, राजनीतिक विचारधारा तथा समस्त संस्कृति का इतिहास होता है। साहित्यकार के समग्र व्यक्तित्व को समझने के लिए उसका साहित्य ही पर्याप्त नहीं है वरन् उसके व्यक्तिगत जीवन को, राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में रखकर समझना आवश्यक है। साहित्य मानव–मस्तिष्क का भोजन है। जिस प्रकार से मानव के संतुलित विकास के लिए संतुलित आहार की आवश्यकता

---

28. मुंशी प्रेमचन्द, साहित्य का उद्देश्य, पृ॰ 3

29. डॉ॰ शशिभूषण सिंहल, हिन्दी साहित्य : विधाएँ और दिशाएँ, पृ॰ 13

होती है, ठीक उसी प्रकार मानव के मस्तिष्क के विकास के लिए सत्साहित्य की आवश्यकता होती है।

साहित्य समाज का दर्पण है। वह समाज की विभिन्न समस्याओं को चित्रित ही नहीं करता, वरन् विभिन्न समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत करता है। साहित्यकार का यह नैतिक दायित्व बनता है कि वह अपने साहित्य में समाज की बुराइयों को चित्रित करने के साथ ही उसका समाधान भी प्रस्तुत करे, नहीं तो साहित्य समाज की बुराइयों का ग्रंथ मात्र बनकर रह जाएगा। अतः कहा जा सकता है कि साहित्य और समाज एक सिक्के के दो पहलू हैं। एक के अभाव में दूसरा अधूरा है।

मनुष्य समाज का अभिन्न अंग है, इसलिए वह समाज के प्रत्येक घटनाक्रम को प्रभावित करता है। समाज की विभिन्न क्रियाओं से प्रभावित होता है। समाज की विभिन्न क्रियाओं के संघटन से उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। इतना ही नहीं वह भी अपने आचार–विचार, व्यवहार तथा संस्कार से समाज को प्रभावित करता है। उसके व्यक्तित्व की प्रत्येक क्रिया का समाज पर स्पष्ट रूप से प्रभाव देखा जा सकता है। इस प्रकार से दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है और दोनों ही एक–दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक है। कोई भी व्यक्ति समाज से विलग अपना अपना अस्तित्व नहीं बना सकता, चाहे वह संन्यासी या साधु ही क्यों न हो। सामान्यतः माना जाता है कि संन्यासी व्यक्ति का समाज से सम्बन्ध नहीं होता, वह समाज से अलग अपना जीवन निर्वाह करता है, परन्तु वह भी समाज निरपेक्ष नहीं रह सकता है। अतः वह भी जन्म से मृत्युपर्यन्त समाज के सदस्य के रूप में ही जीवनयापन करता है। अरस्तु के अनुसार– "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह मनुष्य जो समाज में नहीं रह सकता, जो समाज के सामान्य जीवन को नहीं जी सकता, वह या तो देवता है या पशु।"[30] इस कथन से स्पष्ट है कि 'सामाजिकता'

---

30. एस० एस० शर्मा, समाजशास्त्र के मूल तत्त्व, पृ० 234

मानव प्रकृति का एक अनिवार्य तथा अन्तर्निहित गुण है। 'सामाजिकता' समाज से ही प्राप्त हो सकती है और समाज का अस्तित्व सामाजिक व्यक्तियों के बिना असम्भव है, किन्तु सामाजिक व्यक्ति की उत्पत्ति भी समाज के बिना नहीं हो सकती। अतः प्रश्न उठता है कि मनुष्य ने समाज का निर्माण किया या समाज ने मनुष्य का। व्यक्ति और समाज में से किसे प्राथमिकता दी जाए, कहना अत्यन्त जटिल है। वस्तुतः यह प्रश्न भ्रामक है क्योंकि व्यक्ति और समाज एक दूसरे से इतने घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं कि व्यक्ति और समाज पर पृथक् रूप में विचार करना असम्भव सा है। व्यक्तिहीन समाज और समाज से असम्पृक्त व्यक्ति अवांछनीय लगता है। वास्तव में व्यक्ति और समाज परस्पर अन्योन्याश्रित हैं, एक के अभाव में दूसरे का कोई अस्तित्व नहीं है।

जब हम समाज और मनुष्य के संघटनों को स्वीकार करते हैं तो हमारा अभिप्राय यही होता है कि समाज के अभाव में, सामाजिक विरासत को प्राप्त किए बिना मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास सम्भव नहीं होता। समाज ही उन दशाओं और परिस्थितियों को जुटाता है, जिनमें रहकर मनुष्य व्यक्तित्व का विकास कर सकता है। समाज हमारी संस्कृति की रक्षा करता है और इस रक्षित संस्कृति को आने वाली पीढ़ियों को सौंप देता है। एक व्यक्ति के नाते यह हमारी शक्तियों को बढ़ाता और सीमित करता है। सांस्कृतिक परम्परा हमारे व्यक्तित्व का दिशा निर्देशन करती है। इस प्रकार समाज न केवल हमारी शारीरिक आवश्यकताओं की ही पूर्ति करता है, वरन् हमारे मानसिक साधन और शक्ति का निर्णय भी करता है।

कहा जा सकता है कि व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध एकतरफा नहीं है। दोनों ही एक–दूसरे की व्यापकता के लिए आवश्यक हैं। "न तो केवल व्यक्ति समाज से इस तरह सम्बन्धित होते हैं, जिस तरह कोशिका और प्राणी का आपसी सम्बन्ध होता है और न ही समाज कुछ मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति का उपाय मात्र ही है।[31]

---

31. हरिश्चन्द्र उगेती, समाजशास्त्र का क्षेत्र एवं पद्धति, पृ० 363

अतः आज हम जब व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध में बात करते हैं तो उसका अभिप्रायः यह नहीं होता कि यह सदस्य और समुदाय का सम्बन्ध है, वरन् यह सम्बन्ध तो अंश और अंशी का ही होता है। जो लोग यह स्वीकारते हैं कि व्यक्ति समाज की या समाज व्यक्ति की विवश स्वीकृति है, वे प्रायः भूल जाते हैं कि समाज व्यक्ति निरपेक्ष नहीं हो सकता और न ही व्यक्ति समाज निरपेक्ष होता है। ये दोनों ही दायित्व और स्वातन्त्र्य से सम्बन्धित मानव मूल्यों को लेकर ही विकसित होते हैं और एक–दूसरे से सम्बद्ध होते हुए भी एक–दूसरे के ऊपर आरोपित होने की चेष्टा से विरत रहते हैं। तभी दोनों के लिए समग्रता की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। अतः व्यक्ति समाज पर आश्रित है और समाज व्यक्ति पर। समाज और व्यक्ति एक–दूसरे के पूरक हैं।

किसी भी समाज में रहने वाले व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्ध व उनकी जीवन–शैली को जानकर उनके सामाजिक स्तर को जाना जा सकता है। निश्चय ही इसमें युगबोध के अनुरूप बदलाव आता है। आज आधुनिक जीवन शैली का मनुष्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा है, जिससे उसकी मानवीय चेतना में बदलाव होते रहने से उसके सामाजिक सरोकार भी बदल रहे हैं। 'अश्क' के उपन्यास भी इस बलदाव के अपवाद नहीं हैं। जिनका अध्ययन–अनुशीलन हम निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं।

(ग) सामाजिक सन्दर्भ के विविध पक्ष

1. रूढ़ियों का अस्वीकार – ऐसी समसामयिक धारणाएँ जो प्राचीन युग में अपना अस्तित्व बनाए हुए थी। जिन धारणाओं पर लोगों का अटूट विश्वास था परन्तु समय के सतत प्रवाह में अपना अस्तित्व खो बैठती है और अब औचित्यहीन और निरर्थक जान पड़ती है, परन्तु लोग अब भी उन मान्यताओं को स्वीकार किए हुए हैं – वे रूढ़ियाँ कहलाती है। इन रूढ़ियों के बन्धन में पड़कर मनुष्य अमानवीय कार्य तक करता है। परन्तु जो मनुष्य आधुनिक बोध से सम्पन्न है, जो अपनी नवीन दृष्टि एवं सूझ–बूझ रखता है, वह ऐसी मृतप्राय एवं अप्रासंगिक रूढ़ियों की लीक पर नहीं

चलता है अपितु उनके प्रति विद्रोह कर नई राहों का अन्वेषण करता है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने भी अपने उपन्यासों के माध्यम से रूढ़िग्रस्त लोगों को नई दिशा एवं दृष्टि प्रदान कर नवीन जीवन पद्धति अपनाने का आह्वान किया है। उनके उपन्यास 'नन्ही सी लौ' का पात्र चेतन आधुनिकता बोध से सम्पन्न व्यक्ति है। वह रूढ़ियों में विश्वास नहीं रखता। इसके विपरीत चेतन की माँ रूढ़िवादी विचारधारा की औरत है। चेतन की भाभी जब बिमारी से ग्रस्त हो जाती है तो चेतन की पत्नी चन्दा अपनी जेठानी की सेवा करना चाहती है। परन्तु माँ ने उसे ऐसा करने से मना किया है। इस पर लेखक कहता है– ". . . चेतन क्षणभर तक कुछ कह न सका। जादू टोनों में उसका जरा भी विश्वास न था। माँ को भ्रम हुआ था अथवा उसने चन्दा को भाभी के पास बैठने से बरजने के लिए झूठी बात गढ़ी है, यह भी चेतन को नहीं लगा, क्योंकि अपने उस मृत ज्येष्ठ भाई के शैशव में ही जन्मजात रोग से ग्रसित होने की बात वह पहले भी सुन चुका था। कैसे उस शिशु का सिर जन्म से ही उसी तरह गला हुआ निकला, जैसे अनन्त के भांजे का। . . . सहसा इस प्रश्न का उत्तर दे पाना उसके लिए कठिन था। उसने माँ से सिर्फ इतना ही कहा, 'टी॰ बी॰ के बारे में कुछ ज्यादा नहीं जानता पर जितना कुछ मैंने सुना है, वह जन्म से नहीं लगती।"[32]

'बड़ी–बड़ी आँखें' उपन्यास का नायक संगीत है। उसकी पत्नी की कष्टदायक बिमारी में मृत्यु हो गई थी। मृत्यु से पूर्व वह स्वर्ग–नरक के बारे में सोच रही थी। उसकी स्वर्ग–नरक के सम्बन्ध में चिन्तन की अवस्था को देखकर संगीत कहता है– "लेकिन मैं वैसा कुछ आश्वासन न दे सका। मैं उस प्रश्न के लिए तैयार न था। स्वर्ग–नरक में मेरा विश्वास नहीं। स्वर्ग और नरक तो मैं इसी दुनिया की चीज मानता हूँ। लेकिन इस दुनिया में जिसने लम्बी, कष्टदायक बिमारी की यन्त्रणा का नरक देखा हो, वह दूसरी दुनिया में कुछ सहारा चाहता है। स्वर्ग एक सपना नहीं, बिल्कुल हकीकत बन कर उसके सामने आता है।"[33] इसी कथा में आगे चलकर देवा

---

32. उपेन्द्रनाथ अश्क, एक नन्हीं सी लौ, पृ॰ 55

33. वही, बड़ी-बड़ी आँखें, पृ॰ 9

जी रूढ़ि पर चोट करता है। उन्होंने देवनगर का निर्माण किया है, जिसमें व्यक्ति को कर्म करने में विश्वासित किया गया है। लेखक के अनुसार – "वे अन्धविश्वास के, सनक के, टोने–टोटके, भाग्य–भगवान, भीख या दान के विरुद्ध थे। प्रकृति की महान् सत्ता को मानते हुए भी वे किसी व्यक्तिगत भगवान के कायल न थे। किस्मत को मानना उन्हें मानव के अहम् का अपमान लगता था। दिखावा उन्हें जरा भी पसन्द न था।"[34]

अतः अश्क जी ने मनुष्य में आधुनिकता की दृष्टि को उजागर किया है। आज का तार्किक व प्रगतिशील मनुष्य इन रूढ़ियों की असलियत को पहचानता है। इसलिए वह इनके संकुचित दायरे में बँधकर नहीं चलना चाहता। यों भी लोगों की मनगढंत बातें सार्वकालिक नहीं हो सकतीं और वे समय की धारा में अप्रासंगिक बन जाती हैं। आज का प्रबुद्ध मनुष्य तो इन रूढ़ियों को अपने स्वाभिमान और कर्मनिष्ठा के विरुद्ध समझता है और स्वयं को इन बन्धनों से परे करता है।

2. सामाजिक पुनर्निर्माण

आज मनुष्य रूढ़ि बन्धनों और स्वार्थों की दौड़ में मानव मूल्यों को भूलता जा रहा है। वह धर्म के नाम पर आपस में लड़ाई लड़ रहा है, वहीं दूसरी ओर अन्धविश्वासों और पाखण्डों ने उसके जीवन की शैली को ही बदल दिया है। चारों तरफ लूटपाट, धोखाधड़ी, शोषण, भ्रष्टाचार फैला हुआ है। मानव का जीवन दूभर हो गय है। न उसके पास करने को काम है और न ही उसे खाने को अन्न मिल पा रहा है। आधुनिक बोध से सम्पन्न होकर ही मनुष्य इन विकट परिस्थितियों से समाज को बाहर निकाल सकता है। अश्क के उपन्यास 'बड़ी–बड़ी आँखों' में देवनगर का निर्माण करने वाला व्यक्ति देवा जी भी एक नए समाज का निर्माण करना चाहते हैं। उन्होंने इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु 'देवनगर' की स्थापना की है। उनका इस समाज के

---

34. उपेन्द्रनाथ अश्क, बड़ी-बड़ी आँखें, पृ० 9

पुनर्निर्माण के सन्दर्भ में कथन है कि – "मजहबी झगड़े देख कर मन में विचार आता है कि कमर कस करके उठ खड़े हों और इन्सान को इन्सान की पहचान कराये। अन्धविश्वासों का पाखण्ड चारों ओर फैला हुआ है। लोग दूसरों के साथ ही नहीं, अपने साथ भी धोखा कर रहे हैं। व्यापार गन्दा करते हैं, वोट गलत डालते हैं, ऐसी विद्या देते हैं कि वह हमारे दिमागों को रोशन करने के बदले जड़ बनाती है। हमारे दिलों को बड़ा करने के बदले संकुचित करती है। यदि हमारी बुद्धि और बल को ठीक–ठाक विकास करने के साधन मिले तो हम समझदार, रोशन–दिमाग और उदार ह्रदय हो। फिर तंग मकानों के पास गन्दी नालियाँ न बहें, बागों की छाया में सुन्दर भवन हों, गरीबों में घिरा कोई अकेला मालदार सोने की ईंटों को छिपाये, चोरों से छिपता न फिरे, बल्कि सभी पेट भर खायें और विकास के सपने देखें।"[35]

जब सभी प्राणी आधुनिकता बोध से सम्पन्न हो जाएंगे तब समाज की एक नवीन तस्वीर उभरेगी। वह किसी भी प्रकार के भेदभाव, धोखे, दिखावा और झूठ से परे समतावादी समाज की होगी। जहाँ सभी प्राणी एक–दूसरे के प्रति ममत्व से युक्त हों, सम्मान सहित जीवनयापन करेंगे और किसी प्रकार से अर्थाभाव उनके लिए संकट का कारण न बनेगा। सभी परम आनन्द की प्राप्ति कर सकेंगे और यही धरती स्वर्ग तुल्य हो जाएगी। उपन्यास 'बड़ी–बड़ी आँखों' में देवी भी भेदभाव रहित समाज का निर्माण करना चाहता है। इसी निमित उसने 'देवनगर' नाम की बस्ती का निर्माण किया है। उनका लक्ष्य है कि "स्वर्ग इस संसार पर उतर आये, यही बैकुण्ठ हो जाए और इसके पवित्र आनन्द से ही परमानन्द की प्राप्ति हो। लेकिन परमानन्द की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब अतिरिक्त बन्धन न हो। न दिखावा हो, न धोखा हो। सहज भाव, सच्चे प्रेम और भक्ति की तरंगें उठें। खूब अवकाश हो। आकाश में आनन्द हो।

---

35. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', बड़ी-बड़ी आँखें, पृ० 32

भरे पूरे आकाश में ही ज्योतिष, हिकमत इत्यादि का विकास हो सकता है।"[36]

समाज के उद्धारकर्ताओं को सबसे पहले विरोध का सामना करना पड़ता है। कभी–कभी वह हताश भी हो जाता है, परन्तु उसे इन रास्तों की विपत्तियों के सामने घुटने नहीं टेकने चाहिए बल्कि अदम्य साहस से उनका सामना करना चाहिए तथा उन शक्तियों से टकराने की सामर्थ्य रखनी चाहिए जो समाज के निर्माण में बाधाएँ पैदा करते हैं। 'गिरती दीवारें' उपन्यास का नायक चेतन प्रकृति के माध्यम से जीवन की डगर पर आगे बढ़ने की प्रेरणा लेता है। वह सूर्य के उदय होने पर धुँध के छँटने के प्रकरण को लेकर समाज के पुनर्निर्माण की सोचता है– "वह सोचता है कि यदि आज वह दुर्बल है तो क्या कभी सबल न होगा ? हताश होकर वह क्यों बैठ गया है ? सृष्टि के चारों ओर वह दृष्टि दौड़ाता है तो उसके अपरिपक्व मन को सब जगह जंगल का नियम क्रियाशील दिखाई देता है। यदि इस संसार में बलवान ही को जीत प्राप्त होती है तो वह बल का संचय क्यों न करे ? क्या हुआ यदि उसके शारीरिक बल को उसकी कटु परिस्थितियों ने शैशव में ही पंगु बना दिया है, क्या हुआ यदि उसे धन का बल भी प्राप्त नहीं, उसे बुद्धि का बल तो प्राप्त हो सकता है। चाणक्य ने इसी बल के द्वारा नन्द से अपने अपमान का बदल लिया था तो वह भी फिर बुद्धि का ही बल क्यों न ग्रहण करे।"[37]

उपन्यासकार ने मानव को वाणी दी है कि वह सिद्धान्तों को अपनाए, दिखावे की प्रवृत्ति से दूर रहे, न किसी के साथ धोखा–धड़ी करे और न ही उसके कार्य शोषण करने वाले हो बल्कि मानवता के प्रसार में योगदान दे। वह इन प्रवृत्तियों से ऊपर उठकर अपने गुणों का विकास करे और मानव की भलाई तथा समाज के पुनर्निर्माण में योगदान दे। कविराज ने चेतन को शिमला में रहकर लेखन कार्य का

---

36. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', बड़ी-बड़ी आँखें, पृ० 33

37. वही, गिरती दीवारें, पृ० 149

कार्यभार सौंपा हुआ है। वह चेतना का शोषण कर रहा है तथा उसका बाह्य आचरण साधुजन्य है तथा आन्तरिक राक्षसजन्य है। इसी के विषय में चेतन सोचता है– "मनुष्य क्यों अपने आप पर एक खोल चढ़ाने को विवश है, क्या कोई ऐसी व्यवस्था नहीं जिसमें वह जैसा है वैसा रह सके; उसे छल–कपट, धोखे–धड़ी, शोषण और उत्पीड़न की आवश्यकता न पड़े, वह अपने गुणों को जिला दे, चमकाए, मन्द न पड़ने दे, इस प्रकार कैद न करें, दबाकर न रखे।"[38]

अतः स्पष्ट है कि अपमान, अभाव, दीनता, असफलता, भ्रष्टाचार, झूठ, शोषण, धोखाधड़ी आदि तत्त्व व्यक्ति के विकास और समाज के पुनर्निर्माण में बाधक है। आधुनिक मानव को लेखक ने इसी विडम्बना से अवगत कराया है। जिसमें सामाजिक पुनर्निर्माण की नई दिशा प्राप्त होती है।

3. परिवार-परिदृश्य

परिवार किसी भी समाज की महत्त्वपूर्ण इकाई होता है। प्राचीनकाल में परिवार की संयुक्त प्रणाली विद्यमान थी, जिसमें दादा–दादी, माता–पिता, चाचा–चाची, ताऊ–ताई, भाई–बहन आदि सभी लोग इकट्ठे एक ही छत के नीचे जीवनयापन करते थे, परन्तु आधुनिक युग में इस परिवार का रूप बदल गया। धीरे–धीरे मनुष्य की आवश्यकताओं के आधार पर ये परिवार टूटने लगे। इस पारिवारिक विघटन के प्रमुख कारणों में से नौकरी के लिए बाहर जाकर नए अवसर की तलाश करना, व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए, गृहकलह, मनमुटाव, सोचने का संकुचित दायरा आदि शामिल है। आज के युग में संयुक्त परिवार को चलाना आसान नहीं रह गया है। इसलिए आज के मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एकल परिवार ही सक्षम है, जिसमें माता–पिता और सन्तान शामिल है।

संयुक्त परिवार में साधारण रूप में देखा गया है कि पूरे परिवार का बोझ एक ही व्यक्ति के कन्धों पर निर्भर करता है। अन्य सदस्य उसका उतना सहयोग

---

38. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ० 152

नहीं करते हैं जितनी कि आवश्यकता होती है। लेकिन जब परिवार एकल हो जाता है तो सभी पारिवारिक सदस्य अपनी जिम्मेवारियों का निर्वाह बड़ी बखूबी से करते हैं। यही तथ्य उपन्यासकार ने हमारे सम्मुख प्रकट किया है। उपन्यास 'नन्हीं–सी लौ' का नायक चेतन अपने परिवार का ही खर्च वहन नहीं कर रहा है, अपितु अपने भाई का भी खर्च स्वयं वहन करता है तथा उसका भाई संयुक्त परिवार में अपनी जिम्मेवारियों से दूर भागता रहता है। "शिमला जाने से पूर्व चेतन यह करता था कि तन्खाह मिलते ही चालीस में से बत्तीस रुपये दुकान के किराये के खाते, भाई साहब को दे देता। खाने–पीने और घर के किराये की व्यवस्था भाई साहब के सिर थी और रोते चीखते वे अपनी जिम्मेदारी निभाये जाते थे। उसके शिमला जाने के बाद भाई साहब कठिनाई में पड़ गए थे। शिमला पहुँचे अभी उसे चार–पाँच ही दिन हुए थे कि चेतन को भाई साहब का पत्र मिला था – 'दुकान का किराया देना है, रुपये भिजवाओ।"[39] उसके इस पत्र का हल कविराज ने किया। उसने उसे पैसे देने से मना करने को कहा– "जब तक तुम चम्मच से दूध पिलाते रहोगे, वह खुद हाथ हिलाना नहीं जानेंगे। तुम चालीस रुपये उन्हें भेज दोगे, सिर्फ पचास रुपये तुम्हारा वेतन है, बाकी दस में से तुम होटल वाले को क्या दोगे और दूसरे खर्च कहाँ से करोगे ?"[40]

परिवार के सदस्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने मुखिया के कार्यों में सहयोग दे, अपनी जिम्मेदारियों का निर्वाह बड़ी खूबी से करें। इसीलिए सदस्य परिवार का अभिन्न अंग होने के कारण परिवार के मुखिया का सहारा बनता है। उपन्यासकार ने परिवार के सदस्यों को सचेत किया है कि मुखिया अकेले परिवार का निर्वहन नहीं कर सकता है, इसलिए अन्य सदस्यों को उसका सहयोग करना चाहिए। इसीलिए 'गिरती दीवारें' उपन्यासा में चेतन से भी उसकी माता आशाएँ

---

39. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', नन्हीं सी लौ, पृ० 10-11

40. वही, पृ० 11

रखती है। लेखक कहता है कि "माँ को उसके विवाह की चिन्ता लग गई थी। पिता का अपना ही खर्च मुश्किल से चलता था। माँ ने जैसे–तैसे अब तक शिक्षा का प्रबन्ध किया था। इन्हीं कारणों से अब वह चाहती है कि उसका बेटा जब इतना पढ़–लिख गया है तो उसका कर्त्तव्य है कि कहीं नौकरी करे, घर–बार बसाए और इस प्रकार शीघ्र ही नौकरी से रिटायर होने वाले अपने पिता और गृहस्थी के झंझटों से रिटायर होने वाली माँ को सहारा दे।"[41]

परिवार की सभी प्रकार की अच्छाई–बुराई, मान–मर्यादा आदि सभी का ध्यान परिवार का मुखिया ही रखता है। वह परिवार के सभी सदस्यों की निगरानी भी रखता है तथा परिवार में होने वाली सभी घटनाओं पर भी दृष्टिपात रखता है। इसलिए परिवार का मुखिया शान्त, धीर व्यक्तित्व का होना चाहिए। परिवार को चलाने के लिए उसे प्रेम एवं सहयोग का बराबर मेल रखना चाहिए। 'बड़ी–बड़ी आँखें' उपन्यास में देवा की बेटी संगीत से प्रेम करती है। अपने प्रेम को व्यक्त करने के लिए उसने पत्र का सहारा लिया है जिसकी सूचना देवा को लग जाती है, परन्तु देवा देवनगर परिवार का मुखिया होने के नाते बड़े शान्त भाव से इस स्थिति से निपट लेता है। वह संगीत को कहता है कि– "आपको न बिस्तर बाँधने की जरूरत है, न सामान तैयार करने की, आप यहाँ रहिए। वाणी आपको या आप वाणी को प्यार करते हैं तो कोई बुरी बात नहीं करते। अभी वह नाबालिग है। बालिग होने पर वह जिस किसी से शादी करना चाहेगी, मुझे आपत्ति न होगी। आप तो सिक्ख हैं, पर वह चाहेगी तो किसी मुसलमान से भी शादी कर सकती है।"[42]

अन्ततः कहा जा सकता है कि उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के उपन्यासों में परिवार के दोनों संयुक्त और एकल रूप प्राप्त होते हैं, परन्तु उन्होंने इन दोनों परिवारों की

---

41. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ० 7-8

42. वही, बड़ी-बड़ी आँखें, पृ० 125

अच्छाई एवं बुराइयों पर गहनता से चिन्तन कर एकल परिवार को ही मान्यता दी है। क्योंकि इनकी दृष्टि में यही आधुनिकता बोध व्याप्त है कि संयुक्त परिवार में व्यक्ति और परिवार की उन्नति एवं विकास की राहें अवरुद्ध हो जाती हैं और न ही वे अच्छी प्रकार से परिवार के सदस्यों का भरण–पोषण कर पाते हैं। अतः एकल परिवार ही वर्तमान युग की आवश्यकता है, जिसे स्वीकार करना चाहिए।

4. नारी-विमर्श

नारी भारतीय समाज का अभिन्न अंग और पुरुष के बराबर का गौरव रखने वाली है। वह संख्या या महत्त्व की दृष्टि से भी पुरुष वर्ग के बराबर है, परन्तु आदिकाल से आज तक नारी के अस्तित्व पर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि उसके जीवन में अनेक उतार–चढ़ाव आए हैं, परन्तु फिर भी ये उतार–चढ़ाव उसके अस्तित्व को धूमिल नहीं कर पाए। प्राचीन काल में नारी को विशेष सम्मान प्राप्त था। वह पुरुष की सहधर्मिणी थी तथा कोई भी अनुष्ठान एवं यज्ञ नारी के साहचर्य के बिना अधूरा माना जाता था। वेदशास्त्रों एवं पुराण ग्रंथों में माना गया है कि जब तक पुरुष गृहस्थ जीवन व्यतीत नहीं करता, तब तक उसे स्वर्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी आधार पर उसे लक्ष्मी देवी के आसन पर अधिष्ठित करके 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता' कह कर सम्मान दिया गया। परन्तु आदिकाल में आगे चलकर नारी को भोग का साधन मान लिया गया तथा उसे निस्वार्थ गृहसेविका, चूल्हा चौका करने वाली दासी तथा सन्तान उत्पत्ति की वस्तु समझकर उसके साथ घृणित व्यवहार किया। सन्तों ने भी नारी को माया का रूप बताकर ईश्वर प्राप्ति में बाधा माना है। महाकवि तुलसी दास ने तो 'ढोर, गंवार, शूद्र, पशु, नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी' कहकर नारी का अपमान किया है। इतना ही नहीं रीतिकाल में नारी काम वासना की पूर्ति का साधन और मन बहलाने की वस्तु बन गई। कहना न होगा कि नारी प्राचीनकाल से गिरते–उठते आधुनिक काल तक पहुँच गई है। उसके स्वरूप में विशेष परिवर्तन हुए हैं। उसने अपनी मेहनत, अपने कार्य–व्यापार आदि से सिद्ध कर दिया

है कि नारी पुरुष के पैरों की जूती, उपभोग की वस्तु, सन्तान प्राप्ति का साधन मात्र नहीं है। वह भी पुरुष के समान महत्त्व और सम्मान की अधिकारी है। वह आज अवलम्बिनी मात्र नहीं रह गई है बल्कि आत्म गौरव से युक्त होकर अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का अहसास करवा रही है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने भी अपने उपन्यासों में नारी के स्वरूप को चित्रित किया तथा उसे नई दिशा प्रदान करने की कोशिश की है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के उपन्यास आधुनिकता बोध से सम्पन्न है। इसलिए उसकी नारी भी आधुनिकता को लिए हुए है। वह पुरुष की दासी नहीं है और न ही वह पति के चरणों में सर्वस्य जीवन अर्पित करने वाली है। वह तो पुरुष से बराबरी चाहती है। अश्क जी ने उपन्यास में दर्शाया है – जगत लता से प्रेम करता है। वे दोनों साथ–साथ पढ़ते हैं। जगत शादी के नाम पर लता को धोखा देता है। जगत की दृष्टि प्राचीन है, वह अपने लिए ऐसी लड़की चाहता है जो उसके हर हुक्म को माने, जो उसके पैरों की जूती बनी रहे, लेकिन लता को आधुनिक बोध से सम्पन्न मानकर वह उससे शादी करने में आनाकानी करता है। "वह चाहता था कि ऐसी पत्नी जो उसको देवता माने, उसकी आज्ञा को वेद वाक्य समझे, उसके लिए जीवन तक अर्पण कर दे, जो पतिव्रता हो और जो उसकी सेवा को ही स्वर्ग समझे। . . . उसके विचारों को वह जानता था, वह स्त्रियों के लिए बराबरी का अधिकार चाहती थी। वह कई बार कह चुकी थी कि पुरुषों को क्या अधिकार है कि वे स्त्री पर किसी प्रकार का अत्याचार करें। स्त्री–पुरुष में कोई अन्तर नहीं है। अब समय आ गया है कि स्त्रियाँ पुरुषों के बराबर काम करें, खायें, पहनें, घूमें–फिरें और बराबरी का व्यवहार चाहें। यदि पुरुष उनसे दुर्व्यवहार करे तो उन्हें भी वह अधिकार है कि पुरुष के साथ वैसा ही सलूक करे।"[43]

पूर्वकाल की भाँति आज की नारी अबला, दीन–हीन या पराश्रिता नहीं रह गई है, जो पुरुष के हाथ की कठपुतली मात्र बनी रहे। चाहे युधिष्ठिर उसे अपनी

---

43. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', सितारों का खेल, पृ० 45

सम्पत्ति समझकर जुए के दाँव पर लगा दे या राम उसे मिट्टी की गुड़िया समझकर जब चाहे निष्कासित कर दे या उसे अग्नि परीक्षा को विवश करदे। आज की आधुनिकता उन धर्मों को मानने से भी इन्कार करती है, जिसने नारी को त्याग, दया, ममता, करुणा, सेवा जैसे अलंकारों से अलंकृत किया है। उपन्यास 'सितारों के खेल' में मिस बाली के विचार आधुनिक हैं। वह कहती है– "फिर दिन–रात दुख सहना और दुःख देने वालों से अपने धर्म पालन की प्रशंसा पाना हमें नहीं सुहाता। धर्म पालना क्या स्त्रियों के लिए ही रह गया है। क्या पुरुषों का कुछ धर्म नहीं। . . . मैं कहती हूँ कि भारत के वैवाहिक जीवन में जो दोष आ गए हैं, वे इसी तरह पूरे होंगे। नारी को बराबर के अधिकार मिलेंगे और शताब्दियों की दासता से स्वतन्त्र हो कर वह सुख की साँस लेगी और देश की प्रगति में बराबर का योग देगी।"[44]

'गर्म राख' में भी चातक नारी को पुरुष के बराबर का महत्त्व देता है। वह उसे दासी नहीं मानता है। जिन लोगों ने नारी को दासी माना है, उन्हीं के कारण समाज की अवनति हुई है। आज परिस्थितियाँ बदल गई हैं। आज जीवन के हर क्षेत्र में वह पुरुष को सहयोग प्रदान कर रही है, उसके साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चल रही है– "भारत की नारी ने जो पुरुष का साथ देना छोड़ दिया – कई कारणों से जिसे छोड़ने पर विवश हुई – उससे भारत को कम क्षति नहीं उठानी पड़ी। अब नारी घर की चारदीवारी से निकल कर राजनीतिक और सांस्कृतिक मोर्चों पर पुरुष के कन्धे से कन्धा मिलाकर योग दे रही है, यह भारत की उन्नति का बड़ा शुभ लक्षण है।"[45]

आज आधुनिक युग में नारी पुरुष के जुल्मों से निजात पा सकती है। वह यदि ऐसा महसूस करे कि उसका पति उसकी आवश्यकताओं को पूरा करने में अक्षम

---

44. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', सितारों का खेल, पृ० 11

45. वही, गर्म राख, पृ० 149

हो, वह उसकी जीवन–शैली में सहायक बनने की अपेक्षा बाधक है तो वह उससे मुक्ति पाने में सक्षम है। वह पति को देवता तथा सर्वस्य मानने के लिए बाध्य नहीं है। उपन्यास 'सितारों के खेल' में मिस बाली नारी की स्वतन्त्रता के पक्ष में अपने उदगार प्रस्तुत करती हुई कहती है कि "हमारी पुरानी संस्कृति, हमारी पुरानी बातें हजार अच्छी हों और उनसे सम्बन्ध रखने वाले रीति–रिवाज हजार लाभदायक हों, लेकिन उनमें परिवर्तन करना आवश्यक है। हम उन्हें नहीं बदलेंगे तो वे स्वयं बदल जायेंगे क्योंकि पुरानी व्यवस्था कितनी भी अच्छी क्यों न हो, अवश्य बदलती है और नयी उसका स्थान ले लेती है – पुरुषों के बनाये हुए पतिव्रत धर्म ने बहुतेरे अत्याचार ढाये हैं, अब जरा स्त्रियों की स्वतन्त्रता को, अपनी–अपनी पसन्द को, तलाक को, कोर्टशिप को भी अपने करिश्में दिखाने दीजिए।"[46] आज की नारी किसी एक पुरुष के साथ ही बन्धी नहीं रह सकती है। यदि उसे ऐसा आभास हो कि उसके साथ उसका पति अन्याय, अत्याचार, शोषण कर रहा है तो वह तुरन्त उससे नाता तोड़कर अपनी पसन्द से किसी दूसरे व्यक्ति के साथ सम्बन्ध स्थापित कर सकती है। इसी सन्दर्भ में मिस बाली कहती है– "कहीं ऐसी कैद नहीं, कहीं ऐसा बन्धन नहीं, तितली फूल–फूल पर बैठती है, एक ही फूल के साथ नहीं पिरो दी जाती, तो फिर पत्नी ही क्यों पति के साथ इस तरह से बाँध दी जाए कि मृत्यु के सिवा यह बन्धन टूट ही न सके।"[47]

अतः स्पष्ट है कि आधुनिकता बोध से नारी जीवन में महान् क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है। वह सदियों से पीड़ित, कुचलित, पुरुष द्वारा शोषित नारी नहीं रह गई थी वरन् वह पुरुष के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर, सम्मान के साथ जीवन जीने लगी है। वह ऐसे पुरुष का त्याग करने में भी सक्षम है जो उसके अधिकारों को

---

46. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', सितारों का खेल, पृ० 14

47. वही, पृ० 15

छीनता है, उसका शोषण करता है। वह उन धर्मों की विचारधाराओं से भी टक्कर लेने की हिम्मत रखती है जिसमें नारी को पुरुष की सेविका के रूप में स्थापित कर दिया है। अतः 'अश्क' के उपन्यासों की नारी आधुनिकता बोध से सम्पन्न नारी है।

5. पति-पत्नी का सम्बन्ध

हमारे भारतीय समाज में मान्यता है कि पति–पत्नी दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं; एक रथ के दो पहिए हैं। एक के अभाव में दूसरा अधूरा है। रथ जीवन का प्रतीक है। रथ रूपी जीवन तभी सक्षम हो सकता है जब उसके दोनों पहिए साथ–साथ चलें, दोनों में एकरूपता हो और यदि ऐसा नहीं हो पाता तो उनका जीवन रूपी रथ रुक जाता है। उनके जीवन की गाड़ी आगे नहीं बढ़ पाती है। सामान्यतः पति–पत्नी के प्रेम के आधार पर ही उनकी जीवन नैया चलती रहती है और यही जीवन सुखी जीवन या सुखी गृहस्थ कहलाता है। सुखी जीवन की कल्पना प्राचीन भी है और आधुनिक भी। पति अपनी पत्नी को अपने सुख–दुःख का बराबर हिस्सेदार समझता है। वह उसके सान्निध्य में अपने सभी दुःखों एवं कष्टों को भूल जाता है। उपन्यास 'नन्ही सी लौ' में चन्दा अपने पति से अत्यधिक प्रेम करती है। उनका गृहस्थ जीवन सुखदायी है। चेतन जब थक हार कर घर आता है तो चन्दा उसका चौखट पर खड़ी इन्तजार कर रही है – "गल रही थी, तभी मैं चौखट में खड़ी आपकी राह देख रही थी। चेतन की सारी थकन और खीझ हवा हो गयी। उसने वही चटाई पर लेटे–लेटे पत्नी का सिर अपने सीने पर रख लिया और धीरे–धीरे दिन भर की अपनी सारी थकान और बेकार भटकन की गाथा उसे कह सुनाई।"[48]

कभी–कभी पति–पत्नी के सम्बन्धों में तनाव भी हो जाता है। इसका कोई स्पष्ट कारण नहीं हो सकता है क्योंकि यह सम्बन्ध कोमल धागों से निर्मित होता है।

---

48. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', नन्हीं सी लौ, पृ० 93

जब कभी पति अपने कर्त्तव्यों से या पत्नी अपने कर्त्तव्यों से विमुख हो जाते हैं तो उनमें तनाव व्याप्त हो जाता है। चेतन के भाई–भाभी की गृहस्थी में तनाव व्याप्त है। उन दोनों के मध्य में वैचारिक मतभेद है। इसी की पुष्टि करता हुआ उपन्यास 'नन्हीं सी लौ' में चेतन कहता है– "प्रायः भाई साहब इतवार को दोपहर बाद दुकान नहीं खोलते थे और शाम को पिक्चर देखने जाया करते थे; लेकिन जब से भाभी आयी थी, वे प्रायः इतवार को भी क्लिनिक खोल लेते थे। चेतन प्रकटतः समझता था कि वे अपनी पत्नी से जितना भी हो सके, दूर रहना चाहते हैं और चेतन को उनकी इस निठुरता पर खेद भी होता था। वे उसके पति थे और चेतन की दृष्टि मे पत्नी की बिमारी में उसके पास बैठना उसकी दवा–दारू, सेवा–शुश्रूषा करना, उनका मन बहलना उनका कर्त्तव्य था। जब देवर होते हुए, भाभी से अवहेलना पाने के बावजूद, वह उसकी देखभाल करता था तो वे पति होकर क्यों उससे दूर भागते थे।"[49]

पति–पत्नी का सम्बन्ध सदैव आपसी विश्वास पर निर्भर करता है। पति पत्नी के प्रति और पत्नी पति के प्रति पूर्ण निष्ठा एवं विश्वास जब तक रखते हैं, उनके सम्बन्ध भी ठीक रहते हैं, लेकिन जहाँ कहीं भी विश्वास टूट जाए तो सम्बन्धों के टूटने की भी आशंका बन जाती है। चेतन की शादी चन्दा से होने वाली है। इसलिए अब उसका दायित्व और कर्त्तव्य है कि वह अपनी पत्नी के प्रति ही निष्ठा और प्रेम बनाए रखे। इसीलिए वह कहता है– "अभी प्रकाशो का किस्सा पुराना नहीं हुआ कि मैं दूसरा राग छेड़ रहा हूँ। कुछ ही महीनों में मेरा विवाह होने वाला है। मेरे लिए तो किसी दूसरी नारी के बारे में सोचना ही पाप है।"[50]

पति–पत्नी के सम्बन्धों में दिखावे के लिए कोई स्थान नहीं है। बहुत से लोग इन सम्बन्धों को समाज में दिखावे के लिए निभाए चले जा रहे हैं। वे इस

---

49. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', नन्हीं सी लौ, पृ० 64

50. वही, गिरती दीवारें, पृ० 53

सम्बन्ध के वास्तविक सार से अनभिज्ञ है। वे साथ रहते हुए भी एक दूसरे को नहीं समझ पाते हैं। उपन्यास 'गिरती दीवारें' में कविराज इसी पति–पत्नी की वास्तविकता को व्यक्त कर रहे हैं– "जिस प्रकार धर्म रूढ़िगत होकर अपने प्राण खो बैठा है, उसी प्रकार विवाह धर्म से उस के प्राण निकल गए हैं। जिस प्रकार हमारे अधिकांश देशवासी बिना सोचे समझे भावनारहित होकर पूजा–पाठ, धर्म–कर्म किए जाते हैं, उसी प्रकार वैवाहिक जीवन को निभाए जाते हैं। यही कारण है कि यौन सम्बन्ध जिस पुलक की सृष्टि करता है, उससे अगणित स्त्री–पुरुष महज अनभिज्ञ रह जाते हैं। दो परिचितों, मित्रों, प्रेमियों या पुलक की वांछा रखने वाले दो शरीरों के स्थान पर यहाँ एक ओर संकोचरहित वासना होती है और दूसरी ओर संकोचशील लज्जा; एक ओर हिंसक पशु होता है और दूसरी ओर मीता मृगी। पत्नी जब तक संगिनी नहीं बनती, स्वयं भी उसी पुलक की वांछा नहीं रखती, जब तक पति–पत्नी में भावनाओं का एकीकरण नहीं होता वह पुलक प्राप्त नहीं हो सकती।"[51]

'सितारों के खेल' में भी मिस बाली पति–पत्नी के सम्बन्धों पर अपने विचार प्रकट करती है कि किस प्रकार से सम्बन्धों में बनावटीपन आ गया है– "मैं पूछती हूँ कि हमारे घरों में सुख है ही कहाँ ? 95 प्रतिशत घर नरक का नमूना पेश करते हैं; 75 प्रतिशत स्त्रियाँ सुहागिनें होते हुए भी विधवाएँ हैं। फिर दिन रात दुःख सहना और दुःख देने वालों से अपने धर्मपालन की प्रशंसा पाना हमें नहीं सुहाता।"[52]

आधुनिक युग में नारी पत्नी के रूप में स्वच्छन्द है। सामान्यतया उसकी कोशिश रहती है कि पति के साथ मधुर सम्बन्ध स्थापित हो अन्यथा वह उससे

---

51. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ० 186

52. वही, सितारों का खेल, पृ० 11

आजाद अथवा मुक्ति पाने में स्वतन्त्र है। वह किसी प्रकार का दबाव, भार सहन नहीं करना चाहती। उसमें इस नवीन दृष्टि का कारण आधुनिकता बोध ही है।

6. नारी शिक्षा

आधुनिक युग में नारी ने अपनी गिरी हुई स्थिति से ऊपर उठने का प्रयास किया है। इसके साथ ही महान समाज–सुधारकों ने नारी के निर्मम उत्पीड़न पर विरोध जताकर नारी की स्थिति में सुधार के लिए संघर्ष किया है। राजा राममोहनराय का 'सती प्रथा' के विरुद्ध संघर्ष, ईश्वर चन्द विद्यासागर का लड़के–लड़कियों को समान रूप से शिक्षा देने तथा विधवा के पुनर्विवाह के लिए प्रेरित करने के प्रयत्नों के अतिरिक्त समस्त भारत में स्त्रियों की शिक्षा पर बल दिया है। स्वामी विवेकानन्द से प्रेरित होकर सिस्टर निवेदिता ने धार्मिक सुधारों द्वारा अधिकांशत धर्म के नाम पर बनी रूढ़ियों की जंजीरों से महिलाओं को मुक्त करने के लिए संघर्ष का मार्ग अपनाया। सती–प्रथा का अन्त, स्त्री–शिक्षा का प्रचार, बाल–विधवाओं के पुनर्विवाह और स्त्रियों को स्वावलम्बी बनने के लिए समाज में क्रान्ति सी पैदा कर दी। 1882 की शिक्षा समिति की सिफारिशों से लड़कियों के लिए अलग स्कूलों की व्यवस्था की गई।

स्वतन्त्र भारत में तो नारी ने अपनी स्वतन्त्र पहचान बनायी। अब वह पर आश्रिता न रह कर स्वावलम्बी बन गई। वह पुरुष की दासी नहीं अपितु संगिनी बन कर रहती है। पुरुष द्वारा किए जाने वाले अत्याचारों का मुँहतोड़ जवाब देती है। समाज में पुरुषों के समकक्ष अधिकार एवं प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष कर रही है। भारतीय संविधान में भी पुरुषों के समान अधिकारों का प्रावधान किया गया है।

नारी शिक्षा को स्वीकृति मिलने से नारी की किस्मत का द्वार खुल गया। वह सदियों पुरानी जंजीरों को तोड़कर शिक्षा के क्षेत्र में आगे आयी। शिक्षा के जागरण से पुरुष भी यह सोचने पर विवश हो गया कि वह स्त्री के साथ अन्याय कर रहा है। इसी शिक्षा के आधार पर यह उसके महत्त्व को आँकने लगा। अब वही नारी

घर की चारदीवारी को लाँघकर नौकरी करने, व्यवसाय करने के लिए बाहर निकली है। हमारी सरकार ने भी इस दिशा में सकारात्मक प्रयास किए हैं तथा नारी की शिक्षा के उद्देश्य के निमित्त अनेक स्कूलों की स्थापना तथा लड़कियों की निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध किया। इस प्रकार के प्रयासों के तहत ही आज शिक्षित महिलाओं की शिक्षा की या साक्षरता की दर 24.88 पहुँच गई है।

नारी शिक्षा से नारी जीवन में तो अनुकूल प्रभाव पड़ा ही, साथ ही उसके पति, परिवार, समाज की दृष्टि में भी व्यापक परिवर्तन हुआ। इसके साथ ही समाज में व्याप्त बुराइयाँ, अनमेल विवाह, सती–प्रथा, दहेज जैसी समस्याएँ भी आज सामान्यतः समाप्त हो गईं। माँ–बाप को भी पढ़ी–लिखी लड़की का विवाह करने में आसानी हो गई तथा गर्व से जीवन जीने लगे।

नारी शिक्षा ने नारी को पंक से निकालकर कमल पर आसीन कर दिया। इस शिक्षा के प्रभाव से समाज में व्यापक परिवर्तन हुआ तथा कुछ प्रतिशत हमारे धार्मिक, सांस्कृतिक एवं परम्परागत मूल्यों को भी ठेस लगी। पश्चिमी सभ्यता के स्वच्न्छन्दतावाद के प्रभाव के कारण वह भारतीय नारी के आदर्श जीवन को तिलांजलि देकर उन्मुक्त एवं स्वच्छन्द वातावरण में रहने लगी। वह व्यक्तिवादी चेतना के कारण परिवार तथा अन्य सम्बन्धियों को बन्धन मानने लगी। सिर्फ पति को ही अलग रखकर स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करना चाहती है।

पाश्चात्य देशों का अनुसरण कर स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने की चाह का दुष्परिणाम यह निकला कि उसका जीवन अलग–अलग दिखाई देने लगा। आज की आधुनिक शिक्षिता नारी अपने यौवन और सौन्दर्य को किसी एक पल्ले में बाँध कर नहीं रखना चाहती। ऐसे ही कुछ नारियाँ अपनी इच्छाओं को बिना किसी रुकावट एवं व्यवधान के पूरा करना चाहती है। जब तक नारी एक से अधिक पुरुषों से सम्पर्क स्थापित न कर ले, तब तक वह अपने–आपको अधूरा समझती है और इन्हीं इच्छाओं की प्राप्ति हेतु प्रयासरत नारी चरित्रहीन कहलाती है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने

भी अपने उपन्यासों में नारी शिक्षा पर जोर दिया है। क्योंकि शिक्षित नारी समाज की अन्य नारियों से अधिक महत्त्व प्राप्त करती है। आजकल शादी के लिए प्राथमिक रूप से नारी की शिक्षा को ध्यान में रखा जाता है। उपन्यास 'गर्म राख' में शान्ता बहन ने नारियों की शिक्षा को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से स्कूल खोला है– "उस समय जब निम्न मध्यवर्गीय समाज में लड़कियों की शिक्षा का उद्देश्य केवल विवाह की मण्डी में उनका मूल्य बढ़ाना हो, शिक्षा का यह ढंग महत्त्व प्राप्त कर लेता है। साधारणतः जो लड़की पन्द्रह सोलह वर्ष की आयु में मैट्रिक करती, वह इस ढंग से उस उम्र की बी॰ए॰ कर लेती। . . .माता–पिता इस तरह कम समय और कम फीस में अपनी लड़कियों को मैट्रिक, एफ॰ ए॰ और बी॰ ए॰ का डिप्लोमा दिखाने में और उनके लिए उपयुक्त वर ढूँढने में सफल हो जाते। कॉलेज में पढ़ी बी॰ ए॰ पास लड़कियों से साधारण मध्यवर्गीय युवक डरता, इसलिए घर में अथवा प्राइवेट विद्यालयों में पढ़ी इन लड़कियों की माँग अधिक रहती।"[53]

आधुनिक युग बोध के कारण मनुष्य की सोच में भी महान परिवर्तन हुआ है। मनुष्य अपनी कमी को किसी दूसरी चीज से भी भरने की कोशिश करते हैं। यदि नारी सुन्दर नहीं है तो कोई बात नहीं, उसे पढ़ा–लिखा अवश्य होना चाहिए। उसकी पढ़ाई एवं शिक्षा उसके रूप सौन्दर्य में वृद्धि करती है। जैसा कि कहा भी गया है 'कुरूप रूप विद्या'। उपन्यास 'गिरती दीवारें' में चेतन ने अपने माता–पिता की इच्छानुसार मध्यम दर्जे की सुन्दर लड़की से शादी की है। वह उसकी सुन्दरता को शिक्षा के माध्यम से बढ़ाना चाहता है– "उन दिनों चेतन को बड़ी आकांक्षा होती थी कि यदि उसकी पत्नी सुन्दर नहीं हो सकती तो सुशिक्षित अवश्य हो जाए। संध्या को दफ्तर से आकर, खाना आदि खाकर वे सैर को जाते थे। गोलबाग के रविशो पर टहलते हुए, जब बड़ी सुन्दर बातें हो रही होतीं, चेतन को सहसा ध्यान हो आता

---

53. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ॰ 52

कि वे समय को व्यर्थ गँवा रहे हैं। क्यों न सैर ही सैर में वह अपनी पत्नी को पढ़ा दे ? और वह चलते–चलते उससे हिन्दी वाक्यों की अंग्रेजी पूछता।"[54]

प्राचीनकाल में नारी की स्थिति बड़ी दयनीय थी। उसे हेयात्मक दृष्टि से देखा जाता था। जब लड़की का जन्म होता तो घर में मातम–सा छा जाता था। कभी–कभी उसे जन्म के समय ही मार दिया जाता था, परन्तु धीरे–धीरे आधुनिकता बोध के कारण नारी की स्थिति में तीव्रगामी सुधार हुए हैं। अब उसे लड़के के समान सम्मान मिलने लगा है। उपन्यास 'सितारों के खेल' में लता की शिक्षा–दीक्षा भी किसी लड़के से कम नहीं हुई है। "भारत में प्रायः लड़की का पैदा होना महाविपत्ति समझा जाता था, लड़कियों की ओर सदैव उपेक्षा का भाव रखा जाता था, किन्तु लता के पिता ने उसे लड़कों से बढ़कर पाला–पोसा, पढ़ाया–लिखाया और प्यार किया।"[55]

नारी शिक्षा ने नारी जीवन में महान् परिवर्तन किए हैं। अब वह न दासी है, न पराश्रिता और न ही किसी दूसरे पर बोझ बनने वाली। वह अब तक दलित और पीड़ित रही है परन्तु अब उसने शिक्षा के माध्यम से अपने अस्तित्व को समझा, अपने अधिकारों के प्रति उसमें चेतना का संचार हुआ है। अब वह पुरानी रीति–रिवाजों और संस्कारों को मानने से भी मना कर रही है, जो उसे दास और गुलाम जैसी जिन्दगी जीने को मजबूर करते थे। उपन्यास 'सितारों के खेल' में मिस बाली अपने विचार प्रकट कर रही है– "हमारी पुरानी संस्कृति, हमारी पुरानी बातें हजार अच्छी हों और उनसे सम्बन्ध रखने वाले रीति–रिवाज हजार लाभदायक हों, लेकिनउनमें परिवर्तन करना आवश्यक है। हम उन्हें नहीं बदलेंगे तो वे स्वयं बदल जाएँगे, क्योंकि पुरानी व्यवस्था कितनी भी अच्छी क्यों न हो, अवश्य बदलती है और नयी उसका स्थान ले

---

54. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ० 94–95

55. वही, सितारों का खेल, पृ० 21

लेती है– "पुरुषों के बनाए हुए पतिव्रत धर्म ने बहुतेरे अत्याचार ढाए हैं; अब जरा स्त्रियों की स्वतन्त्रता को अपनी–अपनी पसन्द को, तलाक को, कोर्टशिप को भी अपने करिश्में दिखाने दीजिए।"[56]

नारी ने अपने को शिक्षित करने के लिए बड़े–बड़े संघर्ष किए हैं। वह अपने मन को स्वयं संकल्पित करके आगे बढ़ी है। यह जरूर कहना होगा कि नारी–शिक्षा की इस दिशा में पुरुष ने सहयोग दिया है, परन्तु यह कहना बिलकुल निराधार होगा कि नारी शिक्षा में केवल मात्र पुरुष का हाथ है। वह घर परिवार के सभी कामकाजों को निपटाकर रसोई में अपनी माता का हाथ बँटाकर भी शिक्षा प्राप्त कर रही है। उपन्यास 'गर्म राख' में शान्ता बहन ने बड़ी मेहनत एवं लगन से शिक्षा प्राप्त की है। वह घर के कार्यों को जितना समय देती है, उतना ही समय शिक्षा प्राप्ति पर भी लगाती है– "वे हिन्दी–रत्न की परीक्षा अपने विवाह से पहले दे चुकी थी। नव शिशु अभी चन्द महीने का था कि उन्होंने हिन्दी भूषण की पढ़ाई आरम्भ कर दी। घर का सब काम करना, बच्चे की देखभाल करना, दूसरे बच्चे के आगमन की तैयारी करना और पढ़ना – ये सब काम वे साथ–साथ करती रही। वे सातवें महीने से थी जब 'भूषण' की परीक्षा में बैठी। इधर 'भूषण' की परीक्षा का परिणाम निकला, उधर उनके घरेलू जीवन की परीक्षा का। उनके फिर लड़का हुआ। वह पूर्ण रूप से अपने पिता पर था। काला कलूटा और भारी भरकम 'भूषण' की परीक्षा में वे उन्हीं दिनों पास हुई थी, इसलिए उनका नाम 'भूषण' रखा गया।"[57]

नारी ने अपनी शिक्षा के आधार पर पुरुष वर्ग को अपना सम्मान करने के लिए मजबूर कर दिया है। जो समाज आज तक नारी को केवल भोग्य वस्तु मानता था और चूल्हा चौका करने वाली सेविका से ज्यादा महत्त्व न देता था, वह भी आज

---

56. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', सितारों का खेल, पृ० 14

57. वही, गर्म राख, पृ० 56

घुटने टेक कर उसको बराबर का सम्मान एवं इज्जत देने लगा है। उपन्यास 'गर्म राख' में कवि चातक 'संस्कृति समाज' नामक संस्था के पदाधिकारियों का चुनाव कर रहा है और वह चुनाव करते समय इस बात को नहीं भूला है कि नारी भी बराबर की हकदार है। कवि चातक का कथन है– "मैंने फैसला किया है कि हमारे संस्कृति समाज में महिलाएँ बराबर का काम लेगी। एक पुरुष मन्त्री के साथ एक महिला मन्त्री भी होगी। हम केवल पुरुषों में ही नहीं स्त्रियों में भी साहित्यिक अभिरुचि उत्पन्न करेंगे।"[58]

अतः अश्क के उपन्यासों में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि नारी शिक्षा ने नारी जीवन में एक नवीन चेतना एवं दृष्टि प्रदान की है। नारी अब पुरुष से कमजोर नहीं अपितु वह उसके साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चल रही है और अपने अधिकारों के प्रति भी जागरूक हुई है। इसीलिए पुरुष उसे बराबर का सम्मान एवं अधिकार देने को बाध्य हुआ है।

7. विवाह और विवाह की समस्याएँ

विवाह वह महत्त्वपूर्ण सामाजिक कार्य है जो न केवल परिवार का निर्माण करता है, बल्कि जिसके द्वारा व्यक्ति को समाज में एक विशेष सामाजिक स्थिति भी प्राप्त होती है। यद्यपि विवाह सर्वव्यापी संस्था है लेकिन विभिन्न समाजों में इसका रूप भिन्न–भिन्न प्रकार से पाया जाता है। इसका कारण यह है कि विवाह एक संस्था ही नहीं बल्कि एक ऐसी जड़ी–बूटी है जिसे खाकर ही मनुष्य समाज में सम्मान पाता है। भारतीय संस्कृति अनेक रंगों में रंगी हुई है, इसी भिन्नता के कारण विवाह के रूपों में भी भिन्नता मिलती है। कुछ समाजों में विवाह का रूप धार्मिक होता है, जबकि कुछ समाजों में विवाह एक संविदा (Contact) के रूप में देखा जाता है। कुछ पश्चिमी समाजों में विवाह मित्रता का एक सुविधापूर्ण समझौता है, जबकि

---

58. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ० 62

अनेक आदिम समूहों में विवाह को एक आर्थिक संस्था तक मान लिया जाता है क्योंकि उनके यहाँ स्त्री को ही सम्पत्ति के रूप में देखा जाता है। विस्तृत रूप में विवाह एक ऐसी संस्था है जो सभी समाजों में स्त्री और पुरुष के यौन सम्बन्धों की नियमपूर्वक पूर्ति करने की अनुमति प्रदान करती है ओर समाज की निरन्तरता को बनाए रखने का प्रयास करती है। अनेक पश्चिमी विद्वानों ने यह स्पष्ट करने की कोशिश की है कि विवाह प्रत्येक स्थिति में मित्रता का सुविधापूर्ण बन्धन है और इसे सुविधाजनक न रहने पर कभी भी तोड़ा जा सकता है। हो सकता है कि पश्चिमी समाजों में अथवा कुछ पिछड़े समाजों में विवाह को इस प्रकार का बन्धन माना जाता है, बल्कि लेकिन यह विचार न तो बौद्धिक आधार पर उचित है और न ही विभिन्न समाजों के अध्ययन से इसे अधिक उपयोगी प्रमाणित किया जा सकता है। जब हम यह मानते हैं कि प्रत्येक संस्था तुलनात्मक रूप से स्थायी होती है, तब विवाह जैसी संस्था को एक अस्थाई बन्धन किस प्रकार कहा जा सकता है ? जहाँ तक भारतीय समाज का प्रश्न है, हमारे यहाँ विवाह जीवन भर का बन्धन है जिसे हिन्दू समाज सामाजिक मूल्यों के अनुसार किसी स्थिति में तोड़ना उचित नहीं समझा जा सकता। हमारे समाज में विवाह का प्रमुख लक्ष्य धार्मिक कर्त्तव्यों को पूरा करना है, जबकि यौन सन्तुष्टि को इसमें बहुत गौण स्थान दिया जाता है।

इस संस्था का प्रमुख उद्देश्य यह रहा है कि मानव की नैसर्गिक प्रवृत्ति, यौन–इच्छा की सुव्यवस्था रहे। विवाह सामाजिक प्रतिमान के रूप में दो विषम लिंगियों को परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने की आज्ञा देता है। इस तरह विवाह संस्था समाज के वांछित स्वरूप के निर्माण में योग देती है। प्राचीन काल से अब तक विवाह संस्था का एक जैसा रूप नहीं रहा। समाज, राष्ट्र और काल की गति के अनुसार विवाह की मान्यताओं एवं प्रविधियों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। इस संस्था के बड़े विचित्र और नये–नये रूप विकसित होते रहे हैं। वेस्ट मार्क ने विवाह के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है– "विवाह को एक या अधिक पुरुषों का, एक

या अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला वह सम्बन्ध कहकर परिभाषित किया जा सकता है, जो प्रथा अथवा कानून के द्वारा स्वीकृत होता है और जिसमें विवाह से सम्बन्धित दोनों पक्षों और उनमें उत्पन्न होने वाले बच्चे के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का समावेशं होता है।"[59]

हॉबेल के अनुसार– "विवाह सामाजिक आदर्श नियमों की एक समग्रता है जो विवाहित व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों को उनके रक्त सम्बन्धियों और अन्य नातेदारों के प्रति परिभाषित करती है और उन पर नियन्त्रण रखती है।"[60] हॉबेल ने स्पष्ट किया है कि विवाह एक सर्वव्यापी घटना तो है ही लेकिन इसका सम्बन्ध केवल एक आदर्श नियम से है अर्थात् विवाह कानूनी रूप से नहीं बल्कि नैतिक रूप से भी आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि विवाह केवल दो व्यक्तियों का ही पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है बल्कि इससे अन्य व्यक्तियों की स्थिति पर भी कुछ प्रभाव पड़ता है।

विवाह के सन्दर्भ में दिए गए इन विचारों से स्पष्ट होता है कि विवाह दो भिन्न लिंगियों, जो विवाह के कारण सम्बन्धित होते हैं, के परस्पर सम्बन्धों की व्यवस्था करता है। उनके उत्पन्न बच्चों के कर्त्तव्यों एवं अधिकारों का विवेचन करता है। विवाहित युग्म के माता–पिता के ओर उनके सम्बन्धियों के परस्पर सामाजिक सम्बन्धों के मौलिक स्वरूप की व्याख्या एवं नियमों का प्रतिपादन करने की दृष्टि से विवाह एक महत्त्वपूर्ण संस्था है।

प्राचीनकाल के विवाह और आधुनिक युग के विवाह में अन्तर दिखाई देने लगा है। आज आधुनिकता बोध से सम्पन्न व्यक्ति ने इस विवाह के ढाँचे में आमूल–चूल परिवर्तन किए हैं। पहले शादी के समय लड़का–लड़की को देखने के लिए नहीं जाता था और न ही लड़की शादी से पूर्व लड़के को देख पाती थी परन्तु

---

59. जी० के० अग्रवाल, समाजशास्त्र, पृ० 506

60. वही, पृ० 507

आज ऐसा कुछ नहीं है। आज शादी–विवाह निश्चित करने से पूर्व लड़का लड़की दोनों आपस में एक–दूसरे को देखते ही नहीं, अपितु अपने भविष्य के सन्दर्भ में भी बातचीत करते हैं। उपन्यासकार 'अश्क' ने अपने उपन्यास 'गिरती दीवारें' में लड़की देखने के सन्दर्भ को भी उठाया है– "तुम्हें लड़की दिखा देंगे बेटा, मैं स्वयं आजाद ख्याल आदमी हूँ, जिसके साथ जीवनभर का नाता हो, उसे देखा तक न जाए, इसे मैं अन्याय समझता हूँ।"[61] इस तरह से उपन्यासकार ने शादी से पूर्व लड़की को देखने और लड़की द्वारा लड़के को देखने के तथ्य को उठाकर इस बात की हामी भरी है कि आधनिक युग में मनुष्य का जीवन जटिल होता जा रहा है। इसलिए जिस व्यक्ति का सम्बन्ध जीवनभर के लिए जुड़ने जा रहा है, उसे अपने सभी दृष्टिकोणों से परखना चाहिए।

शादी के बन्धन में बन्धने से पूर्व देखना और उसकी हर अच्छाई तथा बुराई से वाकिफ होना दोनों के लिए लाभदायक है। पहले लड़का–लड़की की शादी माता–पिता की मर्जी पर निर्भर करती थी, परन्तु अब दोनों युवा अपना निर्णय स्वयं करने में सक्षम हैं। वे अपने जीवन के स्वयं निर्माता हैं। उनके इस स्वयं के फैसले से हमारे प्राचीन संस्कारों को आधात भले ही लगा हो, परन्तु इस नई दृष्टि से उनकी स्वतन्त्रता भी दिखाई जान पड़ती है। 'अश्क' जी ने अपने उपन्यास 'बड़ी–बड़ी आँखें' में बताया है कि देवा की बेटी वाणी संगीत से प्रेम करती है और अब वह उनसे शादी करना चाहती है। इसी सन्दर्भ में देवा जी कहते हैं– "वाणी आपको या आप वाणी को प्यार करते हैं तो कोई बुरा नहीं करते। अभी वह नाबालिग है। बालिग होने पर वह जिस किसी से भी शादी करना चाहेगी, मुझे आपत्ति न होगी। आप तो सिक्ख हैं, पर वह चाहे तो किसी मुसलमान से भी शादी कर सकती है।"[62] इसके विपरीत

---

61. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ० 10

62. वही, बड़ी-बड़ी आँखें, पृ० 125

जब कभी किसी युवक या युवती की शादी उसकी इच्छा के विपरीत की जाती है तो वे उसका विरोध करते हैं। उपन्यास 'गिरती दीवारें' में चेतना की शादी उनकी इच्छा के विरुद्ध उनके माता–पिता ऐसी लड़की से करना चाहते हैं, जिसे वह नापसन्द करता है, वह तो कुन्ती से विवाह करना चाहता है। पिता के इस निर्णय से आहत चेतन मन–ही–मन सोच रहा है – "चेतन घर की ओर चला तो उसने सोचा क्यों न वह अपने पिता से कहे कि वह कुन्ती से विवाह करना चाहता है। उसने मन में सोचा कि यदि बस्तीवालों के यहाँ शादी करने के लिए उसके पिता ने कहा तो वह कह देगा कि वह कुन्ती से शादी करना चाहता है।"[63]

लेखक ने इस तथ्य को भी पुष्ट करना चाहा है कि जब तक शादी दोनों की इच्छानुसार नहीं की जाती है तब तक उसकी सफलता पर सन्देह रहता है। कितने ही युवक और युवतियों की शादी जबरदस्ती की जाती है और उनका परिणाम तलाक या मृत्यु तक खींच ले जाता और यदि इन अवस्थाओं को प्राप्त नहीं करते हैं तो उनका जीवन सदैव नीरस और तनाव से भरा रहता है। वे अपने वैवाहिक जीवन का खुशी से आनन्द प्राप्त नहीं कर पाते हैं। उपन्यास 'गर्म राख' में जगमोहन सत्या की ओर आकर्षित है। वह रात को भी उसी के बारे में सोचता रहता है। आज रात उसे नींद नहीं आई, वह टहलते हुए इस वैवाहिक ढाँचे के बारे में सोच रहा है– "पर इससे क्या ? . . . इस देश में जब बरबस बच्चे–बच्चियों को एक–दूसरे के गले बाँध दिया जाता है, विवाहित होकर भी कितने ही जोड़े विवाह के वास्तविक आनन्द को समझ पाते हैं ? कितने जीवनभर भूखे नहीं रहते ? और वह ! उसकी स्थिति क्या उनसे भिन्न है ? नारी सदा उसके लिए दूर की चीज रही है। उसे देखकर भी हमेशा अनदेखा कर दिया है। पहले सामाजिक वर्जनाओं और फिर आर्थिक संघर्ष के कारण! और अब पहली ही नारी के निकट सम्पर्क ने उसे विचलित कर दिया।"[64]

---

63. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ० 32

64. वही, गर्म राख, पृ० 205

मनुष्य की इच्छानुसार शादी न होना, मनचाहा साथी न मिलने से उनका जीवन शुष्क हो जाता है। वे चाहकर भी वैसा नहीं कर पाते जो पति–पत्नी के बीच होना चाहिए। वे केवल उस बोझ को जिन्दगी भर ढोने वाले बन जाते हैं। उनका जीवन भी साधारण व्यक्तियों जैसा हो जाता है, जिसे घसीटते चले जाते हैं। वे उस वैवाहिक जीवन से आनन्द प्राप्त नहीं कर पाते हैं। उपन्यास 'गिरती दीवारें' में कविराज वैवाहिक जीवन की गिरती स्थिति के बारे में बता रहे हैं– "जिस प्रकार धर्म रूढिगत होकर अपने प्राण खो बैठता है, उसी प्रकार विवाह–धर्म से उसके प्राण निकल गए हैं। जिस प्रकार हमारे अधिकांश देशवासी बिना सोचे–समझे भावनारहित होकर पूजापाठ, धर्म–कर्म किए जाते हैं, उसी प्रकार वैवाहिक जीवन को निभाए जाते हैं। यही कारण है कि यौन सम्बन्ध जिस पुलक की सृष्टि करता है, उससे अगणित स्त्री–पुरुष महज अनभिज्ञ रह जाते हैं। दो परिचितों, मित्रों, प्रेमियों या पुलक की वांछा रखने वाले दो शरीरों के स्थान पर यहाँ एक ओर (पुरुष में) संकोचरहित वासना होती है और दूसरी ओर (स्त्री में) संकोचशील लज्जा; एक ओर हिंसक पशु होता है ओर दूसरी ओर भीता मृगी। पत्नी जब तक संगिनी नही बनती, स्वयं भी उसी पुलक की वांछा नहीं रखती, जब तक पति–पत्नी में भावनाओं का एकीकरण नहीं होता, वह पुलक प्राप्त नहीं हो सकती।"[65]

आधुनिक बोध से सम्पन्न व्यक्ति विवाह में जाति–पाँति के बन्धनों को अस्वीकार करने लगा है। वह प्राचीनकाल से चली आ रही इस रूढ़िवादिता को भी नकार रहा है क्योंकि प्रेम किसी की जाति को नहीं मानता वरन् वह अपने हृदय की सन्तुष्टि चाहता है। इसके साथ–साथ आज धीरे–धीरे समाज भी इन सम्बन्धों को मान्यता देने लगा है तथा इस विवाह को सहयोग प्रदान करने लगा है। उपन्यास 'गर्म राख' में जगमोहन सत्या से प्रेम करता है, वह उससे विवाह करना चाहता है।

---

65. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ० 186

इसी प्रकरण में जगमोहन की भाभी कहती है– "उसने तो यहाँ तक कह दिया कि उन्हें हो तो हो, जगमोहन को तो जाति–पाँति का कुछ ख्याल ही नहीं, यदि उसे सत्या पसन्द हो तो वह उसके भाई को मना लेंगी।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने विवाह के कई प्रकरणों पर जहाँ प्रकाश डाला है, वहीं दूसरी ओर विवाह की बुराइयों की भी आलोचना की है। आज भी भारतीय समाज में अनमेल विवाह जैसी बुराइयाँ व्याप्त हैं जिनका खत्म होना जरूरी है और जब तक इनका समूल नाश नहीं किया जाता है, तब तक भारतीय समाज उन्नति नहीं कर सकता है। उनके उपन्यास 'गिरती दीवारें' में चेतन की साली नीला की शादी एक अधेड़ उम्र के मिलिटरी एकाउटेंट से तय कर दी जाती है। उस दूल्हें के बारे में लेखक कहता है कि चेतन ने तो इस मिलिटरी एकाउटेंट दूल्हे को हर कोण से देख लिया। गंजी होती हुई चाँद पर जवानी की यादगार के रूप में चन्द बाल, आँखों के नीचे बढ़ते हुए गढ़े, उभरे हुए जबड़े, पिचके हुए कल्ले, कृत्रिम दाँत और पैंतीस से चालीस को पहुँचती उम्र – यह था वह लड़का जिसे श्रीमती प्रोमिला देवी ने अनदेखे ही अपनी छोटी बहन के लिए चुना था। इस तरह से अनमेल विवाह करके लड़की को घुटन भरा जीवन जीने को मजबूर किया जाता है। ऐसी अनमेल शादियों पर साधारणतः दूल्हे पक्ष के लोग ज्यादा ही खर्च करते हैं। यहाँ भी ऐसा ही हुआ। शादी पर भारी खर्च किया गया हो। 'अश्क' जी ने विवाह पर होने वाले अनावश्यक खर्च पर ध्यान दिया है तथा लोगों को ऐसे खर्च न करने का आह्वान किया है। उपन्यास 'गिरती दीवारें' में नीला की शादी में हुए खर्च तथा अनमेल विवाह से संतप्त नारी की दशा पर व्यंग्य करते हुए चेतन कहता है– "यदि लड़की का गला घोंटना ही अभीष्ट है तो क्या वह 'सत्कार्य' मौन रूप से नहीं हो सकता ? क्या इन बाजो–गाजों और बेचारी लड़की के जले हुए दिन को और भी जलाने वाले इन गीतों के बिना काम नहीं चल सकता ?

अन्ततः कहा जा सकता है कि उपेन्द्रनाथ अश्क ने अपने उपन्यासों के

माध्यम से विवाह को सामान्य विवाह न मानकर उसे एक नवीन दृष्टि से देखा है। अब उसके पात्र बन्धी–बन्धाई परम्परा में पड़कर शादी नहीं कर रहे हैं अपितु प्रेम के माध्यम, व्यक्तित्व को जानकर, स्थिति और परिस्थितियों से अवगत होकर, मस्तिष्क से चिन्तन करके, अच्छे–बुरे की पहचान करके ही शादी करने का निर्णय करते हैं। अब वे आँख बन्द करके या केवल माता–पिता की इच्छाओं की सन्तुष्टि के लिए नहीं वरन् अपने जीवन–साथी का चुनाव सही जीवन जीने के लिए करते हैं। इसके साथ–साथ उपन्यासकार ने वैवाहिक समस्या की तरफ भी इंगित किया है कि विवाह अनमेल है। उनसे भिन्न–भिन्न प्रकार की समस्याएँ व्यक्ति के जीवन में आती हैं। इस तथ्य का भी उद्घाटन किया है तथा व्यक्ति को बेड़ियाँ तोड़कर स्वच्छन्द जीवन जीने के लिए प्रेरित किया है। इसके साथ ही जीवन साथी के सही चुनाव न होने पर होने वाली बुराइयों को भी दर्शाया है।

8. व्यक्ति-विमर्श

आज के युग की भीड़ भरी जिन्दगी में व्यक्ति अकेला पड़ गया है। जीवन की यही विडम्बना है कि वह तमाम उम्र सुबह से शाम तक समूह में रहता हुआ व्यक्ति की किसी के साथ सामूहिकता में घुल–मिल नहीं पाता। वह सम्बन्धों को निभाता अवश्य है, किन्तु उन्हें जी नहीं पाता है। वह हर वक्त तनावों से घिरा हुआ अपनी ही उधेड़बुन में खोया नजर आता है। यह व्यक्ति हर वक्त काम की धुन में भागता नजर आता है। वह पूरी तरह से यान्त्रिक बना हुआ है। इधर से उधर, उधर से इधर। एक पल के लिए भी उसके जीवन में आराम नहीं है। न उसे दिन में चैन है न रातों की नींद। कई बार तो वह अपने ही निर्णयों पर विश्वास न करके घुटता रहता है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के उपन्यास 'गिरती दीवारें' में चेतन भी एक घुटनभरा जीवन व्यतीत करने वाला युवक है। उसके अपने जीवन में कुछ ऐसे कार्य थे जिन्हें चाहकर भी नहीं कर पाया था। वही चेतन अपने एकाकी जीवन के बारे में सोच रहा है– "वह तो सदा ही पिटे हुए पिल्ले की तरह छिपता, डरता और दुबकता रहा है। वह सोचने

लगा, कभी अपने समवयस्क लड़कों से वह नहीं मिल पाया, उनके खेलों में शामिल नहीं हो सका, बड़े भाई की तरह ताश, शतरंज, चौपड़, कनकौएबाजी और छोटे भाइयों की तरह गिल्ली–डण्डा, कबड्डी, जंगपलंगा, लम्बी–लम्बी टीलों और दूसरे ऐसे खेलों में भाग नहीं ले सका। वह सदा एकाकी बना रहा।"[66]

आज के व्यक्ति का जीवन सदैव द्वन्द्वग्रसित रहता है। वह अपने जीवन की कमियों को पूरा करना चाहता है, अपने अधूरेपन को भरना परन्तु वह ऐसा नहीं कर पाता है और अतृप्त मन उसे अच्छे–बुरे का ध्यान किए बिना ही कर्म करवाता रहता है। चेतन अपनी पत्नी से वह सब कुछ एक साथ नहीं पा सका जिसकी कल्पना उसने की थी, इसीलिए वह मन्नी की ओर आकर्षित हुआ। वह मन्नी के साथ वह कर्म कर देता है जो उसे नहीं करना चाहिए था। वह सोच रहा है– "उसे जब शिमला आते समय का स्मरण होता था, वह अपने आपको कोसने लगता था और वह समझता था कि मन्नी की दृष्टि में कलुष नहीं, उसी के मन में पाप है, उसी की अपनी अतृप्ति उसे सदा भ्रम में डाल देती है।"[67]

आधुनिक मनुष्य का जीवन विडम्बना से भरा हुआ है। वह इस जाल से निकलना चाहता है, लेकिन वह तन्त्र उसे निकलने ही नहीं देता है। वही उसी में बना रहने को मजबूर है। उसकी विडम्बना यह है कि उसके पास मजबूत इच्छाशक्ति का अभाव है, जिसके चलते वह हर कदम पर हार मानता है। 'अश्क' जी मनुष्य को नई दृष्टि प्रदान कर इस तन्त्र को ध्वस्त करने का आह्वान करते हैं। उपन्यास 'गर्म राख' में चातक भी इसी षड्यन्त्र का शिकार है। वह उससे निकलना चाहता है–

"आग लगा दूँ इस दुनिया को, जिसने मेरे स्वप्न जलाये,

मधु पीने वालों को जिसने, बरबस विष के जाम पिलाये,

---

66. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ० 147

67. वही, पृ० 182

नन्हीं सी अभिलाषा मेरी, नहीं निठुर जिस जग ने मानी,
उस को मीठे गीत सुनाऊँ, नहीं प्रण, मैं ऐसा दानी।

महाक्रान्ति की देवी कालिका,
अब मेरे गीतों में बोले!
मेरे नयनों की ज्वाला में,
नेत्र तीसरा शंकर खोले।"[68]

मनुष्य जब जीवन से हताश हो जाता है और मरने की ठान लेता है तो लोग उसे समझाते हैं, उसे लेक्चर पिलाते हैं, उसे ऐसा न करने से रोकते है तथा तरह–तरह का ज्ञान बाँटते हैं, लेकिन ऐसा कोई विरला इस संसार में नहीं है जो उसकी अकर्मण्यता को प्रश्रय देकर उसका शान्ति प्रदान करने वाला नीड़ बना सके। आज मनुष्य स्वतन्त्र रूप में नहीं जी सकता है। क्योंकि समाज में चारों तरफ ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, संकीर्णता, नफरत, अविश्वास, कटुता भरी हुई है। इसी नफरत की आँधी ने व्यक्ति में क्षोभ भर दिया है। वह इस वातावरण से दूर भागना चाहता है, परन्तु उसके पास दृढ़ इच्छा शक्ति, आत्मविश्वास का अभाव है। वह केवल इसी विश्वास के आधार पर ही इन संकटों का सामना कर सकता है। उपन्यास 'बड़ी–बड़ी आँखें' में संगीत जी देवनगर से शान्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से गया था परन्तु वहाँ शान्ति के स्थान पर उसे अभाव, कुण्ठा, घृणा तथा संकीर्णता का जीवन मिला, वह उससे दूर भागना चाहता है, लेकिन वह ऐसा घर नहीं पाता– "पर अब मैं सोचता हूँ, मेरा दोष है कि मैं ऐसी जगह बसा हुआ हूँ, जहाँ किसी स्वतन्त्रवृत्ति के आदमी के लिए कोई जगह नहीं, जहाँ वास्तव में ईर्ष्या–द्वेष, संकीर्णता और ओछेपन का राज है, जहाँ प्रेम के स्थान पर नफरत और विश्वास के स्थान पर सन्देह है और मैंने तय किया कि मैं देवनगर के वासियों और अपने आप पर दया करूँ और त्यागपत्र दे दूँ।"[69]

---

68. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ० 307

69. वही, बड़ी-बड़ी आँखें, पृ० 119

मनुष्य के जीवन की प्रासंगिकता आज पहले से अधिक है क्योंकि वह जीवन में अपना महत्त्व रखता है। आज वही मनुष्य जीवन जीने का अधिकारी है, जिसके जीवन का समाज को कोई लाभ हो अन्यथा उसका कोई महत्त्व नहीं है। 'अश्क' ने भी इसी विचार की पुष्टि की है तथा उसके जीवन की प्रासंगिकता को अपने उपन्यास 'सितारों के खेल' में स्वीकार किया है। जगत बंसीलाल के जीवन के सन्दर्भ में कहता है– "जीवित रहने का तात्पर्य जीवन के संघर्ष में पूर्ण रूप से सहयोग दे सकना है। जो व्यक्ति संसार में किसी प्रकार के सुख का उपयोग नहीं कर सकता और न दूसरों को करने देता है, उसे क्या हक है जीवित रहे और दूसरों के मार्ग का कांटा बने। यदि वह स्वयं नहीं मरता तो समाज ने उसे मौत के घाट उतार देना चाहिए। शरीर का कोई अंग निष्क्रिय हो जाए तो उसे अलग कर दिया जाता है, फिर क्यों समाज के शिथिल अंग को काट कर न फेंक दिया जाए।"[70]

कहने मात्र को आधुनिक व्यक्ति का जीवन सुखद है, वह बड़े–बड़े मकानों में रहता है परन्तु सच्चाई इसके एकदम विपरीत है। वह बड़े मकानों में रहता हुआ भी छोटा है, वह दूसरों की समस्याओं का समाधान करने वाला व्यक्ति स्वयं समस्याओं में घिरा रहता है। वह जीवन की समस्याओं को सुलझाने हेतु केवल मस्तिष्क का प्रयोग करता रहता है। इसलिए उसके शरीर में विद्यमान हृदय पक्ष शून्य रह जाता है। वह जीवनभर इस हृदय अर्थात् दिल का प्रयोग ही नहीं कर पाता है और न ही किसी से प्रेम कर पाता है। इस प्रकार से उसके जीवन के दोनों पक्षों का सही प्रयोग नहीं हो पाता है जिससे उसके जीवन में कसक रहती है। उपन्यास 'गर्म राख' में चातक की स्थिति भी ठीक वैसी ही नीरस बनी हुई है। "फीस जुटाने, पुस्तकों, कापियों और प्रायः अपने खाने आदि की व्यवस्था करने और परीक्षाओं में सफलता पाने के लिए उसे इतना श्रम करना पड़ता था कि प्रेम के सपने देखने का उसके पास

---

70. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', सितारों का खेल, पृ० 122

कोई समय न रहता था कि वह अपने हृदय पर अंकुश लगाये रखता था। जो हो उसके सपने जीवन की दैनन्दिन समस्याओं से उलझे रहते। किसी तन्वी का चित्र या सुन्दर मुखड़ा या सुगठित देह देखकर सपनों की दुनिया बसा लेना और कविता की निर्झरिणी को कागज पर बहा देना उसके बस की बात नहीं थी।"[71] तथा इसी प्रकार पण्डित जी की जीवन–शैली भी कुछ इसी प्रकार की संघर्षमयी है। वे काम में इतने व्यस्त रहते कि उन्हें अपना ही ख्याल नहीं रह पाता था। उनकी दिनचर्या के बारे में लेखक बताता है कि – "कामना–रहित होकर, फलाफल की इच्छा से मुक्त रहकर क्योंकि उन्होंने कर्म में रत रहना सीखा था, इसलिए यदि पद और धन के साथ–साथ उन्हें सन्तति भी पर्याप्त संख्या में मिली तो उसे भी उन्होंने निरपेक्ष भाव से स्वीकार किया। कलम घिसते–घिसते, ट्यूशन पढ़ाते–पढ़ाते, गयी रात तक परीक्षाओं के पेपर बनाते तथा देखते और फिर इस सबके ऊपर अपने समृद्ध यजमानों के यहाँ सेवा करते–करते उन्हें कभी पल भर का अवकाश न मिला था और उनका ललाट जैसे बढ़कर उनके सारे सिर पर छा गया था परन्तु पण्डित जी ने कभी अपने उस गंजे सिर की चिन्ता न की थी।"[72]

आधुनिक मनुष्य का जीवन बनावट, दिखावा, ढोंग आदि चीजों के अन्तर्गत आ गया है। उसके जीवन का प्रत्येक कार्य दिखावे में लिप्त रहता है। इसी के चक्कर में पड़कर, अपने को सबसे ऊपर मानकर दूसरों को नीचा समझकर जीवन जी रहा है। वह जीवन की कटु सत्यता से परिचित नहीं है। वह इस बनावट की पद्धति में रहकर अपने जीवन के सही या मूल लक्ष्य को भी भूल गया है। उपन्यास 'गिरती दीवारें' में चेतन कविराज के बारे में सोच रहा है– "कहीं उस व्यावहारिकता, चतुराई, व्यापार, प्रवंचना, छल–कपट के नीचे दबी पड़ी है और चेतना ने सोचा।

---

71. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ० 81

72. वही, पृ० 103

मनुष्य क्यों अपने आप पर एक खोल चढ़ाने को विवश है, क्या कोई ऐसी व्यवस्था नहीं जिसमें वह जैसा है वैसा रह सके; उसे छल–कपट, धोखा–धड़ी, शोषण और उत्पीड़न की आवश्यकता न पड़े। वह अपने गुणों को जिला दे, चमकाए, मन्द न पड़ने दे, इस प्राकर कैद न करे, दबाकर न रखे।"[73] परन्तु आज मनुष्य हताश होकर हार मान कर नहीं बैठना चाहता है अपितु वह निरन्तर प्रयासरत है। वह किसी भी भाँति अपनी मंजिल को प्राप्त करना चाहता है। वह अपनी हार को अपने प्रयासों से जीत में बदलने को उत्साहित रहता है। वह निष्ठा और लगन से मेहनत करता है। उपन्यास 'गर्म राख' में पण्डित दाताराम शास्त्री भी एक ऐसा ही व्यक्ति है। वह दिन–प्रतिदिन समस्याओं से घिरा रहता है, परन्तु वह अपने जीवन से हारना नहीं चाहता है बल्कि अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सदैव प्रयासरत रहता है– "एक बार अपने काम में असफल होने पर वे फिर उसी निष्ठा और तत्परता से उसमें रत हो जाते थे। उसे चींटी की तरह, जो अपने से कहीं बड़ी मरी मक्खी को दीवार के ऊपर चढ़ा ले जाना चाहती है, बार–बार असफल होती है, पर अपना श्रम नहीं छोड़ती।"[74]

अन्ततः कहा जा सकता है कि आज आधुनिक मनुष्य मुसीबतों, संघर्षों में तथा समस्याओं में उलझा रहता है। जिस तन्त्र में वह उलझता है, उसका निर्माण भी स्वयं उसी द्वारा किया गया है और वह जिस समाज का अंग है, वही समाज उसे इस जाल में बने रहने को बाध्य करता है। परन्तु अश्क के पात्रों का व्यक्तित्व संघर्षशील है, वे उलझन में घिरे हुए हैं लेकिन साथ ही साथ उससे निकलने की इच्छा भी रखते हैं तथा उसी के अनुकूल सकारात्मक प्रयास करते हैं। आज का मनुष्य भी इसी प्रकार उलझा हुआ है तथा वह इस जाल से बाहर निकलने के लिए, अपनी मुसीबतों से छुटकारा पाने के लिए निरन्तर प्रयासरत है और ऐसे संसार का निर्माण करना चाहता

---

73. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ० 152

74. वही, गर्म राख, पृ० 103

है जिसमें सभी व्यक्ति अपने आदर्शों को पूरा कर सके। सभी का जीवन सुखद एवं सफल हो। उपन्यास 'गर्म राख' में हरीश इन्हीं विचारों को अभिव्यक्त करता है– "बिना किसी ऊँचे आदर्श के जीवन मुझे निस्सार मालूम होता है। खाने–पीने, पहनने और मोटर पर चढ़ने की आकांक्षा मुझमें नहीं। अपने आदर्शों की पूर्ति के साथ यदि ये सुख मुझे मिलते हैं, उस आदर्श की पूर्ति के साधन बनते हैं तो मुझे लेने से इन्कार नहीं, पर यदि वही साध्य बनते हैं तो मेरी प्रवृत्ति उन्हें लेने की नहीं। . . .मैं तो उस दिन की कल्पना करता हूँ, जब ये सुख सर्वसाधारण के लिए सुलभ होंगे, पर केवल इन्हीं सुखों को पाने के लिए जीना मुझे स्वीकार नहीं। बिना इन सुखों को पाए, अपने आदर्शों के लिए जूझते रहने की कल्पना मेरे लिए अपेक्षाकृत सुखद है, मुझे जीवन को जीने की स्फूर्ति देती है।"[75]

9. अवसाद-घुटन

आधुनिक काल ने मानव जीवन की सरलता और सहजता को एक सीमा तक सोख लिया हैं और उसके स्थान पर इस जीवन की जटिलता, संकुलता तथा यान्त्रिकता ने उसमें अकेलापन और ऊब भर दी है। इस परिवर्तन ने जीवन को कहीं गहरे से प्रभावित किया है। अकेलेपन और एकतरफा प्रीत की यातना, बड़े ही जटिल संवेग है। जो औद्योगिक पूंजीवादी व्यवस्था में निराशावाद और विफलतावाद को फैलाते हैं। इस तरह से एक ढंग की 'आधुनिक कल्पना' का स्वरूप निराशा और विफलता सम्वेगों की जटिलता तथा जीवन की प्रतीकरूपता आदि से रचित है।

आधुनिक व्यक्ति कहीं भी स्थायी सन्तोष नहीं पाता है। नित्य परिवर्तन में उसका मन रमता है। दूसरे व्यक्तियों से उसका आन्तरिक लगाव कम होता जाता है। वह अपने दर्द को अकेले भोगता है और इस भोगने की प्रक्रिया में वह अकेला ही होता चला जाता है। उपन्यास 'शहर में घूमता आइना' में चेतन का मन व्यथित है,

---

75. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ० 262-263

उसकी इस व्यथा को समझने वाला कोई भी नहीं है। वह अपने दिन की बात किसी को बताना चाहता है, परन्तु उसका जीवन नितान्त एकाकी रहा है, इसलिए अब उसका कोई मित्र भी नहीं है, जिसे वह अपने दिल की बात कह सकता हो। "वह सुबह से डोलता फिर रहा है। यदि उसका भी कोई अभिन्न मित्र होता जिसे वह अपने दिल की बात कह सकता, जो उसकी तकलीफ को समझ सकता, कुछ और न करता तो उसके साथ दिनभर आवारा घूम सकता तो वह कितना हल्का हो जाता। पर उसका कोई मित्र नहीं था। वह नितान्त एकाकी था। अपने तीव्र संघर्ष पर विजय पाने के लिए, अपने से आगे उसने कुछ देखा ही नहीं और जब तक किसी दूसरे के लिए कुछ न किया जाए, वह हमारे लिए क्या करेगा।"[76]

उपन्यास 'शहर में घूमता आइना' का नायक चेतन भी अपने में अनेक आशाएँ, इच्छाएँ, अभिलाषाएँ पाल लेता है। वह अपनी साली नीला से विवाह करना चाहता है, बावजूद इसके कि उसकी पहले से पत्नी चन्दा उसके साथ है लेकिन जब वह उसके साथ शादी नहीं कर पाता और नीला की शादी किसी अधेड़ उम्र व्यक्ति से हो जाती है तो वह काफी घुटन में रहता है। वह उस शादी का विरोध भी करना चाहता है, लेकिन कर नहीं पाता है। "वह सन्तुष्ट था। उसने आ कर क्या पाया ? – दुःख, पीड़ा, वितृष्णा, कुण्ठा – अपने आपसे भी – अपने वातावरण से भी। वह नीला की बात नहीं सोचेगा। उसकी शादी हो गई है। वह क्या कर सकता है . . . उसकी आँखों के सामने नीला की अन्तिम केंट का दृश्य आ गया ओर जैसे कोई तेज भाला उसके सीने में उतरता चला गया। उस अधेड़ के साथ नीला कैसे निर्वाह करेगी ? उसने क्या कर दिया ? क्यों उसके पिता से उसकी शादी करने को कह दिया ?"[77]

---

76. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', शहर में घूमता आईना, पृ० 267

77. वही, पृ० 415

इसी प्रकार उपन्यास 'बड़ी बड़ी आँखें' में संगीत जी अपने जीवन से निराश एवं दुखी है। वह शान्ति की खोज में देवनगर चला जाता है। वह वहाँ पर शान्ति पाना चाहता है, परन्तु वहाँ पर भी वह खुलापन तथा शान्ति को प्राप्त नहीं कर सका। देवनगर के बारे में संगीत जी कहते हैं– "मैं पूछता हूँ क्या देवनगर में ऐसा है ? क्या इर्द–गिर्द की गरीब दुनिया में देवनगर का अस्तित्व सोने की ईंटों को छिपाये वैभवशाली व्यक्ति जैसा नहीं ? क्या बाहर की सारी संकीर्णता, बैर, विद्वेष, डाह, चाटुकारिता, चापलूसी यहाँ नहीं ? ऐसी स्थिति में आपसे प्रार्थना करूँगा कि आप मुझे तत्काल छुट्टी दे दें, ताकि इस घुटे–घुटे वातावरण से बाहर निकलकर मैं आजादी की दो साँस लूँ।"[78] एक तरफ तो संगीत जी इस वातावरण से बाहर निकलना चाहता है, दूसरी तरफ वह अन्दर ही अन्दर देवा की बेटी वाणी से प्रेम करता है। इसलिए वह उस व्यवस्था से बन्धा रहना चाहता है। धीरे–धीरे जब उसका प्रेम गहराता जाता है तो वह एक तरफ प्यार करना चाहता है, उसे पाना चाहता है, वहीं दूसरी ओर उससे दूर भागना चाहता है– "मैंने अपना मन वहाँ से उठा लिया था। मेरा मन वहाँ से समूचा उठ जाए, उसका कोई भाग वहाँ पड़ा न रह जाए, मैं इसका ख्याल रखता था और इसलिए जब बाहर शाम को सैर के लिए जाना शुरू किया तो इस बात का ख्याल रखता था कि मैं जिस ओर एक दिन जाऊँ, उधर दूसरे दिन न जाऊँ और यों वाणी से मिलने के अवसर कम से कम हो जाएं, उसका मोह भंग हो जाए और वह मेरा ख्याल छोड़ दे।"[79]

मनुष्य जीवन में बड़ी–बड़ी ऊँचाइयों को छूना चाहता है, इसके लिए प्रयास करता है और तब तक करता रहता है, जब तक उसे प्राप्त न कर ले। लेकिन यह भाग्य की विडम्बना ही कहिए कि वह उसे प्राप्त नहीं कर पाता और थक कर

---

78. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', बड़ी-बड़ी आँखें, पृ० 123

79. वही, पृ० 101-102

मौत को गले लगा लेता है। जो व्यक्ति जीवन से हार जाते हैं, उनके सामने केवल मौत का ही रास्ता शेष रह जाता है, परन्तु यह सत्य नहीं। उपन्यास 'सितारों का खेल' में रानी लीला को परिस्थितियों के सन्दर्भ में समझा रही है-- "पर कभी तुमने उन असंख्य लोगों की बाबत भी सोचा है, जो परिस्थितियों की चक्की में पिस गए। अपने समस्त परिश्रम, अपनी समस्त शक्तियों, अपने बुद्धि बल, अपनी दृढ़ता और संयम के होते हुए भी पिस गए और उनका पता भी नहीं चला। संयोग ने जिनका साथ दिया, संसार ने उन्हें समझा। संसार ने कहा, "ये कठिन परिस्थितियों को वश में करके आये हैं, ये वीर हैं, ये बहादुर हैं। पर क्या संसार ने कभी उन उंगली पर गिने जाने वाले सफल लोगों के दिलों में पैठकर उनके आन्तरिक दुःख को, उनकी अतृप्त इच्छाओं को देखा है ? जूझने को क्या मैं न जूझूँगी, क्या मैं परिस्थितियों से न लड़ूँगी पर अंजाम जो होगा वह दिखाई देता है। निबिड़ अन्धकार है। कंटकाकीर्ण मार्ग है। मैं अकेली हूँ। संयोग ने साथ दिया तो कहीं पार जा लगूँगी; नहीं मरना तो है ही।"[80]

उपन्यास में डाक्टर अमृतराय भी लता से प्रेम करता है। लेकिन लता बंसीलाल से प्रेम करती है। वह लता को पाना चाहता है परन्तु अपने हृदय के उद्‌गारों को लता के सामने स्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं कर पाता है, इसलिए वह घुटता रहता है। वह लता के सामने अपने प्यार का इजहार करना चाहता है, इसीलिए वह उस के साथ पहाड़ों पर घूमने चला जाता है। वहाँ लता अपने जीवन की परिस्थितियों के सन्दर्भ में चिन्तन कर रही है– "यदि जगत् की मुहब्बत मुहब्बत न थी तो बंसीलाल का प्यार भी प्यार न था। एक वासना थी, दूसरा उन्माद। दोनों अपूर्ण, दोनों अभावमय।"[81] यही अभाव लता को जीवनभर सालता रहता है।

---

80. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', सितारों का खेल, पृ० 152-153

81. वही, पृ० 155

उपन्यास 'गिरती दीवारें' का नायक चेतन कविराज के साथ शिमला गया है। वहाँ पर कविराज उससे पुस्तक लिखवाकर उसका शोषण कर रहा है। चेतन उसके पास से भाग जाना चाहता है लेकिन भाग नहीं पाता। अपने घुटनभरे जीवन के बारे में चेतन सोच रहा है– "जीवन की कटुता से यह उसका पहला ही साक्षात्कार नहीं। वह तो जीवन की कटुता ही में उत्पन्न होकर पला और युवा हुआ है। . . . वह सोचने लगा कभी अपने समवयस्क लड़कों से वह नहीं मिल पाया, उनके खेलों में शामिल नहीं हो सका। बड़े भाई की तरह ताश, शतरंज, चौपड़, कनकौएबाजी और छोटे भाइयों की तरह गिल्ली डण्डा, कबड्डी, जंग पलंगा, लम्बी–लम्बी टीलों और दूसरे ऐसे खेलों में भाग नहीं ले सका। वह सदा एकाकी बना रहा। एक बार पिता ने दोनों टांगो से पकड़कर शून्य में उसे इस तरह से झकझोरा था कि उसकी आंतें सदा के लिए निर्बल हो गई थीं। उसका पेट दर्द किया करता था और कई बार ऐसी असह्य पीड़ा उसके सिर या पेट में होती कि वह रात–रात भर रोया करता था, किन्तु इन सब बातों के बाद उसके मन में प्रतिहिंसा नहीं उठी।"[82]

चेतन अपनी साली नीला से प्यार करता है। एक दिन चेतन ने मौका पाकर अपनी साली को बाँहों में भरकर चुंबन लिया, जिससे साली खिन्न होकर भाग गई। चेतन ने नीला की शादी के लिए उसके पिता से कहा तो उसके पिता ने उसकी शादी अधेड़ उम्र के व्यक्ति से तय कर दी। इस सारे प्रकरण में स्वयं को दोषी मानकर अन्दर ही अन्दर टूट रहा है। वह उससे प्यार करता था और उसे पाना चाहता था, परन्तु सामाजिक बन्धनों ने उसे ऐसा नहीं करने दिया। इसी ऊहापोह में वह सोच रहा है– "अब नीला सदा के लिए उससे बिछुड़ रही है, चेतन को महसूस होता था कि वह उसे कितना चाहता है। बाह्य संयम, समाज के प्रतिबन्धों और नैतिकता के आवरण के नीचे दबा हुआ उसका हृदय घायल पक्षी की तरह छटपटा

---

82. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ० 147

रहा था। वह गर्व, जो वह नीला के प्रेम को दबाकर, ठुकराकर, सारी बात उसके पिता को बताकर अनुभव कर रहा था, उसे कोरी प्रवंचना दिखाई देने लगी। अपना वही कृत्य, जिस पर अपनी पत्नी के प्रति वफादारी के विचार से उसे गर्व था, उसे घोर अपराध दिखाई देने लगा।"[83] इसके साथ ही चेतन के जीवन को कुन्ती, मन्नी और नीला के प्रति आकर्षण और अपने प्यार की तीनों के प्रति असफलता ने भी उसके मन को कुंठित कर दिया था।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि उपेन्द्रनाथ अश्क ने सामाजिक जीवन के विविध सन्दर्भों को शब्दायित किया है। इस शब्दायन में आधुनिक बोध का स्वर मुखरित हुआ है। चूँकि अश्क जी हमारे वर्तमान जीवन और समाज के द्रष्टा और साहित्य में उस दृश्य के स्रष्टा हैं, इसलिए पूरी सम्पूर्णता के साथ सामाजिक आधुनिकता मूलक चेतना व्यक्त हुई है। निस्सन्देह, वे आधुनिकतावादी चेतना के कथाकार हैं।

oooooooooooooooooooooo

---

83. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ० 157

चौथा अध्याय

उपन्यासकार अश्क के उपन्यासों के सांस्कृतिक सन्दर्भों में आधुनिकता बोध

(क) संस्कृति : शब्दार्थ और स्वरूप

(ख) संस्कृति के विविध पक्ष

चौथा अध्याय
उपन्यासकाल अश्क के उपन्यासों के सांस्कृतिक सन्दर्भों में आधनिकताबोध

(क) संस्कृति : शब्दार्थ व स्वरूप

मानव जीवन की गतिविधियों का संचालन अन्तर्वृत्तियों की जिस समष्टि द्वारा होता है तथा जिसे वह अपनाकर सही अर्थों में मनुष्य बनने की दिशा में अग्रसर होता है, उसे संस्कृति कहते हैं। यह मानव जीवन की एक विशिष्ट पद्धति तथा विकास की दिशा में सतत गतिशील किन्तु स्थायी जीवन–व्यवस्था है, जिसे मानव–जीवन का सौन्दर्य एवं वैचारिक केन्द्र–बिन्दु से संयुक्त सामूहिक दृष्टिकोण भी कहा जा सकता है। इस प्रकार इसका विस्तार क्षेत्र व्यष्टि न होकर समष्टि है। यह मानव जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का तिथिवार एवं स्थान सम्पृक्त इतिहास प्रस्तुत करती है। उन घटनाओं से मानवता को उत्कर्ष देने वाले जो मानवीय अनुभव फूटते हैं, वे मानवता के अन्तर्गत आते हैं और इन्हीं घटनाओं से फूटते हुए मानवीय अनुभवों का सारभूत रूप परम्परा का सार संस्कृति कहलाता है। यह मानव जीवन की विशिष्ट पद्धति तथा विकास की दिशा में सतत गतिशील बिन्दु तटस्थ जीवन व्यवस्था है। अतएव यह एक प्रकार से सामाजिक भाव है। इस अति प्रचलित शब्द के लिए अनेक परिभाषाएँ प्रकाश में आ चुकी हैं, किन्तु अभी तक कोई भी सर्वमान्य नहीं बन सकी है।

1. 'संस्कृति' शब्द का निर्वचन एवं परिभाषा

"'संस्कृति' शब्द संस्कृत के 'सम्' उपसर्ग के साथ 'कृ' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगने से बनता है। सम् का अर्थ है 'सम्यक् रूप से' और 'कृ' धातु 'करने' के अर्थ में प्रयुक्त होती है। इस प्रकार सम्यक रूप से किये गए कार्यों की शृंखला ही

संस्कृति है।"[1] इस प्रकार इसका सामान्य अर्थ परिष्करण, परिमार्जन की क्रिया अथवा सम्यक् रूपेण निर्माण है। 'कल्याण' पत्रिका के हिन्दू संस्कृति अंक में संस्कृति को 'भूषणभूत सम्यक् कृति' या चेष्टा कहा गया है।"[2] भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ मानव व्यवहार के वे प्रेरक कारक हैं, जिनसे मनुष्य अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उन्नति करता हुआ सुख–शान्ति प्राप्त करता है। मनुष्य के लौकिक एवं अलौकिक अभ्युदय के अनुकूल आचार–विचार ही संस्कृति है। इसमें पुनीत विचारों की ललित अभिव्यक्ति करने वाला वाग्विस्तार प्रमुख अंग के रूप में रहता है। सभ्यता, आचार–विचार, संस्क्रिया, शुद्धि, संस्कार, परिष्कार, संस्कृति के पर्यायवाची शब्द माने जाते हैं। कुछ विद्वान 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृति' शब्द से 'संस्कृति' शब्द की निष्पत्ति मानकर इसका अर्थ भृष्णभृत सम्यक् कृति अर्थात् चेष्टा स्वीकार करते हैं।"[3] वस्तुतः यह मत भी उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि करता है क्योंकि मनुष्य भौतिक एवं मानसिक दोनों ही रूपों में सतत क्रियाशील रहता है। इस अर्थ में हम कह सकते हैं कि आचार एवं विचार ही संस्कृति है।

संस्कृति के व्यावहारिक अर्थ को समझने के लिए इसके इतिहास पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। संस्कृति शब्द का प्रथम प्रयोग यज्ञुः संहिता में उपलब्ध होता है। वहाँ यह शब्द देवताओं को सोम प्रदान करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।"[4] वेद में सोम मनस्तत्व का प्रतीक है। इसके संयोग में प्राण और भृत में गति की जो दशा निर्धारित होती है उससे विश्व का स्वरूप बनता और निखरता है। यही मनोयोग का भाव सोम के सेवन पान और प्रदान में निहित है।"[5] इसके साथ–साथ

---

1. डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा, तुलसी साहित्य के सांस्कृतिक आयाम, पृ० 48
2. कल्याण : हिन्दू संस्कृति अंक, पृ० 24 उद्धृत डॉ० रामसजन पाण्डेय, सन्तों की सांस्कृतिक संसृति, पृ० 9
3. डॉ० मनमोहन लाल शर्मा, भारतीय संस्कृति और साहित्य, पृ० 23
4. यजुर्वेद भाषा भाष्य, 7/4
5. डॉ० बुद्ध प्रकाश, भारतीय धर्म एवं संस्कृति, प्राक्कथन, पृ० 5

शतपथ ब्राह्मण में संस्कृति शब्द एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जिसका अभिप्राय अग्नि अथवा प्राणशक्ति की क्षमता को बढ़ाना है। इससे स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य में 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग यद्यपि दैवी क्रिया–कलापों के अर्थ में हुआ है तथापि इसका भावार्थ आत्मा एवं प्राणों की शक्ति का संवर्धन तथा उन्नयन है।

अंग्रेजी भाषा में 'संस्कृति' के समानार्थक रूप में 'कल्चर' शब्द प्रयुक्त होता है। 'कल्चर' लैटिन के शब्द 'कुल्तुस' 'cultus' से निर्मित है जिसका प्राचीन अर्थ कृषि करना, जुताई करना तथा पूजा करना के सन्दर्भ में प्रयुक्त होता है। 'एग्रीकल्चर', हार्टीकल्चर, कल्टीवेशन आदि शब्दों में इसका मूल अर्थ अब भी सुरक्षित है। वस्तुतः प्राकृतिक स्तर पर यह मानवीय प्रयत्नों द्वारा प्रारम्भ की गयी परिष्कार की प्रक्रिया थी। भूमि को जोतकर साफ करने और उत्पादन योग्य बनाने में परिष्कार की प्रवृत्ति निहित थी। आगे चलकर 'कल्चर' शब्द का प्रयोग मानसिक तथा आचारगत परिष्कार के अर्थों में होने लगा। उक्त अर्थों में 'कल्चर' शब्द का प्रयोग १७७० ई॰ तक प्रचलित नहीं था। सम्भवतः 'कल्चर' शब्द का प्रयोग 1974 ई॰ के उपरान्त जर्मन भाषा वैज्ञानिक जोहर क्रिस्टफ एडेलुड्ग ने किया था।"[6] पाश्चात्य साहित्य में दीर्घ काल तक इस शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग होता रहा, किन्तु शनैः–शनैः इसमें अन्य अर्थ भी समाहित हो गए और जिस अर्थ में यह शब्द ग्रहण किया जाता है, उससे तात्पर्य है – विचार, रुचि, आचार, परिष्करण एवं प्रशिक्षण। इस प्रकार से परिष्कृत एवं प्रशिक्षित होने की स्थिति तथा सभ्यता का बौद्धिक पक्ष है। इसके साथ ही इसे नैतिक एवं बौद्धिक क्षमताओं के प्रशिक्षण एवं परिष्करण के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि कल्चर में मानसिक परिष्करण का ही भाव सन्निहित है। इस दृष्टि से यदि देखें तो इसका मूल अर्थ कृषि भी इसी से सम्बन्धित है। वस्तुतः कृषि का उद्देश्य भूमि का परिष्कार करना ही होता है। भूमि को भली–भाँति साफ करके

---

6. डॉ॰ हरिश्चन्द्र वर्मा, तुलसी साहित्य के सांस्कृतिक आयाम, पृ॰ 49

ही उसमें बीजवपन किया जाता है और तदुपरान्त उत्तम फल की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार श्रेष्ठ जीवनयापन के लिए अन्तःकरण की शुद्धि तथा परिष्कृति की जाती है। अतः स्पष्ट है कि भूमि के परिष्कार की प्रक्रिया ही कालान्तर में मानसिक परिष्कार के अर्थ में ग्रहण की जाने लगी और इसी अर्थ में 'कल्चर' शब्द का प्रयोग होने लगा।

'कल्चर' के निष्पादक शब्द 'कोलर' का दूसरा अर्थ पूजा करना बताया गया है। पूजा की भावना के सन्दर्भ में पाश्चात्य विद्वान बोआस ने लिखा है कि जिस समय यह अर्थ प्रचलित हुआ था उस समय तक मानव समाज ने कृषक जीवन को अंगीकार कर लिया था, किन्तु सांस्कृतिक अभ्युदय के इस प्रथम सोपान में कृषकों ने प्राकृतिक शक्तियों से सुरक्षा प्राप्त करने के लिए उनकी उपासना प्रारम्भ कर दी थी तथा यह पूजा मानवीय चित्त को प्रिय लगने वाली मनभावनी क्रियाओं पर आश्रित थी। इस प्रकार 'कल्चर' को ध्यान में रखकर इस मत पर प्रस्तुत होते हैं कि यह शब्द प्रारम्भ में कृषि सम्बन्धी कार्यों का बोधक था और बाद में परिष्कृत होता हुआ संस्कृति का पर्याय बना, जोकि आज तक प्रचलित है।

2. संस्कृत, संस्कृति और संस्कार

'संस्कृति' शब्द के अर्थ के साथ–साथ संस्कार शब्द स्वभावतः आकर जुड़ जाता है। इस प्रकार से 'संस्कार' के अर्थ को जानना आवश्यक हो जाता है क्योंकि ये दोनों एक–दूसरे के पर्यायवाची शब्द हैं। संस्कार के विभिन्न अर्थ प्रचलित हैं – यथा (1) ठीक करना, सुधार (2) दोष या त्रुटि निकालना (3) परिष्कार करना, (4) शरीर की सफाई एवं शौच (5) मनोवृत्ति या स्वभाव का शोधन (6) शिक्षा, उपदेश, संगीत आदि का मन पर पड़ा हुआ प्रभाव (7) पूर्व जन्म की वासना (8) पवित्र करना, वे कार्य जो जन्म से लेकर मरणकाल तक द्विजातियों के सम्बन्ध में आवश्यक होते हैं।"[7]

---

7. श्याम सुन्दर दास, हिन्दी शब्द सागर, पृ० 3414

मानव–जीवन में संस्कारों का विशिष्ट महत्त्व है। ये मानव–जीवन का परिष्कार ही नहीं करते वरन् उसके नियामक विधायक भी हैं। संस्कारों में मानव के दोषों का परिमार्जन तो होता ही है और साथ ही दोष–मार्जन के अनन्तर स्वच्छ, पवित्र, निर्मल बन जाने वाले मानवीय शरीर मनुर्बुध भूतात्मा पर्वों में अमुक अतिशय का आधार होता है, सर्वान्त में इसी संस्कार विशेष से मानव की कमियों की पूर्ति की जाती है, जिसके बिना मानव अपूर्ण रहता है। ये संस्कार ही उसे समाज का प्रबुद्ध एवं जागरूक प्राणी बनाता है अन्यथा आधुनिक सभ्य आदमी और आदिम व्यक्ति में कोई अन्तर ही नहीं रह जाएगा। इस प्रकार से संस्कृत, संस्कृति एवं संस्कार तीनों शब्दों के अर्थ को चित्त में धारण करके कहा जा सकता है कि संस्कृति मानव की स्वस्थ–संतुलित–समुज्जवल परिष्कृत अवस्था है, जिसने इस अवस्था को अपने हृदय, मन एवं व्यवहार में बसा लिया है, वही संस्कृत है तथा जिनके माध्यम से व्यक्ति परिष्कृत की अवस्था को धारण करता है, वे संस्कार है।

3. संस्कृति की परिभाषा

संस्कृति कोई साधारण शब्द नहीं है, वरन् एक जटिल प्रत्यय है। इस शब्द की परिभाषा वैज्ञानिक आधार पर देना कठिन है क्योंकि वैज्ञानिकता निश्चित, सीमित और पारिभाषिक होती है। इसके विपरीत सांस्कृतिक अर्थों में वस्तुजगत और अन्तर्जगत् की पारस्परिक क्रिया–प्रतिक्रियाओं का संयोजन रहता है। इसके साथ ही सांस्कृतिक अभिप्रायों में वस्तु–जगत पर व्यक्ति की सृजनात्मक अन्तश्चेतना हावी रहती है, तभी वह जीवन और जगत् को एक ऊर्ध्वमुखी रचनात्मक दिशा प्रदान करती है। अतः सांस्कृतिक प्रयोजनों में सीमित वस्तुजगत की अपेक्षा असीम और सूक्ष्म अन्तर्जगत की प्रधानता रहने के कारण सांस्कृतिक शब्दावली की वैज्ञानिक परिभाषाओं के समकक्ष कोई एक निश्चित परिभाषा नहीं दी जा सकती। संस्कृति को विभिन्न विद्वानों ने अपने–अपने ढंग से परिभाषाबद्ध करने का प्रयत्न किया है। ये परिभाषाएँ संख्या में तो अत्यधिक हैं ही साथ ही अपने केन्द्रीयभूत भाव में भी इतनी पृथक्–पृथक्

हैं कि कई बार तो परस्पर विरोधी–सी प्रतीत होती हैं। ऐसी स्थिति में 'संस्कृति' की एक सर्वमान्य परिभाषा असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है, इसलिए विद्वानों को हम विभिन्न श्रेणियों में विभाजित करेंगे। पौर्वात्य मनीषियों ने संस्कृति की परिभाषा इस प्रकार से निरूपित की है।

श्री योगिराज अरविन्द के अनुसार– "किसी संस्कृति की परीक्षा तीन कसौटियों से करनी चाहिए, प्रथमतः उसकी मूल भावना से, दूसरे उसकी सर्वोत्तम प्राप्तियों से और अन्त में उसकी अपेक्षाकृत दीर्घ जीवन और नवीकरण की शक्ति से एवं अपने आपको जाति की चिरन्तन आवश्यकताओं को नये रूपों के अनुकूल बनाने की सामर्थ्य से।"[8] इस दृष्टि से संस्कृति को तीन प्रमुख कालों से गुजरना पड़ता है। पहला काल होता है विस्तृत और शिथिल रचना का। दूसरा काल होता है जिसमें हम रूपों और छन्दों को निर्धारित करते हैं और तीसरा काल अन्तिम और संकट पूर्ण काल शक्ति क्षीणता और विघटन का।

रामधारी सिंह 'दिनकर' की धारणा है कि संस्कृति को लक्षणों से समझा जा सकता है, परन्तु उसे परिभाषा में नहीं बाँधा जा सकता है। उनका कहना है कि हर सुसभ्य आदमी न तो सुसंस्कृत होता है और न उसे निर्विवाद रूप से सभ्य की संज्ञा दी जा सकती है। उसका प्रमुख कारण यह है कि बाह्य दृष्टि से यह सुसभ्य ज्ञात हो सकता है, परन्तु आन्तरिक दृष्टि से उसका हृदय शैतान का आवास अथवा अभाव का प्रमुख आगार हो सकता है। सुसंस्कृत व्यक्ति की प्रमुख विशेषता संवेदनशीलता और दूसरे के दुखों को निवारण कर्ता होता है। वे संस्कृति की परिभाषा देते हुए कहते हैं– "यह जिन्दगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं। इसीलिए जिस समाज में हम जी रहे हैं, उसकी संस्कृति हमारी संस्कृति है। इस दृष्टि से संस्कृति

---

8. श्री अरविन्द, भारतीय संस्कृति के आधार, पृ॰ 72

वह चीज कही जा सकती है जो हमारे सारे जीवन को व्यापे हुए है तथा जिसकी रचना और विकास में सदियों के अनुभव का हाथ है। संस्कार या संस्कृति असल में शरीर का नहीं आत्मा का गुण है जबकि सभ्यता की सामग्रियों से हमारा जन्म शरीर के साथ ही छूट जाता है, तब भी हमारी संस्कृति का प्रभाव हमारी आत्मा के साथ जन्म–जन्मांतर तक चलता रहता है।"[9]

राहुल सांकृत्यायन के अनुसार – "एक पीढ़ी आती है, वह अपने आचार–विचार, रुचि–अरुचि, कला–संगीत, भोजन–छाजन या किसी और दूसरी आध्यात्मिक धारणा के बारे में कुछ स्नेह की मात्रा अगली पीढ़ी के लिए छोड़ जाती है। एक पीढ़ी के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी और आगे बहुत सी पीढ़ियाँ आती जाती रहती हैं और सभी अपना प्रभाव या संस्कार अगली पीढ़ी पर छोड़ती जाती है। यही प्रभाव संस्कृति है।"[10] डॉ॰ देवराज के अनुसार– "संस्कृति वस्तु जगत के उन पहलुओं की जीवन्त एवं शक्तिपूर्ण चेतना है जो उपयोगी न होते हुए भी अर्थवान होते हैं, लाभदायक न होते हुए भी महत्त्व बनाए रखते हैं। संस्कृति का अर्थ चिन्तन तथा कलात्मक सर्जन की वे क्रियाएँ समझनी चाहिए, जो मानव व्यक्तित्व और जीवन के लिए साक्षात् उपयोगी न होते हुए भी उसे समृद्ध बनाने वाली है। इस दृष्टि से हम विभिन्न शास्त्रों, दर्शन आदि में होने वाले चिन्तन, साहित्यिक, चित्रांकन आदि कलाओं एवं परहित साधना आदि नैतिक आदर्शों तथा व्यापारों को संस्कृति की संज्ञा दे सकते हैं।"[11]

डॉ॰ गुलाबराय के अनुसार– "यद्यपि संस्कृति का मूलाधार मानवता है तथापि देश–विशेष के वातावरण की विशेषता के कारण वह उस देश के नाम से –

---

9. रामधारी सिंह दिनकर, हमारी सांस्कृतिक एकता, पृ॰ 4
10. राहुल सांकृत्यायन, बौद्ध संस्कृति, पृ॰ 3
11. डॉ॰ देवराज, संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृ॰ 187

जैसे भारतीय संस्कृति, ईरानी संस्कृति, अंग्रेजी संस्कृति आदि नामों से विहित होने लगती है। संस्कृति का एक ही मूल उद्देश्य मानते हुए भी हम यह कह सकते हैं कि संस्कृति देश–विशेष की उपज होती है, उसका सम्बन्ध देश के भौतिक वातावरण और उसमें पालित एवं परिवर्द्धित विचारों से होता है।"[12]

वाचस्पति गैरोला के अनुसार – "जिसमें मानवता का संस्कार हो, ऐसी शिक्षा–दीक्षा, ऐसा रहन–सहन और ऐसी परम्पराएँ ही संस्कृति की उद्‌भावक है। संस्कृति एक सामाजिक विरासत है और वह संचय से विकसित होती है।"[13]

डॉ॰ राधाकृष्णन के अनुसार– "यह जीवन का ढंग तथा मानव भावनाओं का सम्यक् उद्वेलन है। प्रत्येक संस्कृति समष्टिगत विचारों की अभिव्यक्ति होती है क्योंकि समष्टि स्वयं परम मूल्यों में विश्वास तथा उनकी प्राप्ति के लिए जीवन के सम्यक् ढंग का द्योतक होता है।"[14]

डॉ॰ मंगलदेव शास्त्री के अनुसार– "किसी देश या समाज के विभिन्न व्यापारों या सामाजिक सम्बन्धों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले आदेशों की समष्टि को संस्कृति कहते हैं तथा समस्त सामाजिक जीवन के उत्कर्ष का पर्यवसान संस्कृति में ही होता है। विभिन्न सभ्यताओं का उत्कर्ष तथा अपकर्ष संस्कृति द्वारा ही मापा जाता है। संस्कृति द्वारा ही लोक को संगठित किया जाता है। अतः सभी धर्मों, सम्प्रदायों और आचरण का परस्पर समन्वय संस्कृति के आधार पर किया जा सकता है।"[15]

---

12. डॉ॰ गुलाबराय, भारतीय संस्कृति, पृ॰ 3-4
13. वाचस्पति गैरोला, भारतीय संस्कृति और कला, पृ॰ 61
14. डॉ॰ राधाकृष्णन, रिलीजन एण्ड सोसायटी, पृ॰ 21
15. डॉ॰ मंगलदेव शास्त्री, भारतीय संस्कृति का विकास, पृ॰ 3

पाश्चात्य विद्वानों के मत

भारतीय विद्वानों के साथ–साथ पाश्चात्य विद्वानों ने भी संस्कृति को परिभाषित करने का प्रयास किया है–

E. B Tylor - "Culture is that complex whole which includes knowledge, belief, art, morals, law, custom and any other capabilities and habits acquired by man as a member of society."[16]

अर्थात् संस्कृति वह जटिल समग्रता है, जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा तथा ऐसी ही अन्य क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है, जिन्हें मनुष्य समाज का सदस्य होने के कारण प्राप्त करता है।

2. Dictionary of Sociology - "Culture a collective name of all the bahaviour patterns socially acquired and socially transmitted by means of symbols . . . It includes all that is learnt through inter communication. It covers all languages, traditions, customs and institutions."[17]

अर्थात् सामाजिक रूप से अर्जित तथा प्रतीकों के माध्यम से सम्प्रेषित व्यवहार पद्धतियों की समष्टि का नाम 'संस्कृति' है। इसमें वे सभी चीजें सम्मिलित हैं जो परस्पर सम्पर्क द्वारा सीखी जाती हैं तथा जिनके अन्तर्गत भाषा, परम्परा, रीति–रिवाज तथा संस्थाएँ भी आ जाती हैं।

3. T.S Eliot - "It is a part of my thesis that the culture of the individual is dependent opon the culture of a group or class and that the culture of the group class is dependent upon the culture of th whole society to which that group or class belongs."[18]

---

16. E.B. Tylar, Primitive Culture, P.1
17. Henry P. Fairchild, Dictionary of Sociology,P. 80
18. T.S. Eliot, Notes towards defination of culture, P. 27, 41

अर्थात् संस्कृति व्यक्ति की होती है, वर्ग अथवा जाति की होती है और पूरे समाज, राष्ट्र की भी होती है, किन्तु उनके अनुसार व्यक्ति की संस्कृति वर्ग पर और वर्ग की संस्कृति पूरे समाज पर निर्भर करती है, जिस का वह अंग होता है।

उपर्युक्त विभिन्न विद्वानों की परिभाषाओं के आधार पर संस्कृति सम्बन्धी निम्नलिखित तथ्य उद्घाटित होते हैं–

1. संस्कृति का उद्भव एवं विकास मानव जीवन में ही सम्भव है।
2. संस्कृति समाज का अभिन्न अंग है।
3. संस्कृति मंगल–विधायक होती है।
4. संस्कृति का सम्बन्ध सृजनात्मकता और सौन्दर्य–विधान से है।
5. संस्कृति का मूलाधार मनुष्य और मानवता है, मानवेतर पशु–पक्षी आदि नहीं। संस्कृति का एक छोर देशकाल निरपेक्ष है, दूसरा देशकाल–सापेक्ष।
6. संस्कृति ज्योतिमर्य जीवन जीने की कला है।
7. संस्कृति गतिशील है। यह एक पीढ़ी द्वारा दूसरी पीढ़ी को निरन्तर हस्तान्तरित की जाती है।
8. संस्कृति जीवन जीने की प्रणाली है।
9. संस्कृति मनुष्य को पशुता से मनुष्यता की ओर ले जाती है।
10. संस्कृति का सम्बन्ध जीवन की वैचारिक तथा आचारिक नियमतताओं को जन्म देने वाली समाजिक पद्धति से है।
11. संस्कृति अनुपयोगी होते हुए भी मानव जीवन का उन्नयन एवं परिष्कार करती है।
12. संस्कृति का सम्बन्ध मनुष्य के विचार पक्ष से होता है और इसकी अभिव्यक्ति कलात्मक सर्जना के रूप में होती है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि व्यक्ति तथा समाज सांस्कृतिक प्रक्रिया को स्वीकार करता है। इसमें दर्शन, धर्म, नैतिकता, सौन्दर्य एवं सम्बन्ध

योजना के माध्यम से मनुष्य के विचार को सद्गति मिलती है तथा उन जीवन–मूल्यों की स्थापना करती है, जो देशगत होते हुए भी सार्वभौमिक होते हैं। इसका एक पक्ष देशकाल–निरपेक्ष सर्वसामान्य संस्कृति है तो दूसरा पक्ष देशकाल–सापेक्ष है जो विभिन्न देशों की विभिन्न प्राकृतिक और सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप विभिन्न जीवन पद्धतियों के रूप में व्यक्त होता है। अपने देशकालगत व्यावहारिक रूप में संस्कृति सामाजिक जीवन की सभी सारभूत पद्धतियों का निरूपण है। संस्कृति मानव का शृंगार है। यह हमारे आन्तरिक गुणों का ऐसा समुच्चय है, जिनसे हमारा आचरण परिचालित होता है। यह व्यक्तिगत न होकर जातिगत व समुदायगत हुआ करती है। जिसका निर्माण उस जाति के जीवनानुभवों के आधार पर एक लम्बे कालखण्ड के उपरान्त होता है। संस्कृति के अनेक रूप आयाम हैं, जिनसे किसी जाति का वास्तविक परिचय पाया जा सकता है।

जब भिन्न–भिन्न जातियों की परस्पर निकटता स्थापित होती है तो उनका आपसी आदान–प्रदान बढ़ता है। परिणामतः संस्कृति के तत्त्व प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। आधुनिक भूमण्डलीकरण के युग में विभिन्न संस्कृतियों की स्वतन्त्र पहचान लुप्त होती जा रही है और सर्वत्र एक मानवीय संस्कृति, आधुनिकता बोधयुक्त संस्कृति परिलक्षित हो रही है, जिसका अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

(ख) संस्कृति के विविध पक्ष

1. मानव

आधुनिकता की प्रक्रिया में विकसित नव संस्कृति का केन्द्रीय तत्त्व मानव है। पुराकाल से चले आ रहे सभी प्रकार के ऊँच–नीच, अमीर–गरीब, काले–गोरे के भेदभाव को समाप्त कर मनुष्य को ही इस युग में प्रतिष्ठा मिली। इस सन्दर्भ में डॉ॰ जगदीश गुप्त का मत है कि "आधुनिकता के प्रश्न पर मैं जितना ही सोचता हूँ, मुझे लगता है कि मानववादी जीवन दृष्टि उसका प्रधान और मूल आधार है। विगत युगों

में और विभिन्न देशों में जहाँ भी पुरातन से आधुनिक का संघर्ष हुआ है, वहाँ उनके मूल में कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में मानवीयता की उपेक्षा और तज्जन्य विरोध अवश्य निहित रहा है।"[19] इस चेतना को विकसित करने के लिए अनेक भारतीय–अभारतीय विचारकों, समाज–सुधारकों का योगदान भी उल्लेखनीय रहा। ब्रह्म–समाज से लेकर आर्यसमाज ने, कबीर से लेकर स्वामी विवेकानन्द ने सदियों से चली आ रही रूढ़ धारणाओं को उखाड़ फेंका, वहीं 'डार्विन ने जैविक स्तर पर फ्रायड के मानसिक स्तर पर एवं मार्क्स ने आर्थिक एवं सामाजिक स्तर पर सभी प्राणियों को समान घोषित करके मानवतावाद को व्यापक धरातल पर प्रस्तुत किया है।"[20]

आधुनिक युग में वही समाज सुसंस्कृत कहलाने का अधिकारी है, जहाँ पर प्रत्येक व्यक्ति को उचित सम्मान और जीवन जीने का अधिकार तथा उन्नति की नई दिशाएँ प्राप्त हों। कोई भी व्यक्ति किसी को नाहक परेशान न करे। उपन्यास 'गर्मराख' में हरीश अपने उद्‌गारों को व्यक्त कर रहा है। "क्यों नहीं सारी दुनिया के लोग मिलकर इस धरती पर ही स्वर्ग बसाने का प्रयास करते ? . . . पर यह तभी सम्भव हो सकता है जब सारी धरती पर एक ही सरकार हो; सारी दुनिया के सारे प्रदेश एक संघ के सदस्य हों और एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का, एक जाति दूसरी जाति का, एक समाज दूसरे समाज का और एक देश दूसरे देश का शोषण करने के बदले उसकी सहायता करे। मानव–मानव से न जूझे, मानव जूझे प्रकृति से।"[21]

मध्यकालीन सोच मनुष्य को बाह्य विधि–विधानों में जकड़े थी जिसके फलस्वरूप वह मनुष्य को गौण मानकर अन्य चीजों तथा बाह्य विधानों को महत्त्व

---

19. डॉ० जगदीश गुप्त, नयी कविता : सैद्धान्तिक पक्ष, पृ० 302
20. गो० रा० कुलकर्णी, पौराणिक काव्य : आधुनिक सन्दर्भ, पृ० 68-69
21. उपेन्द्रनाथ अश्क, गर्म राख, पृ० 165-166

देता था। परन्तु आधुनिक बोध मनुष्य की सर्वोच्च सत्ता स्वीकार करता है। सभी मानव बराबरी का जीवन व्यतीत करे, ऐसी परिकल्पना आधुनिकता बोध से ही सम्पन्न हो सकती है– "आज जहाँ चन्द लोगों के स्वार्थ का राज्य है, वहाँ जनता का, जनता के हित का राज्य हो और जहाँ गुलामी और स्वार्थ ने हमारे दुर्गुणों को उभार रखा है, वहाँ स्वतन्त्रता हमारे सद्‌गुणों को उजागर करे। सबको जीवन में उन्नति के समान साधन मिलें और हम भारतवासी, जो आज सिकुड़ कर बौने–से रह गये हैं, अपने भव्य आकार को पायें।"[22]

आज का मानव हार नहीं मानना चाहता है। भले ही उसके विपरीत और निराशाजनक परिस्थितियों ने क्यों न घेर लिया हो, किन्तु 'नर हो न निराश करो मन को' के सूत्र वाक्य को लिए लगातार आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा लिए हुए है। यही उसकी सबसे बड़ी शक्ति है जो उसे संसार के अन्य प्राणियों से अलग करती है। उपन्यास 'गिरती दीवारें' में चेतन कविराज के साथ शिमला चला जाता है। वहाँ पर वह एकान्त में चिन्तन कर रहा है परन्तु वह जीवन से हार नहीं मानता है और आगे बढ़ने की इच्छा रखता है– "वह सोचता है यदि आज वह दुर्बल है तो क्या कभी सबल न होगा ? हताश होकर वह क्यों बैठ गया है ? सृष्टि में चारों ओर वह दृष्टि दौड़ाता तो उसके अपरिपक्व मन को सब जगह जंगल का नियम क्रियाशील दिखाई देता है। यदि इस संसार में बलवान ही को जीत प्राप्त होती है तो वह बल का संचय क्यों न करे ? क्या हुआ यदि उसके शारीरिक बल को उसकी कटु परिस्थितियों ने शैशव ही में पंगु बना दिया है, क्या हुआ यदि उसे धन का बल भी प्राप्त नहीं है, उसे बुद्धि का बल तो प्राप्त हो सकता है।"[23]

अतः आज मनुष्य को विशेष महत्त्व मिला है। प्राचीनकाल में मनुष्य को

---

22. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ० 258

23. वही, गिरती दीवारें, पृ० 149

इतनी महत्त्वपूर्ण चीज नहीं माना जाता था, उसकी प्रगति तथा उसके विकास के बारे में कोई ध्यान नहीं था लेकिन आए इस एकाएक बदलाव ने सब कुछ बदल दिया है। न ऊँच–नीच है, न जाति–पाँति वरन् सभी मानव समान हैं तथा मानव ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट कृति है।

2. प्रेम-प्रतिष्ठा

'प्रेम' सृष्टि का मूल तत्त्व है। एक प्रकार से सृष्टि का उद्भव और विकास प्रेम से ही हुआ है। प्रेम जीवनी–शक्ति का स्रोत है। वह सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की भीतरी चेतना का व्यंजक है। वही आध्यात्मिकता और लौकिकता के बीच स्थाई सूत्र है। वही जीव और जगत् के सम्बन्धों का नियामक है। संसृति विकास में प्रेम ही सामाजिकता, सभ्यता और संस्कृति की दिशा निर्धारक रहा है। वही सभी मानवीय और आध्यात्मिक मूल्यों का अथ और इति है। मानवीय गौरव और मानवता का निर्धारक भी वही है। जीवन के बाहर–भीतर वही व्याप्त रहता है।

मानव ने प्राणी के रूप में जब इस जगत् में आँखें उन्मीलित कीं तो प्रकृति ने उसे आकर्षित, चकित और पोषित किया। प्रकृति में ही उसने अपने हृदय–राग के तादात्म्य द्वारा अलौकिक सत्ता का आभास पाया। उसने अपने भीतर प्रेम के रूप में एक अजय शक्ति का अनुभव किया। अपनी भीतरी विशालता का एहसास उसमें जगा। बाहरी दृश्य जगत् के विभिन्न पदार्थों एवं उपादानों में उसे अपने भीतरी प्रेम का मूर्त रूप दृष्टिगोचर हुआ। आध्यात्मिक प्रेम अहसास द्वारा उसने प्राणिमात्र में ईश्वरीय सत्ता को अनुभव किया। धीरे–धीरे उसमें सामाजिकता ने जन्म लिया। इसी सामाजिकता में प्रकृति के मानवीय रूप नारी की ओर आकृष्ट हुआ। इसके साथ ही इसका स्वरूप भी बढ़ता चला गया।

'प्रेम' का स्वरूप विस्तृत है, इसलिए इसे पूर्ण रूप से परिभाषित करना कठिन है। 'प्रेम' अहसास की वस्तु अधिक है और व्याख्या की कम। इसे समझाना जितना आसान है, समझना उतना ही जटिल। प्रेम उस फूल की तरह है, जिसकी

खुशबू को सूंघा तो जा सकता है, छूआ नहीं जा सकता। लेकिन कहना न होगा कि यह अस्पृश्यमान तत्त्व मानव जीवन के इतिवृत्त को प्रभावित करता रहा है। यह जीवन का पर्याय चाहे न हो, लेकिन यह जीवन के संवेगों को प्रभावित करता है। एवरी मैन्स एनसाइक्लोपीडिया के अनुसार– " 'प्रेम' शब्द सामान्यतः उस सुकुमार भावना का बोध कराता है, जिससे प्रेरित होकर मनुष्य की मनोवृत्ति व्यक्ति विशेष पर केन्द्रित हो जाती है। इस भावना की अभिव्यक्ति प्रेम–पात्र के प्रतिहितैषिता, सान्निध्य की इच्छा, उसकी उपस्थिति में प्रसन्नता एवं बिछुड़ने में दुःख द्वारा होती है।"[24]

डॉ॰ राधाकृष्णन के अनुसार– "जब काम की स्वाभाविक मूल प्रवृत्ति मस्तिष्क और हृदय द्वारा, बुद्धि और कल्पना द्वारा नियन्त्रित रहती है, तब प्रेम होता है। प्रेम न तो रहस्यपूर्ण उपासना है और न पशु तुल्य उपभोग, यह उच्चतम भावों की प्रेरणा के अधीन एक मानव प्राणी का दूसरे मानव प्राणी के प्रति आकर्षण है।"[25] प्रेम के कई रूप हैं, लेकिन नर–नारी या प्रेमी–प्रेमिका का रूप ही विवेचन का लक्ष्य है।

विवाह से पूर्व का प्रेम पूर्वानुराग कहलाता है, जो कि प्रत्यक्ष दर्शन, चित्र दर्शन, गुण दर्शन तथा स्वप्न दर्शन करने से होता है। यहाँ प्रेम के पात्र प्रेमी–प्रेमिका कहलाते हैं। उपन्यासकार अश्क ने अपने उपन्यासों में प्रेम का चित्रण खुलकर किया है। उनके इस प्रेम में सभी प्रकार की सामाजिक मर्यादाओं को हीन माना गया है। उपन्यास 'एक रात का नरक' में पहाड़ियों के प्रेम का चित्रण करते हुए अश्क जी कहते हैं– "पहाड़ी युवती जिसे चाहे प्रेम करती है, जिससे दिल मिल जाता है, उसके साथ भाग जाती है। यह बात कुँआरी लड़कियों के सम्बन्ध में ही नहीं कही जा सकती, वरन् विवाहित स्त्रियाँ भी पतिव्रत धर्म पर आरूढ़ न रहकर अपनी इच्छा के अनुसार प्रेम करती हैं।"[26]

---

24. एवरीमैन्स एन्साइक्लोपीडिया, वाल्यूम-3, पाँचवाँ संस्करण, पृ॰ 70
25. डॉ॰ राधाकृष्णन्, धर्म और समाज, पृ॰ 171
26. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', एक रात का नरक, पृ॰ 7

उपन्यास का नायक चेतन शिमला की एक लड़की से प्रेम करता है, उसका नाम मूर्तू है। जब मूर्तू के आकर्षण जाल में वह उलझ जाता है तो उसे हर समय उसकी याद बनी रहती है। नायक चेतन अपने साथी गोविन्द से बता रहा है– "उस रात मुझे नींद नहीं आयी। सारी रात उसकी हिरनी सी आँखें, उसकी सुन्दर सलोनी सूरत, उसका गुबला–गुबला पर सुडौल शरीर, उसका पहाड़–सा वक्ष, उसकी मस्तानी चाल, उसकी मीठी–मीठी बातें, उसका सादगी से पूछना . . . उसकी हर अदा मेरी आँखों में नाचती रही, उसकी हर बात मेरे कानों में गूँजती रही।"[27] इसी प्रकार उपन्यास 'बड़ी–बड़ी आँखें' में संगीत वाणी से प्यार करता है, लेकिन इजहार नहीं कर पाता है तथा उसके प्यार को स्वीकार भी नहीं कर पाता है– "शायद मेरे हृदय का पात्र बहुत छोटा था, प्रेम के अमृत को अपने में सँजो पाने की सामर्थ्य उसमे न थी और अपनी अपात्रता से मैंने उसे छलका दिया . . . इस सबके बाद मैं वाणी से कैसे आँखें मिला पाऊँगा।"[28]

'प्रेम' में प्रेमी जब दूर होता है या कोई दूसरा उससे शादी कर लेता है या फिर प्रेम में असफलता हाथ लगती है तो प्रेमी हृदय छटपटा उठता है, वह यह सब सहन नहीं कर पाता। उपन्यास 'एक रात का नरक' में चेतन मूर्तू से प्यार करता है परन्तु जब दरोगा उसकी प्रेयसी को छीनने का प्रयास करता है तो वह आग बबूला हो जाता है– "उसने वासनाभरी भूखी निगाह मूर्तू पर डाली। वह खड़ी–खड़ी थर–थर काँप रही थी। क्रोध के मारे मेरी बाहें फड़कने लगीं। मैंने एक हाथ से मूर्तू को छुड़ाया और दूसरे से जोर का थप्पड़ दे मारा।"[29] उपन्यास 'गिरती दीवारें' में चेतन से जब नीला बिछड़ रही थी तो वह उसे पाने के लिए छटपटा रहा था– "अब,

---

27. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', एक रात का नरक, पृ० 108

28. वही, बड़ी-बड़ी आँखें, पृ० 127

29. वही, एक रात का नरक, पृ० 117

जब नीला सदा के लिए उससे बिछुड़ रही थी, चेतन को महसूस होता था कि वह उसे कितना चाहता है। बाह्य संयम, समाज के प्रतिबन्धों और नैतिकता के आवरण के नीचे दबा हुआ, उसका हृदय घायल पक्षी की तरह छटपटा रहा था। वह गर्व जो, वह नीला के प्रेम को दबाकर, ठुकराकर, सारी बात उसके पिता को बताकर अनुभव कर रहा था, उसे कोरी प्रवंचना दिखाई देने लगा। अपना वही कृत्य, जिस पर अपनी पत्नी के प्रति वफादारी के विचार से उसे गर्व था, उसे घोर अपराध दिखाई देने लगा।"[30]

उपन्यासकार ने पारम्परिक प्रेम की लीक से हटकर रोमानी प्रेम का वर्णन किया है। इनके सभी पात्र प्रेमी हैं और प्रेम करना उनकी स्वाभाविकता है लेकिन यहाँ बँधी–बँधाई परिपाटी को वे स्वीकार नहीं करते, सामाजिक बन्धनों से वे नहीं घबराते हैं बल्कि स्वच्छन्द रूप से प्रेम का निर्वाह करते हैं। उपन्यास 'गिरती दीवारें' का नायक चेतन कुन्ती, चम्पादेवी तथा नीला से क्रमशः प्रेम करता रहा है। यह जानते हुए भी कि उनकी शादी हो चुकी है। वह शादी को बन्धन नहीं मानता है और न ही केवल कुन्ती, चम्पादेवी तथा नीला या फिर अपनी पत्नी का होकर रहना चाहता है। उसके अन्तर्मन में दबी कुण्ठा जहाँ कहीं आधार पाती है, वहीं पर फैल जाती है।

उपन्यास 'सितारों का खेल' में लता जगत् से प्रेम करती है, परन्तु जगत वासना की भूख मिटाने का मात्र उसे साधन मानता है। वह उससे शादी नहीं करता तो दूसरी तरफ लता के पिता ने लता की शादी बंसीलाल से कर दी। लेकिन वह इससे सन्तुष्ट नहीं है। डॉक्टर साहब जिसे राजरानी चाहती है, वह लता से प्रेम करने लगता है। डॉक्टर साहब को दिन–रात लता की ही याद आती रहती है। वह हर किसी सूरत में लता को पाना चाहता है– "और डॉक्टर साहब – वे अपने दिल की इसी धड़कन के सम्बन्ध में सोचते थे। लेकिन लता की भाँति वे रुक नहीं जाना

---

30. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ० 198

चाहते थे। वे तो बह जाना चाहते थे, प्रेम के अथाह सागर में डूब जाना चाहते थे, तह तक पहुँच जाना चाहते थे; पर वे जानते थे कि लता रुक गई है। वे तो आज उससे प्रतिज्ञा ले लेना चाहते थे। वापस–वापस वे लता को न जाने देंगे– न जाने देंगे – जब तक उनकी तपस्या का वरदान उन्हें नहीं मिल जाता।"[31]

आधुनिकता बोध के कारण प्रेम के स्वरूप में भी बदलाव आया है। प्राचीन एवं मध्यकालीन युग में जब किसी का किसी से प्रेम हो जाता था तो वह उसे पाने के लिए कठिन से कठिन परीक्षा देने को भी तत्पर रहता था, इसी प्रेम के कारण युद्ध तक हो जाते थे, नारी आजीवन कुँवारी बनी रहती थी, लेकिन किसी अन्य पुरुष की तरफ नहीं देखती थी, परन्तु आज प्रेम की स्थितियाँ बदल गई हैं। आज वह अपने प्रेम को पाने का मात्र ढोंग या दिखावा करता है, सही मायने में उसे पाना नहीं चाहता है। "उपन्यास 'गर्म राख' में जगमोहन सत्या से जो प्रेम करता है, वह सात्त्विक नहीं है, बल्कि उसमें वासना छिपी है। इसी सन्दर्भ में वसन्त ने कहा है– "प्रेम अब उतना सरल नहीं रह गया है। पहले किसी को प्रेम होता था तो जान की बाजी लगाकर वह प्रेयसी को जीत लाने चल पड़ता था। आज तो प्रेमी के लिए अपने प्यार को व्यक्त तक कर पाना मुश्किल है। भौतिक चिन्ताओं से मुक्त, वह स्वच्छन्द प्रेम अब कहाँ है ?"[32] चातक जी प्रेम के मार्ग की सभी बाधाओं को उखाड़ फेंकने को कहते हैं–

"प्रेम तुम्हारे घर आया है, तोड़ो सब जग की सीमाएँ;
आओ नग्न प्रकृति से नाचें, छोड़ जगत की मर्यादाएँ,
जग ने तुमको दूर किया, मैं
पास बुलाने को आया हूँ।

---

31. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', सितारों का खेल, पृ० 173

32. वही, गर्म राख, पृ० 192

पीकर तुमको चिर–दिन की मैं

प्यास बुझाने को आया हूँ।"[33]

अन्ततः हम कह सकते हैं कि अश्क ने अपने पात्रों एवं उपन्यासों के माध्यम से ऐसे प्रेम को वाणी दी है जो आधुनिक बोध सम्पन्न है जिसमें प्रेमी–प्रेमिका के सन्दर्भों को रोमानी पद्धति से उठाया है। इनका प्रेम सामाजिक बन्धनों को नहीं मानता है बल्कि उन्हें तोड़कर छिन्न–भिन्न करने को आतुर है। परन्तु साथ ही एकनिष्ठता का अभाव भी दिखाई देता है। अतः वह घुट–घुट कर ही प्रेम करता है। उपन्यास 'गिरती दीवारें' के नायक चेतन की स्थिति भी इसी प्रकार से है– "वह नीला को चाहता है; इस डेढ़ वर्ष के वैवाहिक जीवन के बावजूद चाहता है। उसकी उदास मुस्कान, उसकी उन्मन दृष्टि, उसके पीले मुख, उसके शरीर के एक–एक अंग को उसी शिद्दत से चाहता है, जिस शिद्दत से उसे उसदिन चाहा था जब वह अपनी भावी पत्नी को देखने बस्ती गजां आया था और उसने नीला की चंचल मूर्ति देखी थी। उसकी चाहत और उसकी शिद्दत में जरा भी तो कमी नहीं आई थी। बुद्धि, धर्म, नैतिकता, समाज, विवाह – ये सब दीवारें, जो यथार्थ में उसकी चाहना को घेरे थीं, कल्पना में घिर गई थी और उसके प्रेम की लौ, जिसे फानूस की बिल्लौरी दीवार ने धुंधला कर रखा था, उसके टूट जाने पर स्पष्ट ही चमक उठी थी।"[34]

3. कर्मनिष्ठता

व्याकरण शास्त्र में कर्मकारक को कर्म कहा जाता है, जिसे कर्त्ता अपनी क्रिया के द्वारा प्राप्त करना चाहता है। साधारणतः 'कर्म' शब्द का अर्थ 'क्रिया' समझा जाता है। खाना, पीना, सोना, चलना आदि विभिन्न क्रियाएँ कर्म की द्योतक हैं। विभिन्न व्यवसायों आदि के अर्थ में भी 'कर्म' शब्द का प्रयोग होता है।

---

33. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ० 318

34. वही, गिरती दीवारें, पृ० 205

प्रत्येक प्राणी का वर्तमान में अपना निजी व्यक्तित्व होता है, जो कि दूसरे से भिन्न होता है। यह विभिन्नता पूर्व संचित कर्मों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है, विभिन्नता का यह सिद्धान्त ही कर्म सिद्धान्त कहलाता है। कर्म वह सूक्ष्म सूत्र है, जिसे प्रत्येक जीवित प्राणी अपनी व्यक्तिगत प्रेरक शक्तियों के कारण आकर्षित करता है और न केवल आकर्षित करता है, अपितु अपने में नीर क्षीर के समान एकीभूत भी कर लेता है। जीव के साथ एकीभूत हो जाने पर ये कर्म जीव की व्यक्तिगत विशेषताओं में परिवर्तन कर देते हैं। इस प्रकार से यह एक संचित शक्तियों का कोष बन जाता है। यह कोश घड़ी में दी हुई चाबी की तरह होता है, जो प्रतिक्षण स्वयं व्यय होता रहता है। यह उपर्युक्त विचारधारा प्राचीनकाल से चली आ रही है परन्तु आधुनिक काल में कर्म का सम्बन्ध निरन्तर मेहनत, लगन, ईमानदारी से अपने कार्य करने से है। आधुनिक बोध प्राचीन मान्यताओं को खण्डित करते हुए पूर्व जन्म या पूर्व कर्म को नहीं मानता अपितु वह तो निरन्तर जीवन में संघर्षशील रहने वाले व्यक्ति की तरफ इंगित करता है तथा अपने कार्यों के प्रति एकनिष्ठता ही कर्मनिष्ठता है।

उपन्यासकार अश्क ने अपने उपन्यासों के माध्यम से इस तथ्य को वाणी दी है कि व्यक्ति कर्मनिष्ठ रहते हैं, वे एक दिन अपने लक्ष्य को अवश्य प्राप्त कर लेते हैं, इसके विपरीत कर्म न करने वाले व्यक्ति अपने लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर पाते हैं। कर्म करने वाले व्यक्ति के सामने पलभर के लिए मुसीबतें भले ही आ जाएं, परन्तु वे स्थायी नहीं होती है। उपन्यास 'गिरती दीवारें' में कविराज चेतन को कर्म करने की सलाह दे रहे हैं ताकि वे अपने उद्देश्य को पूरा कर सके। "अध्यवसाय, निष्ठा और संलग्नशीलता के अतिरिक्त इस बात की भी आवश्यकता है कि हम अपने हाथ के काम को धैर्य के साथ करें। उसी में रस पाएं। काम को काम की प्रसन्नता के लिए करें। जब हम अपने हाथ के काम को समाप्त कर लें तो हमारा मन खिन्न न हो, बल्कि प्रसन्न हो। यह गुण उन्हीं लोगों में होता है, जिन्होंने सफलता की प्राप्ति को

अपना ध्येय बनाया है।"[35]

कई बार मनुष्य जिस कार्य को इच्छा और आकांक्षा से करता है, लेकिन उसे वैसा फल नहीं मिलता है और उनका मन व्यथित रहने लगता है, परन्तु ये सब वही व्यक्ति करता है जिसका मन कमजोर होता है। इसलिए व्यक्ति को हार–जीत, सफलत–असफलता की चिन्ता किए बिना ही कर्म करते रहना चाहिए। एक न एक दिन वह अपनी मंजिल अवश्य प्राप्त कर लेता है। उपन्यास 'गर्म राख' में पण्डित दाता राम शास्त्री कर्मरत व्यक्तित्व के स्वामी हैं– "गवर्नमेंट हाई स्कूल लुधियाना के अवकाश प्राप्त अध्यापक पण्डित दाताराम शास्त्री उन बुजुर्गों में से थे, जो 'कर्मठ' कहलाते थे। कुछ लोग ऐसे महात्माओं को कंजूस, मक्खीचूस आदि नामों से पुकारते हैं। ये सब साधारण जन निश्चय ही ईर्ष्यावश ऐसा करते हैं। . . . उन्होंने कामनारहित होकर, फलाफल की इच्छा से मुक्त रहकर कर्मरत रहना सीखा था। इसलिए यदि पद और धन के साथ–साथ उन्हें सन्तति भी पर्याप्त संख्या में मिली तो उसे भी उन्हें निरपेक्ष भाव से स्वीकार किया। . . .एक बार अपने काम में असफल होने पर वे फिर उसी निष्ठा व तत्परता से उसमें रत हो जाते थे – उस चींटी की तरह जो अपने से कहीं बड़ी मरी मक्खी को दीवार के ऊपर चढ़ा ले जाना चाहती थी। बार–बार असफल होती पर अपना श्रम न छोड़ती।"[36]

आधुनिक मनुष्य चिन्तनशील है। वह अपने प्रत्येक कर्म की अच्छाई बुराई से अवगत है। जब वह अच्छा कार्य नहीं करता है तो समाज उसे बुरी नजरों से देखता है। उपन्यास 'एक नरक की रात' में चेतन ने जब अपने घर के कार्य करने शुरु किए तो उसको सम्मान मिलना शुरु हो गया था। "हमारी थोड़ी सी भूमि थी, उसको जोतना–बोना मैंने शीघ्र ही सीख लिया। लाहौर में मैं हेय समझा जाता था, यहाँ मैं

---

35. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ० 146

36. वही, गर्म राख, पृ० 102-103

मरु का एरण्ड था। जिधर से गुजरता था, सबकी नजरें मुझ पर उठ जाती थी। सब मुझे श्रद्धा की दृष्टि से देखते। सब मुझे अपने से बड़ा समझते।"[37]

प्राचीनकाल से यह धारणा चली आ रही है कि मनुष्य को कर्मों का फल मृत्यु के बाद प्राप्त होता है, परन्तु ऐसा नहीं है। मनुष्य इस संसार लोक में रहकर जो कार्य करता है, उनका लाभ एवं हानि भी यहीं प्राप्त करता है। मनुष्य को पूर्व जन्मों का चक्कर छोड़ देना चाहिए तभी समाज एवं मानव की उन्नति होगी तथा तभी धरा का विकास होगा। उपन्यास 'शहर में घूमता आईना' में चेतन पूर्वजन्म के कर्मों में विश्वास नहीं करता है। वह कहता है– "न्याय–अन्याय, सुख–दुःख, पुण्य–पाप, भले–बुरे की तुलना इन्सान ही करता है और मैं समझता हूँ इन्सान को पिछले या अगले जन्म की चिन्ता छोड़, इसी जन्म को बेहतर, सुखद, न्यायपूर्ण, शान्त बनाने वाले नये धर्म को विकसित करना चाहिए और ऐसा वह अपने दिमाग की मदद से ही कर सकता है, पिछली अनुभूतियों से शिक्षा पाकर कर सकता है, अपने इर्द–गिर्द के जीवन को देख कर, कर सकता है; समाधिस्थ हो, इस जग माया को समझ कर कभी नहीं कर सकता।"[38]

उपन्यासकार ने गरीबी, अशिक्षा और भुखमरी का कारण पूर्वजन्म की कर्मभावना को माना है। वे ही लोग दोषी हैं जो खाली हाथ ईश्वर भरोसे बैठे रहते हैं। इसके विपरीत काम करने वाला व्यक्ति कभी भूखा नहीं मर सकता है। चेतन साधु को समझाते हुए कहता है– "जो इस जीवन को सपना और माया तथा मिथ्या समझकर भगवान के भरोसे छोड़ रहे हैं, उसी का यह परिणाम है कि हम सदियों से गुलाम रहे, हमारे यहाँ अकाल मृत्यु संसार के सब देशों से ज्यादा है– अशिक्षा, गरीबी, भुखमरी का दौर दौरा है और लोग परमार्थ की चिन्ता में लीन हैं।"[39]

---

37. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', एक रात का नरक, पृ० 105
38. वही, शहर में घूमता आईना, पृ० 288
39. वही, पृ० 290

मनुष्य लगन एवं निष्ठा से अपने कर्म करे तो वह अपनी स्थिति में बदलाव ही नहीं ला सकता है, अपितु महान परिवर्तन कर सकता है। जीवन में वही व्यक्ति बुलन्दियों को छूते हैं जिनमें हिम्मत, साहस एवं कुछ करने की इच्छा है। उपन्यास 'सितारों के खेल' में बंसीलाल गरीब विद्यार्थी है। उसके पास न रहने को मकान, और न खाने को अन्न तथा करने को काम है। लेकिन उसके पास हिम्मत है और सत्कर्म करने का साहस। वह कहता है – "वह सोने के महल खड़े कर सकता है, वह बी॰ ए॰ में सर्वप्रथम आ सकता है, आई॰ सी॰ एस॰ की प्रतियोगिता में बैठ सकता है, जिला जज हो सकता है, माल अफसर हो सकता है, डिप्टी कमिश्नर हो सकता है। उसके लिए कुछ असम्भव नहीं।"[40]

अन्ततः हम कह सकते हैं कि उपन्यासकार प्राचीन विचारधारा से ग्रस्त न होकर आधुनिक बोध सम्पन्न है। वह प्राचीनता एवं पूर्वजन्म जैसी रूढ़ मान्यताओं को स्वीकार नहीं करता है, अपितु वह कर्म में विश्वास करता है। उनका विश्वास है कि पूर्वजन्म जैसी विचारधारा के कारण ही भारत की यह बुरी दशा हुई है। इस धारणा से ऊपर उठकर मनुष्य अपनी तथा समाज की उन्नति कर सकता है और जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए बुलन्दियों को छू सकता है।

4. दया के रूप

विपत्ति या संकटकाल में प्राणियों की रक्षा करना ही दया है। यह संसार परिवर्तनशील है। इसके ढाँचे में सदैव परिवर्तन होते रहते हैं। इनमें प्रत्येक मानव सुख–दुःख, राग–द्वेष, भय, अभिमान, प्रमाद, उन्माद, शोक, मोह, लोभ, मात्सर्य, ईर्ष्या, अपमान, क्षुधा, तृष्णा आदि को सहन करने से दुखी है। वह अपने संघर्ष से अपना दुःख दूर करने की कोशिश करता है, परन्तु जब वह अपने दुख को पूर्णतया दूर नहीं कर पाता तो भगवान की शरण ग्रहण करता है। अतः भगवान की कृपा ही

---

40. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', सितारों के खेल, पृ॰ 29

उसके कष्टों को दूर करती है। आज आधुनिक युग में दया तत्त्व तो विद्यमान है, परन्तु उसका स्वरूप बदल गया है। आज भगवान की दया के साथ–साथ मानव की दया का महत्त्व बनता जा रहा है। अर्थात् मनुष्य को दुखी देखकर, उसके कष्टों एवं दुखों में सहयोग देना ही दया है। उपन्यास 'नन्हीं सी लौ' में उपन्यासकार ने दया के तत्त्व को वाणी दी है। चेतन की माँ रामरक्खी अपनी सहेली की तारीफ कर रही है। जब उसकी विधवा बहन का देहान्त हो गया तो उसके बच्चों पर दया करके ही उसकी सहेली ने अपने पास रखा था। "चेतन की माँ अपनी सहेली की तारीफ कर रही थी, जिसने अपनी विधवा बहन के मरने पर उनके अनाथ लड़के–लड़की को अपने यहाँ आश्रय दिया और पढ़ाया–लिखाया।"[41]

उपन्यास 'बड़ी–बड़ी आँखों' में भी दया के तत्त्व को वाणी दी है। सामान्यतः दया अमीर लोग गरीबों पर करते या कष्ट में पड़े हुए व्यक्ति पर वे लोग करते हैं जो कष्ट मुक्त हैं। नबी गरीब परिवार से सम्बन्ध रखता है। वह पढ़ना चाहता है परन्तु घर की हालत खस्ता होने के कारण एवं उसके पिता का देहान्त होने के कारण वह पढ़ नहीं पाता। संगीत जी नबी के माँ के वाक्यों को सुनकर पिंघल गया और उसकी मदद करने की कोशिश की। संगीत नबी की माँ को कहता है– "माई तुम फिक्र मत करो, इसकी नौकरी का भी प्रबन्ध हो जाएगा और पढ़ाई का भी। कल इसे भेज देना।"[42] इस प्रकार वह सचमुच में नबी पर दया करता है, जिसके लिए वह देवा तथा देवनगर तक को छोड़ने की बात भी कह देता है। इतना ही नहीं जब नबी चोरी करता है तो वह उसे नौकरी से नहीं निकालता अपितु अडिग भाव से कहता है– "नबी मेरा रिश्तेदार नहीं, लेकिन मैं उसे वचन दे चुका हूँ कि मैं उसे नहीं निकालूँगा। उसकी बुढ़िया माँ है। नबी जो कमाता है, उसी से उनका गुजारा चलता है। उसे

---

41. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', नन्हीं सी लौ, पृ० 49

42. वही, बड़ी-बड़ी आँखें, पृ० 75

निकाल दूंगा तो दोनों भूखे मर जाएंगे।"[43]

समाज वेश्याओं को बुरी दृष्टि से देखता है, लेकिन समाज की विडम्बना यह है कि जिन स्त्रियों को वेश्या का दर्जा मिला हुआ है, उसे यह नाम और काम भी समाज ने ही दिया है। सभ्य समाज के कहलाने वाले तथाकथित व्यक्ति ही उन्हें ऐसा करने को मजबूर करते और वे बेचारी वेश्याएँ समाज में सम्मान की जिन्दगी भी नहीं जी पाती हैं। उपन्यासकार ने एक नई दृष्टि प्रदान की है कि इनको समाज उपेक्षा की दृष्टि से न देखे और न ही इनका शोषण करे। उपन्यास 'गिरती दीवारें' में चेतन जब शिमला गया हुआ था, वहाँ पर वेश्याओं के बारे में हो रही टिप्पणियों को देखकर क्षुब्ध था। "उन वेश्याओं के प्रति एक विचित्र प्रकार की सहानुभूति से उसका मन प्लावित हो उठा। साल भर के थके, टूटे, शिथिल अंग लेकर, अपने शरीर को बेचकर, उन्हें हिंसक पशुओं की दया पर छोड़ने के बाद, ये बेचारी क्लान्ति की मारी कुछ आराम करने जा रही है और यह भूखा व्यक्ति . . . पाजी . . .।"[44]

दयालु व्यक्ति का हृदय बड़ा ही करुण होता है। वह संसार के किसी भी व्यक्ति के दु:ख को देखकर दुखी हो जाता है या फिर कोई किसी का शोषण कर रहा हो या जहाँ पर ऊँच–नीच का भेद हो। शिमला में स्टेशन पर काम करने वाले कुलियों की दशा बड़ी दयनीय है। वे पूरा दिन मेहनत–मजदूरी करते हैं लेकिन फिरभी ठीक प्रकार के अन्न और वस्त्र का अभाव रहता है। उपन्यास 'गिरती दीवारें' में चेतन का मन उस समय दुखी हो गया, जब उसने तांगे में पशु के स्थान पर मनुष्य को जुते हुए देखा। "कुलियों के शरीर पर मैले–कुचैले चीथड़े लिपटे हुए थे जो मैल और पसीने से कपड़े की बजाय कीचड़ ही के बने दिखाई देते। इतना इतना भारी बोझ उठा रखा था उन्होंने कि चेतन आश्चर्यचकित सा उन्हें देख रहा था। देर तक

---

43. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ० 150

44. वही, पृ० 135

उसकी निगाहें अपने साथ—साथ जाने वाले कुली पर लगी रहीं। उसके पाँव में धूल से भरे भारी चप्पल थे, टांगे घुटनों तक मैल में सनी हुई थीं, बाहों पर मछलियाँ उभर आई थीं। पीठ पर सात ट्रंक एक साथ उठाए लठिया के सहारे वह चला जा रहा था। तभी एक रिक्शा छनछनाता हुआ उसके पास से गुजर गया। चार वर्दीपोश कुली उसे भगाए लिए जा रहे थे और एक मोटा, गंजा अंग्रेज मजे से बैठा समाचार—पत्र पढ़ रहा था। घोड़ों और बैलों के स्थान पर पुरुषों को जुते चेतन ने पहली बार देखा।"[46]

अतः हम कह सकते हैं कि दया का मूल्य हमारी प्राचीन संस्कृति की धरोहर है। इन्हीं मूल्यों के सहारे ही तो भारतीय संस्कृति विश्व में अलग पहचान बनाए हुए हैं। लेकिन आज आधुनिक बोध के कारण इन मूल्यों पर प्रभाव जरूर पड़ा है, किन्तु वे खत्म नहीं हो गए हैं। आज भी कोई करुण हृदय व्यक्ति किसी मनुष्य को संकट और मुसीबतों में घिरा देखता है तो उसके मन में दया का भाव स्वतः मुखरित हो उठता है। उपन्यासकार अश्क ने भी अपने उपन्यासों के माध्यम से दया तत्त्व को महत्त्व प्रदान किया है तथा लोगों का आह्वान किया है कि जीवन को सुखी, खुशहाल बनाने के लिए मनुष्य को अपने हृदय में दया का भाव बनाए रखना चाहिए, तभी मनुष्य और समाज की उन्नति हो सकेगी।

5. स्वच्छन्दता

मनुष्य सदैव स्वच्छन्द जीवन जीने की लालसा करता है। वह जहाँ कहीं बन्धन, रुकावटें, मुसीबतें अनुभव करता है, वहीं पर वह या तो रास्ता बदल लेता है या कुण्ठाग्रस्त होकर रुक जाता है। अनादिकाल से जब से मनुष्य का सम्बन्ध समाज से स्थापित हुआ है, तभी से मनुष्य को समाज और उसके नियमों को मानना पड़ा हैं इस बन्धन के पीछे समाज का तर्क है कि इन नियमों एवं कानून में चलकर ही मनुष्य का जीवन परिष्कृत होता है, तथा वह समाज की ऊँचाइयों को छूता है परन्तु

---

45. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ० 137

आधुनिक युग में मानव प्रकृति उसे स्वच्छन्द जीवन जीने की ओर प्रेरित कर रही है। वह इन सामाजिक बन्धनों को अपने विकास में बाधा महसूस कर रहा है। इसीलिए आधुनिक मानव के जीवन में स्वच्छन्दता का भाव दिखाई देने लगा है। उपन्यासकार अश्क ने स्वच्छन्दता और बन्धन दोनों ही तत्त्वों का बारीकी से विश्लेषण किया है और उसे उपन्यास के माध्यम से प्रस्तुत किया है। उपन्यास 'सितारों के खेल' में लता का पिता जीवन में बन्धन को स्वीकार करता है। उनका विश्वास है कि जब तक मनुष्य बन्धन में नहीं रहता, तब तक वह जिम्मेदार नहीं कहा जा सकता है। वे अपने मत को स्पष्ट करते हुए कहते हैं– "मनुष्य की शक्तियों को बिखर जाने से, बँट जाने से बचाने के लिए इसकी जरूरत है। उत्तरदायित्व और उसकी अनुभूति ही मनुष्य को मनुष्य बनाती है और वह शादी के बाद स्त्री–पुरुष उत्तरदायित्व का पहला पाठ पढ़ते हैं। अविवाहित पुरुष की दशा गाड़ी में खुले हुए बैल की सी है। वह औरों की खेतियों में मुँह मारेगा, पकड़ा जाएगा, पीटा जाएगा। जो लोग स्वतन्त्र, सब प्रकारके बन्धनों से मुक्त होकर जीवन बिताने के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं, उनसे गैर जिम्मेदार मैं किसी को नहीं समझता। वे उत्तरदायित्व से डरते हैं। . . . वे अनुभवी समझते हुए भी काफी अनुभवहीन होते हैं।"[46]

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसलिए वह इस समाज नामक संस्था के प्रति वफादारी करता है, अपना उत्तरदायित्व निभाता है, उसके नियमों और कानूनों को मानने के लिए प्रतिबद्ध है। यदि वह ऐसा नहीं करता है, उसके नियम एवं कानून नहीं मानता है तो समाज उसके प्रति कठोर दण्ड का निर्धारण करता है। कभी–कभी तो वह उसे समाज से बहिष्कृत भी कर देता है, ऐसा उसके कर्म के अनुसार ही निर्धारण किया जाता है। इसलिए मनुष्य के सामने समाज एक ऐसा बन्धन है, जिसे मानना मनुष्य की मजबूरी है। समाज की नजर में शादी के बन्धन में बन्धने से पूर्व

---

46. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', सितारों का खेल, पृ० 41

विवाह के बाद के कार्य करना अपराध है। उपन्यास 'गर्म राख' में जगमोहन सत्या से विवाह पूर्व ही नैकट्य चाहता है तथा वे सभी सम्बन्ध बनाने के लिए आतुर है जो शादी के बाद में ही होने चाहिएं। "जिसमें किसी युवती का ऐसा निकट सम्पर्क मिले, शायद उनके लिए जीवन यौवन की चरम परिणति थी। पर जगमोहन को यह सब ठीक न लग रहा था। समाज क्योंकि विवाह से पहले ऐसे सम्बन्ध को पाप मानता है, इसलिए जगमोहन भी गुनाह के एहसास से दबा जा रहा हो, शायद ऐसी बात न थी। वह गुनाह दोनों गुनाहगारों के परस्पर विवाह–सूत्र में बन्धने पर समाज की दृष्टि में गुनाह नहीं रहता, जगमोहन यह बात जानता था और समाज का यह 'लाइसेंस' उसे खासा हास्यास्पद लगता था।"[47]

समाज ने 'व्यक्ति' का विभिन्न स्तरों पर निरीक्षण किया और पाया कि वह एकान्त में पशु से भी बदतर स्थिति में पहुँच सकता है। वह हवस का पुजारी है। अपनी इस आग को शान्त करने के लिए वह बड़े से बड़ा कुकृत्य करने को तत्पर है। इसलिए उसके लिए कठोर नियमों में बन्धकर रहना होगा और युवा भाई–बहन के इकट्ठे रहने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। उपन्यास 'गर्म राख' में जगमोहन समाज को मानते हुए सत्या से दूर रहने को कहता है– "हम जिस समाज में रहते हैं, उसके नियमों का तो हमें पालन करना ही होगा। मैंने तो इसीलिए संस्कृति–समाज से त्याग–पत्र दे दिया था। लेकिन फिर यह सब हो गया। मेरी गलती हो तो भी आपको रोकना चाहिए। हमारे बुजुर्ग तो एकान्त में युवा भाई–बहन के रहने का भी निषेध करते हैं। मुझे स्वयं अफसोस है। आप यहाँ न आया कीजिए।"[48]

उपन्यास 'गिरती दीवारें' में चेतन विधवा कुन्ती से प्यार करता है और रिश्ते में वह उसका भाई है। उसकी विडम्बना यह है कि सामाजिक बन्धनों में बंधा

---

47. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ० 294

48. वही, पृ० 297-298

हुआ है। वह उसके प्यार को देखकर समाज के नियमों को कुन्ती के प्रति नाइंसाफी समझता है लेकिन फिर भी अन्ततः वह बन्धनों को स्वीकार करता है तथा समाज तथा उसके नियमों पर व्यंग्य करता है– "पति की छत्रछाया में रहने वाली स्त्री हँस बोल सकती है, चाहे तो प्रेम कर सकती है और यदि चाहे तो सन्तान पेदा कर सकती है। समाज उसे कुछ न कहेगा, लेकिन विधवा ! . . . और उसने सोचा कहीं वह स्वतन्त्र होता ओर कहीं वह भी स्वतन्त्र होती और जैसे स्वतन्त्र देशों के पुरुष स्त्रियाँ . . . लेकिन फिर उसे ख्याल आया कि वह शादी करने आया है और उसने चाहा कि सब कुछ छोड़कर भाग जाए – कहीं ऐसी दुनिया में जहाँ कोई न हो – न इन्सान, न समाज और वह पंछी बन जाए स्वतन्त्र, स्वच्छन्द और आकाश की गहराइयों में उड़ाने भरता।"[49]

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आधुनिक युग के कलाकार हैं। उनकी दृष्टि भी आधुनिक है। उन्हें समाज का गहराई से विश्लेषण–विवेचन किया और पाया कि समाज में अनेक बुराइयाँ, अनेक विडम्बनाएँ व्याप्त हैं जो व्यक्ति के विकास में बाधा बनी खड़ी हैं। उन्होंने जनसाधारण का ध्यान उनकी तरफ आकर्षित करने की चेष्टा की है तथा साथ ही व्यक्ति की स्वच्छन्दता को भी वाणी दी है। आज आधुनिक युग में व्यक्ति स्वतन्त्र है, वह अपनी भावनाओं और इच्छाओं को स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त कर सकता है। लेकिन अश्क के चिन्तन से स्पष्ट रूप में परिलक्षित होता है कि वह स्वच्छन्दता का पक्षधर है क्योंकि उसके पात्र समाज के खोखले विधानों की उपेक्षा करते हैं, उनसे टकराते हैं, इन विधानों को तोड़ डालने की इच्छा शक्ति है परन्तु किसी भी उपन्यास में ऐसा देखने को नहीं मिला कि किसी पात्र ने समाज के नियमों का उल्लंघन किया हो। वे सभी अन्ततः उसी विधान को थक हार कर स्वीकार कर लेते हैं। उनके इस चित्रण में रोमानी पद्धति अवश्य दिखाई देती है, परन्तु भारतीय

---

49. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ० 63

सभ्यता एवं संस्कृति को वह एक दम नहीं भुल पाया है। इसीलिए उनके पात्र उनके पात्र रोमानी संस्कारों को अपनाते अवश्य हैं, परन्तु अन्ततः भारतीय संस्कृति एवं समाज के नियमों को ही स्वीकारते हैं। उपन्यास 'गिरती दीवारें' में चेतन सामाजिक नियमों को मानने और न मानने के सन्दर्भ में द्वन्द्वग्रस्त है– "इधर–उधर उगती–बढ़ती पौध को दूषित करना, पकड़े जाने पर दण्ड पाना, अपमानित होना क्या सभ्य, सुशिक्षित, सुसंस्कृत मानव के लिए उचित है ? . . . उसने कहा 'तुम जैसे डरपोक के लिए घोंसला बनाना, बच्चे पैदा करना और उनके पालने में जीवन बिता देना ही बेहतर है। आकाशगामी उकाब की तरह स्वच्छन्द विहार करना, घर बनाने का रोग न पालना और अपने शिकार को बरबस झपट लेना क्या हर एक पक्षी के वश की बात है ? संसार में कौवे और गिद्ध तो अनेक हैं, उकाब नहीं।"[50]

उपन्यास 'बान्धों न नाव इस ठाँव' में चेतन अपनी विद्यार्थिनी चन्द्रा से प्रेम करता है। वह उसे अन्तर्मन से चाहने भी लगा है परन्तु उसके मन के एक कोने में समाज और उसके नियमों का भय व्याप्त है। वह उसे पा लेना भी चाहता है परन्तु ऐसा करने मे वह सक्षम नहीं है– "और धीर–धीरे, मुँह उठाए, होंठ जरा–से खोले, वे आगे झुकते गए। उनके होंठ पास आते गए। चेतन के होंठ, उन अधखुले उत्कण्ठित होठों से बमुश्किल छुए होंगे कि सुख की एक अकथनीय अनुभूति से उसका सारा शरीर जैसे पिंगल उठा। वह बरबस उठा और लड़खड़ाता हुआ, दो ही कदमों में अपने कमरे में चला गया। अपने पीछे उसने दरवाजा बन्द कर लिया।"[51]

उपन्यास 'सितारों के खेल' में भी जगत स्वच्छन्द रहना चाहता है। वह किसी प्रकार के शादी बन्धन में नहीं बन्धना चाहता क्योंकि उसका व्यक्तित्व ही खुला रहना पसन्द करता है। उपन्यास में लता जगमोहन से प्रेम करती है, वह उससे

---

50. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ० 47

51. वही, बाँधों न नाव इस ठाँव, पृ० 403

शादी करना चाहती है, इसीलिए वह बहाने बनाता है और अन्ततः छुटकारा पा लेता है। दूसरी तरफ डॉक्टर अमृतराय लता से प्यार करता है। वह उसे पाने की अदम्य लालसा रखता है, उसके अनुरूप कोशिश करता है परन्तु उसे हासिल नहीं कर पाता और अन्ततः रानी के साथ ही विवाह करना पड़ता है। "आज कहाँ है वह उन्माद, वह उल्लास, वह विस्मृति ? कटु सत्य का एक पर्दा वहाँ छाया हुआ है, जो बार–बार उन्हें सतर्क रहने पर विवश कर रहा है और देर से जगी हुई अनुराग की भूख जैसे और भी तीव्र हो उठी। क्या उनका प्रेम का पौधा सदैव इसी तरह फल विहीन खड़ा रहेगा ?"[52]

अन्ततः हम कह सकते हैं कि उपन्यासकार अश्क ने व्यक्ति की स्वच्छन्दता को वाणी दी है। उनके प्रत्येक पात्र प्यार करते हैं, समाज के नियमों की अवहेलना करते हुए कई–कई व्यक्तियों से सम्बन्ध स्थापित करते हैं, उन्हें पाने के लिए जी–जान से प्रयास भी करते हैं परन्तु अन्ततः वे हार जाते हैं। वे सफल नहीं हो पाते और उन्हें भारतीय संस्कृति के विधान को स्वीकार करना पड़ता है। अतः अश्क के पात्र स्वच्छन्दता के लिए प्रयासरत दिखाई पड़ते हैं।

6. स्वावलम्बन

'स्वावलम्बन' से आशय है कि स्वयं के ऊपर अवलम्बित होना अर्थात् जो व्यक्ति स्वयं के ऊपर निर्भर करता है, वह किसी के सामने घुटने नहीं टेकता, किसी से दया की भीख नहीं मांगता, जो किसी की सहायता का मोहताज नहीं है, जो अपनी भुजाओं के बल पर विश्वास करता है, वह स्वावलम्बी है। स्वावलम्बन का गुण भारतीय संस्कृति में प्राचीनकाल से है। भारतीय व्यक्ति किसी से मांगने की या किसी के सामने झुकने की इच्छा नहीं रखता है अपितु वह हर किसी बाधा एवं चुनौती को सहर्ष स्वीकार करके उसका मुकाबला करता है। इसी स्वावलम्बन का आधार हमारा

---

52. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', सितारों का खेल, पृ० 190

प्राचीन इतिहास है। इतिहास बताता है कि भारतीयों ने अपनी संस्कृति एवं सभ्यता की रक्षार्थ अथवा समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु किसी दूसरे देश के सामने हाथ नहीं फ़ैलाए वरन् अपने ही देश में कृषि, लघु उद्योग एवं कारखाने स्थापित किए। इसी प्रकार विदेशी आक्रमणकारियों के सामने बड़े उत्साह से डटकर खड़े हो गए। अतः स्वावलम्बन की धारणा हमारे अन्तस में प्राचीनकाल से है।

उपन्यासकार अश्क ने स्वावलम्बी व्यक्तित्व को स्थान दिया है। यह मूल्य प्राचीनकाल से तो महत्त्व रखता था ही साथ ही आधुनिक युग में भी इसका अपना विशिष्ट महत्त्व है। उपन्यास 'गिरती दीवारें' में चेतन स्वावलम्बी व्यक्तित्व का स्वामी है। वह कविराज के साथ शिमला जा रहा है परन्तु उसके मन में आशंका थी कि कहीं शिमला जाने पर उसे काम न मिले तो कविराज उसे अपने ऊपर बोझ न समझ ले। इसलिए उसने वहाँ के काम के विषय में पहले से तय कर लिया था। "शिमला चलने से पहले चेतन ने कविराज को एक तरह से विवश कर दिया था कि उसे ले चलने से पहले वे उसे कोई न कोई काम अवश्य बता दे, उसके स्वाभिमान को यह स्वीकार नहीं था कि वह उनके सिर पर बोझ बनकर जाए।"[53]

स्वावलम्बी व्यक्ति अपने स्वाभिमान के साथ जीवन व्यतीत करता है। इसी स्वाभिमान के सहारे वह संसार के कठिन से कठिन कार्य को करने के लिए तत्पर रहता है। स्वाभिमानी व्यक्ति के सन्दर्भ में जगदीश गुप्त ने भी अपनी कविता में लिखा है–

"स्वाभिमान नहीं निपट अभियान
स्वाभिमानी व्यक्ति ही इन्सान
स्वाभिमान रहित मनुज है श्वान
दे सको तो दे दो उसे यह ज्ञान।"[54]

---

53. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ० 129

54. जगदीश गुप्त, शम्बूक, पृ० 64

चेतन के स्वाभिमानी व्यक्तित्व को सुनकर तो कविराज की पत्नी भी उसके प्रति सहानुभूति व्यक्त करती है। कविराज जी कहते हैं– "मैंने बीवी जी से तुम्हारे विषय में बात की थी। उनका हृदय बड़ा कोमल है। अपने पाँवों पर आज खड़े होने का प्रयास करने वाले तुम जैसे युवकों से उन्हें बड़ी सहानुभूति है। जब मैंने उन्हें बताया कि तुम दैनिक पत्र में किस प्रकार दिन–रात काम करके अपना जीवन निर्वाह करते हो और किस प्रकार तुम्हारा स्वास्थ्य दिन प्रतिदिन गिर रहा है तो वे द्रवित हो गई।"[55]

स्वावलम्बी व्यक्ति कभी भी परिस्थितियों के सामने घुटने नहीं टेकता है। वह हर परिस्थिति में अपने आपको सक्षम बनाने की चेष्टा करता है और सदैव आकाश की ऊँचाइयों को छूने की लालसा उसमें विद्यमान रहती है। उपन्यास 'गिरती दीवारें' में चेतन अपने आपको परिस्थितयों से घिरा हुआ महसूस करता है। आर्थिक स्थिति कमजोर होने के कारण वह ठीक प्रकार से भरण–पोषण भी नहीं कर पा रहा है। इन सब विपरीत परिस्थितियों के बावजूद उनके पास है स्वावलम्बन की प्रवृत्ति। जिसके आधार पर वह हिम्मत नहीं हारता है। "वह सोचता है कि आज वह दुर्बल है तो क्या कभी सबल न होगा ? हताश होकर वह क्यों बैठ गया है। सृष्टि में चारों ओर वह दृष्टि दौड़ाता तो उसके अपरिपक्व मन को सब जगह जंगल का नियम क्रियाशील दिखाई देता है। यदि इस संसार में बलवान ही को जीत प्राप्त होती तो वह बल का संचय क्यों न करे ? क्या हुआ यदि उसके शारीरिक बल को उसकी कटु परिस्थितियों ने शैशव में ही पंगु बना दिया है, क्या हुआ यदि उसे धन का बल भी प्राप्त नहीं, उसे बुद्धि का बल तो प्राप्त हो सकता है।"[56]

स्वावलम्बी व्यक्ति किसी के सामने हाथ नहीं फैलाता है और न ही दया

---

55. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ० 126

56. वही, पृ० 149

करके उसे दिया गया पैसा ही स्वीकार करता है बल्कि वह तो अपनी मेहनत और ईमानदारी की कमाई में ही विश्वास करता है। उपन्यास 'छोटे बड़े लोग' में चातक की आर्थिक स्थिति निम्न अवस्था में है। उसके घर खाने को अन्न भी नहीं है। इसी बीच उसके घर के सामने स्टाल लगाकर सामान बेचने वाला उसे दो रुपये देता है। वह रुपये इसलिए देता है कि वह उसे हर रोज स्टाल लगाने देगा, परन्तु इस हराम की कमाई को चातक की आत्मा स्वीकार नहीं करती है। वह उसे आगे से स्टाल न लगाने का निर्णय लेता है– "वह उनको हर रोज स्टाल नहीं लगाने देगा – उसने मन ही मन तय किया – न उनसे रुपये लेगा, न ये रुपये अपने पास रखेगा। हस्पताल के जिन रोगियों के रिश्तेदारों से उन्होंने ये छीने हैं, उन्हीं में से किसी जरूरतमन्द को वह दे देगा।"[57] नीलामकारों द्वारा दिए गए पैसे उसे पाप की कमाई नजर आते हैं। उन पैसों को अपने पास रखने में वह अपने को दागी मानता है। इसलिए वह इस उलझन में नहीं पड़ना चाहता है– "आवाज लगाते–लगाते मेरा गला दुखने लगा है और यह कमाई बड़ी मेहनत की है, पर जो पूंजी मैंने उसमें लगायी, वह तो पाप की है और उसके बल पर मैंने जो पैसे कमाये, वे दागी हैं, मैं उन्हें पास रख लूँगा तो जिन्दगी भर मुझे उलझन रहेगी।"[58]

उपन्यास 'गर्म राख' में बसन्त का ससुर उसकी सहायता करना चाहता है लेकिन वह इस शर्त पर कि वह पी० सी० एस० की परीक्षा में बैठे और वायदा चाहता था कि परीक्षा पास होने पर वह उसकी लड़की से शादी करे, परन्तु उसकी स्वावलम्बी आत्मा को यह स्वीकार न था। इस पर बसन्त कहता है– "लेकिन जाने क्यों मुझे यह स्थिति पसन्द न आयी। पिता जीवित रहते तो पी० सी० एस० छोड़ आई० सी० एस० भी क्यों न बन जाता, मैं उस लड़की से शादी करता। पर तब मुझे लगा

---

57. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', छोटे बड़े लोग, पृ० 23

58. वही, पृ० 29

कि मैं अपने आपको बेच रहा हूँ और अपने साथ ही नहीं, उस लड़की के साथ भी अन्याय है।"[59]

अन्ततः हम कह सकते हैं कि स्वावलम्बन की प्रवृत्ति हम भारतीयों की सांस्कृतिक धरोहर है जिसे हमने बड़े सम्भाल कर रखा है। हमारे जीवन में भले ही अनेक उतार–चढ़ाव क्यों न आए लेकिन हम इन मूल्यों को नहीं छोड़ सकते हैं। उपन्यासकार ने इस मूल्य को ज्यों का त्यों स्वीकार कर अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। साथ ही स्पष्ट किया है कि ये मानव मूल्य आधुनिक युग में भी उतने ही उपादेय हैं जितने कि प्राचीन युग में। इसीलिए उसके पात्र आर्थिक स्थिति से टूटते रहते हैं, परन्तु अपने हाथ किसी के सामने नहीं फैलाते हैं और न ही उनकी आत्मा किसी ऐसी वस्तु को स्वीकार करती है, जिसे उन्होंने अपनी मेहनत से नहीं कमाया हो। उपन्यास 'नन्हीं सी लौ' में चन्दा की माँ ऐसे ही स्वावलम्बिनी नारी है। वह किसी के सामने हाथ नहीं फैलाना चाहती है, इसके बदले चाहे उसे मेहनत मजदूरी ही क्यों न करनी पड़े। "चन्दा का पिता पागल हो गया है; उसकी माँ अपने जेठ की रोटियों पर पड़े रहने के बदले स्वाभिमान से जीने और अपने पति की सेवा करने के लिए लाहौर आकर नौकरी करने लगी है। . . . उसकी सास झूठ नहीं बोलती, धोखाधड़ी, चोरी–चकारी नहीं करती, तन नहीं बेचती, अपने दो हाथों के श्रम से वह अपने पति की सेवा के लिए पैसे जुटाती है और तीन मील की मंजिल पार कर उसे देखने जाती है। जेठ अथवा उसके बेटे–बेटियों की दया–माया पर रहने के बदले अपने छोटे से अहम् की लौ जिलाये रख कर, स्वाभिमान से जीने और अपने पति को स्वस्थ बनाने की वह कोशिश क्या श्लाघ्य और स्तुत्य नहीं है ?"[60] अतः स्पष्ट है कि मानव मूल्यों में स्वावलम्बन मुख्य मूल्य है, जिसका आधुनिक युग में भी समान महत्त्व है।

---

59. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ० 165

60. वही, नन्हीं सी लौ, पृ० 137

7. पश्चाताप

मानव गलतियों का पुतला है। वह साधारण रूप से जीवन में अनेक गलतियाँ करता है। उसका स्वभाव है कि वह गलतियाँ करें लेकिन जो लोग अपनी बुराइयों, कमियों तथा गलतियों को स्वीकार कर लेते हैं, वे मानवों में उच्च स्थान को प्राप्त करते हैं। गलती को स्वीकार करना और उसका प्रायश्चित करना प्रत्येक व्यक्ति के वश में नहीं है क्योंकि उसका अहम् उसे प्रायश्चित करने से रोकता है।

आधुनिक युग का मानव अनेक सामाजिक समस्याओं से घिरा रहता है तथा उनसे मुक्ति पाने के लिए वह झूठ तथा गलती का भी सहारा ले लेता है। इसलिए वह आज ज्यादा कमियों से घिरा दिखाई देता है। इसीलिए पश्चाताप भी उसके जीवन में अधिक महत्त्व रखने लगा है। उपन्यास 'नन्हीं सी लौ' में चेतन की सास उसी के शहर में आकर बर्तन साफ करने का काम करने लगी। इस पर चेतन ने अपनी पत्नी को खूब डाँटा। परन्तु जब उसकी आत्मा ने माना कि वह चन्दा के साथ ज्यादती कर रहा है तो उसकी आत्मा उसे धिक्कारने लगी। "अपना वह क्रोध उसे नितान्त पाशविक लगता रहा था और मन ही मन वह अपने से उलझता, बिना इधर–उधर देखे घर से चला गया था। . . . वह जानता था कि उसे चन्दा पर गुस्सा नहीं है। उसे अपनी सास पर गुस्सा था। सच पूछा जाए तो उसे सास पर भी नहीं, उस सारी की सारी परिस्थिति पर गुस्सा था। पागलखाने से आने के बाद वह पिंजरे में बन्द शेर की तरह छटपटाता रहा था। अपनी नसों पर से उसका अधिकार एकदम उठ गया था और वह क्रोध की बहिया में तिनके सा बह गया था।"[61]

मनुष्य अपने अहम् के वशीभूत होकर वैसा कुछ कर बैठता है, जिसे उसकी आत्मा उसे कचोटती रहती है। अर्थात् आत्मा के विरुद्ध कोई भी कार्य कचोट पैदा करता है। इसलिए व्यक्ति को सदैव अपने कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य का ध्यान

---

61. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', नन्हीं सी लौ, पृ० 136-137

रखकर ही कार्य करना चाहिए। उपन्यास 'बड़ी बड़ी आँखें' में संगीत जी वाणी से अन्दर ही अन्दर प्यार करने लगा है। दूसरी तरफ वाणी ने अपने प्रेम के इजहार स्वरूप संगीत जी को पत्र लिख दिया। इस पत्र को अपने पास रखने की बजाय उसने उसके पिता को दे दिया लेकिन स्वयं उसकी आत्मा इस कार्य हेतु धिक्कारने लगी। "शायद उसका वह पहला प्रेम पत्र था। उसे जला देने पर जब देवा जी ने खेद प्रकट किया तो पहली बार अपने कृत्य का अनौचित्य मेरे सामने स्पष्टतर होकर आ गया। अन्तर में कहीं गहरे मैं समझता था कि ज्ञानी जी अथवा देवा जी को चिट्ठी पढ़ाकर, अपने कर्त्तव्य का पालन करके, मैंने बहुत बड़ा काम किया है। उसके प्रेम को कुचलकर, वह सब लिखकर, जैसे मैंने देवा जी की आँखें खोल दी थीं और उस कर्त्तव्यपालन के लिए नौकरी का बलिदान करने को तैयार होकर मैं अपनी आँखों में कहीं ऊँचा उठ गया था। लेकिन देवा जी की उस हल्की सी डाँट के बाद लगा कि वाणी के उस पत्र को फाड़ कर, जला कर, उसे ज्ञानी जी को दिखा कर, देवा जी को पढ़ा कर, उसके भेद को उन सब पर प्रकट करके मैंने निहायत बुरा काम किया है। उसके प्रति भी मेरा कुछ कर्त्तव्य था।"[62]

उपन्यास 'गिरती दीवारें' में चेतन अपनी साली नीला से प्यार करता है। उसकी अपनी पत्नी होने के बावजूद भी वह नीला से प्यार करता है और उसे पाने की लालसा में वह सब कर बैठा जो उसे नहीं करना चाहिए था। लेकिन अपने इस कुकृत्य को छिपाने के लिए नीला के पिता को नीला की शादी के लिए वर ढूँढने को कहा। जब शादी एक अधेड़ उम्र के व्यक्ति से हो जाती है तो नीला की इस बर्बादी में वह स्वयं को दोषी मानता है। "नीला के इस अनमेल विवाह पर उसे अतीव दुख था यद्यपि वह अपने मन को कई तरह से समझा चुका था, किन्तु फिर भी हृदय के किसी कोने में वह अपने—आपको उसका दोषी समझता था। नीला जीते जी उसके

---

62. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', बड़ी-बड़ी आँखें, पृ० 127

देखते–देखते कब्र में डाली जा रही थी और वह मजबूर था और फिर ये बाजे, ये रस्में, ये गीत ! जिस चीज ने उसकी मानसिक पीड़ा और भी अधिक बढ़ा दी थी वह यही गीत थे।"[63]

साधारणतया बच्चे के माता–पिता उसके भले की ही सोचकर उसे रास्ता बताते हैं। लेकिन जब बच्चे उनकी बातों की अवहेलना कर देते हैं तो निश्चित रूप से उन्हें कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। वे फिर दिन–रात पश्चाताप की अग्नि में जलते रहते हैं। उपन्यास 'सितारों के खेल' में लता के पिता ने लता को बंशीलाल से शादी न करने का सुझाव दिया था लेकिन वह भावावेश में बह गई और पिता की बातों की अवहेलना कर डाली। परन्तु अब समय बीतने पर लता को रह–रहकर पिता के वाक्य याद आ रहे हैं और वह पश्चाताप की अग्नि में जल रही है– "मैं स्वयं अपने इस कृत्य पर दुखी हूँ। जिस पिता ने मुझे पाला–पोसा और बड़ा किया; मेरी माँ नहीं है, जिसके प्यार और मुहब्बत ने मुझे ये भी महसूस न होने दिया; उसकी नसीहत को न मानकर मैंने जो पाप किया है, उसे मैं आयुपर्यन्त न धो सकूँगी।"[64] दूसरी तरफ डॉक्टर अमृतराय लता से प्रेम करता है। वह उसे पाने के लिए वंशीलाल की हत्या करना चाहता है। इसके लिए उसने जहर की शीशी का प्रबन्ध कर लिया था परन्तु अपने इस कार्य में वह सफल न हो सका। लेकिन इसके बाद वह अपने कार्य पर पश्चाताप कर रहा है। उसकी आत्मा उसे धिक्कार रही है– "तुम्हें लता से प्रेम है और बंशीलाल उस प्रेम के रास्ते में रुकावट है, इसलिए उसे हटा रहे हो। उन्हें जान पड़ा, जैसे युक्तियों द्वारा उन्होंने अपनी आत्मा का गला घोंट दिया है। जो कृत्य समाज की दृष्टि में पाप है, उसे वे पुण्य कैसे बता सकते हैं ? आज के अपराधियों की भाँति उस असहाय दीन–हीन व्यक्ति को विष की घूँट

---

63. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ० 196

64. वही, सितारों के खेल, पृ० 165

पिलाने आए हैं। उनकी दृढ़ता दुर्बलता में परिणत हो गयी और एक एक कागज का तनिक सा हिलना भी उन्हें कँपा देने के लिए काफी हो गया।"[65] वह उसे जहर पिलाने लगता है तो उसकी आत्मा इस हत्या हेतु उसे धिक्कारने लगती है। इसीलिए वह इस कार्य को अंजाम न दे सका– "चम्मच निकालकर विष की एक खुराक उसमें उलट ली। एक क्षण के लिए उसका हाथ काँपा, एक बार उनका शरीर काँपा, चम्मच गिर न जाए, इस ख्याल से उन्होंने दृढ़ता से पकड़ लिया। उनका शरीर फिर काँपने लगा। चम्मच जोर से हिलने लगा। उन्होंने तत्काल उसे उसी शीशी में उलट दिया और चम्मच को मेज पर पलट कर शीशी को जेब में डालकर स्तब्ध खड़े रहे। उनकी निगाहें प्रकट घड़ी पर जमीं रहीं, लेकिन उन्हें उनका दिल इस दुर्बलता पर कोस रहा था।"[66]

अन्ततः हम कह सकते हैं कि उपन्यासकार अश्क ने पश्चाताप तत्त्व को उठाकर आधुनिक मानव को चेतना दी है कि मनुष्य जीवन लम्बा है और इस लम्बे समय में सामान्यतः वह कोई न कोई गलती अवश्य कर बैठता है, परन्तु अपने अहंकारवश वह उस भूल या गलती को स्वीकार नहीं करता है तो उसके जीवन में तनाव की स्थिति आ सकती है। इसलिए इस तनाव को रोकने, अपनी कमियों एवं बुराइयों को दूर करने के लिए मनुष्य को सचेत रहना चाहिए। किसी भी गलती को पश्चाताप के माध्यम से ही सुधारा जा सकता है और सम्बन्धों में पुनः मिठास का संचार किया जा सकता है। अतः पश्चाताप मानव का परिष्कार करता है।

8. शान्ति का महत्त्व

आज आधुनिक युग में मानव भौतिकता की तरफ भाग रहा है। इस दौड़ में वह इतना अन्धा हो गया है कि वह बहुत कुछ पीछे छोड़ता चला जा रहा है,

---

65. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', सितारों के खेल, पृ० 122-123

66. वही, पृ० 123

जिसका उसकी जिन्दगी के साथ अटूट सम्बन्ध रहा है। आज अन्धानुकरण के कारण और भाग दौड़ के कारण वह अपने जीवन के मूल लक्ष्य को भी भूल गया है। जीवन के संघर्षमय होने के कारण वह भटकता रहता है। इसके साथ ही आज आधुनिक समाज की विभिन्न समस्याएँ उसे सुलझाने की अपेक्षा उलझाती चलती हैं, इस कारण आज मानव दुखी है, उसे शन्ति नहीं मिल पाती है। आधुनिक मानव की भटकन को दूर करने तथा उसके जीवन में शान्ति का समावेश करने का प्रयास उपन्यासकार अश्क ने अपने उपन्यासों के माध्यम से किया है।

उपन्यासकार अश्क ने अपने उपन्यास 'बड़ी–बड़ी आँखें' में मनुष्य की अशान्ति का कारण अहम्, अनुभवहीनता और अनिश्चय को स्वीकार किया है। देवा ने शान्ति प्रदान करने हेतु देवनगर की स्थापना की है और संगीत जी शान्ति को प्राप्त करने के उद्देश्य से देवनगर गए हैं। वहाँ देवा जी शान्ति के सन्दर्भ में बता रहे हैं। "जहाँ तक मन की शान्ति का सम्बन्ध है, उसका स्रोत न गान्धी आश्रम है और न देवनगर। वह तो आपके अन्तर में ही है, वहीं आपको खोजना होगा। गाँव में शहर और शहर से भाग कर गाँव में रहने, साम्राज्य छोड़कर संन्यास लेने अथवा संन्यास तज कर साम्राज्य पाने में शान्ति नहीं, जीवन के ये परिवर्तन अशान्ति के कारणों को हटाते नहीं, उन्हें आगे पीछे कर देते हैं। अशान्ति का कारण है अनुभवहीनता, अनिश्चय और अहम् का आधिक्य। सम्राट यदि गद्दी छोड़ कर कुटिया को अपना लेता है तो इन बुराइयों को वह साथ ही ले जाता है। इसलिए विचारवान सभी दशाओं में शान्त और प्रसन्न रहता है।"[67]

हमारी प्राचीन विचारधारा है कि शान्ति वनों में या जंगलों में भ्रमण करने से या तपस्या करने से मिलती है। इसीलिए हमारे सभी साधु, ऋषि एवं मुनि वनों एवं जगलों में शान्ति की खोज हेतु निकलते थे, परन्तु अश्क की आधुनिक मान्यता

---

67. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', बड़ी-बड़ी आँखें, पृ० 13

है कि शान्ति वनों या जंगलों में नहीं मिल सकती है। इसका कारण मानते हुए कि जिस शान्ति की खोज में आधुनिक मानव भटक रहा है, वह अशान्ति भी आधुनिक युग की ही देन है, अतः वह अब महानगरों, नगरों, उद्योगों, कारखानों और दफ्तरों या क्लबों की भीड़ में ही प्राप्त हो सकती है। "भाई आप कहीं भी जाएं, शान्ति आपको नहीं मिलेगी। आपको उसे स्वयं अपनी कोशिशों से प्राप्त करना होगा। आप जंगल भी चले जाएं, जहाँ आदमी की शक्ल तक नजर न आये तो भी आपको अकंटक शान्ति प्राप्त न होगी। प्रकृति से समझौता करके अथवा उस पर विजय पाकर आपको अपनी शान्ति पानी या जीतनी पड़ेगी। फिर इन्सानों की बस्ती में, जहाँ पर हर एक अपनी शान्ति के लिए संघर्ष करता है और सबकी कोशिशें एक–दूसरे से टकराती रहती हैं, आपको भी प्रयत्न करना पड़ेगा।"[68]

हमारे मन की अशान्ति हम स्वयं पैदा करते हैं। दूसरे की बुराइयों पर खीझ उठते हैं, दूसरे की उन्नति को सहन नहीं कर पाते हैं। आधुनिक मानव की विडम्बना यह है कि वह अपने दुःख से इतना दुखी नहीं है जितना कि दूसरे के सुख से। यदि हम अपने मन की दुर्बल प्रवृत्तियों का दमन कर दें और सभी में प्यार को ढूँढना शुरू करें तो निश्चित ही हमें शान्ति प्राप्त हो सकती है। देवा संगीत जी को शान्ति के विषय में बता रहे हैं। "एक–दूसरे के विरुद्ध लोग क्या कहते हैं, उसे न सुनिये। एक–दूसरे की प्रशंसा में जो कहा जाता है, उस पर ध्यान दीजिए। दोषों के बदले उनके गुण देखिए। दिल से उन्हें स्नेह देना, प्यार करना और उनके काम आना सीखिए ! निश्चय ही आपको सुख भी मिलेगा और शान्ति भी।"[69]

आधुनिक युग के मनुष्य की अशान्ति का कारण भूख है। वह कितना कुछ एक साथ पा लेना चाहता है और इसी चाहत में वह यह नहीं समझ पाता कि वह क्या

---

68. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', बड़ी-बड़ी आँखें, पृ० 66

69. वही, पृ० 68

सार्थक कर रहा है और क्या अनर्थ। वह हर किसी व्यक्ति से सम्बन्ध बनाते समय अपने लाभ या हानि को अवश्य देखता है। इसीलिए मानव अब बुराइयों का घर बन गया है– "सत्यं, शिवम् और सुन्दरम् का आदर्श कहा गया ? झूठ, छल, प्रपंच, नीचता, बदनीयती, रमाकारी, चापलूस और रिश्वत–मानव की कोई भी ऐसी कुप्रवृत्ति और दुर्गुण नहीं, जो हमारे जीवन का आवश्यक अंग न बन गया हो।"[70]

आज के मानव और पशु में कोई अन्तर नहीं रह गया है। वह पशु की भाँति सभी कार्य करता है परन्तु वांछा रखता है शान्ति की। यह सब तभी सम्भव हो पाएगा जब वह अपने बर्बरता के कार्यों को पूर्ण रूप से तिलांजलि दे देगा। इस धरती पर बने हुए नरक को स्वर्ग में तबदील करने की चेष्ट करेगा तथा अपने कार्यों को आदर्शों की पूर्ति में लगाएगा। उपन्यास 'गर्म राख' में हरीश दूसरों को अपने लक्ष्यों के बारे में बता रहा है। "सरकारी अफसर बन कर अपने भाइयों पर अत्याचार करना मुझे स्वीकार नहीं हुआ और फिर धन–वैभव की चाह मुझे नहीं रही। जाने माँ की शिक्षा का प्रभाव है या क्या, बिना किसी ऊँचे आदर्श का जीवन मुझे निस्सार मालूम होता है। खाने–पीने, पहनन और मोटर पर चढ़ने की आकांक्षा मुझे नहीं। अपने आदर्शों की पूर्ति के साथ यदि ये सुख मुझे मिलते हैं, उस आदर्श की पूर्ति के साधन बनते हैं तो मुझे उन्हें लेने से इन्कार नहीं, पर यदि साध्य बनकर रह जाते हैं तो मेरी प्रवृत्ति उन्हें पाने को नहीं होती।"[71]

आज भौतिक युग में शान्ति की आशा रखना मुश्किल है क्योंकि वह जीवनभर संघर्षों में जूझता रहता है। संघर्षशील व्यक्ति को आसानी से शान्ति प्राप्त हो जाए, निरर्थक–सा जान पड़ता है। चातक शान्ति के लिए एकान्त की कल्पना करता है। इस पर लेखक का मत है– "पर यह बात समझ में नहीं आती थी कि

---

70. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ० 257

71. वही, पृ० 262

उनकी यह छोटी–सी इच्छा मुगल सम्राट जहाँगीर का वैभव और उस वैभव के पीछे मुगलों की शक्ति या फिर आदि मानव की संकुचित दुनिया चाहती है। जीवन के प्रतिक्षण बढ़ते हुए संघर्ष में शान्ति के चन्द क्षण पाने के लिए सुबह से शाम तक जूझना जरूरी है। नदी का किनारा, छोटी–सी कुटिया और अकण्टक शान्ति का सपना आज के संघर्षमय जीवन में रूमानी सपना है।"[72] आधुनिक मनुष्य के पास बुद्धि है जिसके बल पर वह अच्छाई–बुराई का स्व–विवेक से चिन्तन कर सकता है और इस चिन्तन के बाद जिस निर्णय पर पहुँचेगा वह निश्चित ही उसे शान्ति प्रदान करने वाला होगा। समाधिस्थ होने से आधुनिक समस्याओं से निजात नहीं पाई जा सकती है। उपन्यास 'शहर में घूमता आईना' में चेतन योग और साधना को बुद्धि से परे की चीज मानता है। इस योग साधना में न तो बुद्धि का समावेश है और न ही मनुष्य की विकास की राहें। "न्याय–अन्याय, सुख–दुख, पुण्य–पाप, भले–बुरे की तुलना, इन्सान ही करता है और मैं समझता हूँ कि इन्सान को पिछले या अगले जन्म की चिन्ता छोड़, इसी जन्म को बेहतर, सुखद, न्यायपूर्ण, शान्त बनाने वाले नये धर्म को विकसित करना चाहिए और ऐसा वह अपने दिमाग की ही मदद से कर सकता है। पिछली अनुभूतियों से शिक्षा पाकर कर सकता है, अपने इर्द–गिर्द जीवन को देखकर कर सकता है; समाधिस्थ हो, इस जग को माया समझकर कभी नहीं कर सकता है।"[73]

आधुनिक युग में शान्ति का स्वरूप भी बदल गया है और उसका महत्त्व भी। सामान्यतः शान्ति से आशय लगाया जाता है कि सुख–दुख की स्थिति से परे पहुँचना, कामना रहित जीवनयापन करना, फलाफल की चिन्ता से दूर रहना आदि। परन्तु आधुनिक मनुष्य कामना नहीं करेगा, फल की इच्छा नहीं करेगा और न सुख

---

72. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ० 306

73. वही, शहर में घूमता आईना, पृ० 288

में सुखी तथा दुख में दुखी होगा तो उसका जीवन निष्क्रिय हो जाएगा और निष्क्रिय मनुष्य का भौतिक संसार में महत्त्व नहीं है। उसकी स्थिति तो मृतप्रायः मनुष्य जैसी हो जाएगी। उपन्यास 'शहर में घूमता आईना' में चेतन मनुष्य की शान्ति नहीं चाहता है क्योंकि शान्ति उसकी दृष्टि में अकर्मण्यता है। इस सम्बन्ध में वह कहता है– "जिस परम शान्ति की वांछा आत्मा को पाने में आदमी करता है – मन की ऐसी स्थिति, जो स्वप्नरहित नींद की–सी है, वह मृत्यु का दूसरा रूप नहीं तो और क्या है ? जीते जी मरना नहीं तो औरक्या है ? अरस्तु ने मौत को स्वप्नरहित नींद ही तो कहा है और फिर वर्षों की योग साधना के बाद यदि आदमी स्वयं वैसी शान्ति पा भी ले तो क्या . . . यदि कोई भगवान है और वह चाहता है कि आदमी जिये नहीं, जीते जी मृत्यु की–सी शान्ति पाये तो वह आदमी को ये सब इन्द्रियाँ क्यों देता है, ऐसा दिमाग क्यों देता है। चेतन उठकर छत पर घूमने लगा . . . ज्ञानयोग की अपेक्षा कर्मयोग की बात कुछ–कुछ उसकी समझ में आती थी। वह कामनारहित होकर नहीं, कामनायुक्त होकर काम करेगा। उसे मोक्ष नहीं चाहिए . . . वह जिन्दगी को जीना चाहता है . . . जिन्दगी को जीने की प्रेरणा तो कामना ही से है, उसे छोड़कर वह जूझेगा कैसे ? वह प्रबल हठ, लगन, निष्ठा लाएगा कहाँ से ? . . . लेकिन वह फलाफल की चिन्ता नहीं करेगा। असफल होने पर दुख नहीं मनाएगा, बल्कि दुगने जोश से सफल होने का प्रयास करेगा।"[74]

अन्ततः कहा जा सकता है कि आज आधुनिक युग में शान्ति का स्वरूप परिवर्तित हो गया है। आज वह शान्ति की खोज में वनों एवं जंगलों में जाकर ध्यान एवं यांग नहीं करता है। वह तो सतत क्रियाशील रहकर, कर्म करके, फल की प्राप्ति करके ही शान्ति पाना चाहता है। यहाँ ज्ञान जैसा तत्त्व क्षीण हो गया है और उसके स्थान पर कर्मयोग को बल मिला है। वह अगले जन्म के सुख की कल्पना में भी कोई

---

74. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', शहर में घूमता आईना, पृ० 413

कार्य नहीं करता अपितु वह तो इसी संसार को स्वर्ग और नरक मान रहा है। जब उसका यह संसार स्वर्ग के समान हो जाएगा तो उसी में उसे सुख एवं सन्तोष की प्राप्ति हो सकेगी। अतः प्राचीन मान्यताएँ बदल रही हैं और कर्मयोग की नई मान्यताएँ स्थापित हो रही हैं, यही नवीन शान्ति है ओर इसी की प्राप्ति मानव का उद्देश्य।

९. स्वार्थ सन्दर्भ

वर्तमान युग में और प्राचीन युग में बड़ा अन्तर दिखाई देता है। प्राचीन युग के मानव में दया, ममता, परोपकार और करुणा जैसे मूल्य विद्यमान थे। उनके प्रत्येक कार्य से सच्चाई और ईमानदारी की खुशबू आती थी तथा वे दूसरों की भलाई हेतु ही अपने जीवन लगा देते थे, परन्तु आज आधुनिक सभ्यता में महान परिवर्तन देखा जा सकता है। आज की परिस्थितियों ने मानव को इतना तोड़ दिया है कि वह अपना भरण–पोषण करने के लिए तथा अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए सभी अच्छे और बुरे कार्यों में संलग्न रहता है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में उसका ध्यान केवल अपने ऊपर ही रहता है, इसलिए वह स्वार्थी बन गया और परमार्थ से कहीं दूर जा पड़ा है। आज उसका प्रत्येक कार्य स्वार्थ से भरा दिखाई देता है, यदि माता अपने पुत्र का लालन–पालन कर रही है तो इस स्वार्थ से कि वह बड़ा होकर उसकी सेवा करेगा, समाज मानव में गुणों का विकास करता है तो भी सोचता है कि यह एक सभ्य प्राणी बनकर उसका अभिन्न अंग कहलाएगा, संसार के सभी सम्बन्ध स्वार्थ पर आधारित हैं, जहाँ कहीं किसी का स्वार्थ पूरा हुआ नहीं, वहीं वह सब छोड़ ऐसे भागता है जैसे जेल से छूटने के बाद कैदी भागता है। इसलिए सम्पूर्ण संसार स्वार्थी है, परन्तु आधुनिक मानव का स्वार्थ सभी सीमाएँ लांघ गया है।

उपन्यास 'गिरती दीवारें' में कविराज कहानी का संग्रह निकालना चाहता है, परन्तु इसके लिए उसके पास सामग्री नहीं है। इसी बीच उसकी मुलाकात चातक से हो जाती है और वह अपने स्वार्थ की पूर्ति हेतु उसे प्रलोभन देकर अपने साथ शिमला ले गया, जहाँ पर रहकर चेतन लेखन का कार्य करे। जब शिमला पहुँच कर

उसे कविराज की वास्तविक स्थिति का ज्ञान हुआ तो उसका मन खिन्न था। "कविराज बीसियों शोषकों की तरह एक शोषक है, वे उसे शिमला केवल पुस्तक लिखवाने के विचार से लाए हैं और उसे इस बात का भी पता चल गया कि पहले भी एक–दो कलाकारों का वे इसी प्रकार स्वास्थ्य सुधार चुके हैं और इस पुण्य का फल वे पुस्तकें हैं, जो सहस्रों की संख्या में उनके नाम से बिध रही है।"[75]

उपन्यास 'सितारों के खेल' में डॉक्टर अमृतराय लता से प्रेम करता है और वह उसे पाने के लिए निरन्तर प्रयासरत है लेकिन वह अपने रास्ते में बंसीलाल को रुकावट महसूस करता है। वह इस स्वार्थ से वशीभूत हो कि यदि बंसीलाल उसके रास्ते से हट जाए तो उसे लता मिल सकती है। उसको जहर खिलाकर उसकी हत्या करना चाहता है। "अन्तर के किसी कोने में छिपी हुई आत्मा की आवाज मानो मूक भाषा में पुकार पुकार कर कह रही है – यह पुण्य का ढोंग छोड़ो। तुम्हें लता से प्रेम है और बंसीलाल उसे प्रेम के रास्ते में रुकावट है, इसलिए उसे हटा रहे हो। उन्हें जान पड़ा कि जैसे युक्तियों द्वारा उन्होंने अपनी आत्मा का गला घोंट दिया है।"[76]

आधुनिक मानव अपने अस्तित्व तक केन्द्रित हो गया है। उसे समाज या देश की चिन्ता नहीं है बल्कि उसके स्वार्थों की पूर्ति ही उसका उद्देश्य रह गया है। आजादी मिलने के सम्बन्ध में लोगों की स्वार्थ वृत्ति को उपन्यास 'गर्म राख' में हरीश ने अपने उदगार व्यक्त किए हैं– "राजे–महाराजे सोचते हैं कि वे अपनी रियासतों के स्वतन्त्र अधिपति होंगे। सेठ साहूकार सोचते हैं कि व्यापार उनके हाथ में आ जाएगा और अंग्रेज व्यापारियों के बदले शोषण की आजादी उन्हें मिलेगी; नौकरीपेशा वर्ग सोचता है, अंग्रेज के जाने से उसकी उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो जाएगा। . . . महात्मा

---

75. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ० 142

76. वही, सितारों का खेल, पृ० 122

गांधी और उनके चन्द अनुयायियों को छोड़कर शेष सब के सब अवसरवादी हैं। उनकी दृष्टि आजादी के बाद बनने वाली कांग्रेस सरकारों पर है। यही कारण है कि हिन्दू और मुसलमान का झगड़ा है। यदि जनता के हित उनके सामने हों तो झगड़े की गुंजाइश ही न हो।"[77]

इस प्रकार से स्पष्ट है कि स्वार्थ की प्रवृत्ति मानव की बुरी प्रवृत्ति है। स्वार्थ से वशीभूत मानव केवल अपने लाभ की ही सोचता है। उपन्यासकार ने ऐसे तत्त्वों को मानव के विकास में बाधा के रूप में स्वीकार किया है तथा इन बुरी प्रवृत्तियों से दूर रहने का सन्देश दिया है। हालांकि स्वार्थ की प्रवृत्ति की आलोचना प्राचीनकाल से करते रहे हैं, परन्तु आज भी यह तथ्य आलोच्य है।

10. मानव-मनोविज्ञान

मनोविज्ञान अर्थ है मन का विज्ञान। अतः स्पष्ट है कि मानव मन ही इसके अध्ययन का क्षेत्र है। भारतीय दर्शन में मन को 'अन्तकरण' की संज्ञा से अभिहित किया है। "वस्तुतः भारतीय दर्शन व्यापक रूप में मन के अनुभवों, विवेक, बोध, इच्छा आदि क्षमताओं से युक्त मानता है।"[78] "जब से मनुष्य ने अपने स्वरूप व जीवन के विषय में सोचना प्रारम्भ किया है, तभी से उसका ध्यान मन और आत्मा की ओर गया।"[79] अतः मनोविज्ञान उतना ही प्राचीन है, जितनी मानव की जिज्ञासावृत्ति और चिन्तन पद्धति। मनोविज्ञान का शास्त्रीय रूप में विकास बहुत बाद में हुआ। 'सॉयकोलॉजी' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग सत्रहवीं शताब्दी से माना जाता है। प्रयोग की दृष्टि से यह शब्द भले ही नया हो, लेकिन मानव–मन की गतिविधियों को समझने की चेष्टा प्राचीनकाल से ही हो रही है। मनोविज्ञान के नवीन वैज्ञानिक

---

77. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ० 261
78. Ragher Nath Sataya. Indian Psychology. P. 170
79. डॉ० सीताराम जायसवाल, मनोविज्ञान की ऐतिहासिक रूपरखा, पृ० 10

अध्ययन का श्रेय पश्चिम को दिया जाता है। लेकिन भारतीय मनीषियों द्वारा 'मन' उसकी प्रवृत्तियों एवं चेष्टाओं सम्बन्धी गम्भीर विवेचन को पश्चिम भी स्वीकार करता है। अतः स्पष्ट है कि मन की विभिन्न अवस्थाओं का वैज्ञानिक विवेचन, विश्लेषण करना मनोविज्ञान का कार्य है और आधुनिक मानव जो अनेक संघर्षों, दबावों, घुटन, पीड़ा तथा संत्रास का जीवन जी रहा है, उसके लिए अति महत्त्वपूर्ण है। इस अर्थ से आधुनिक मानव के जीवन में मनोविज्ञान का विशेष महत्त्व है।

उपन्यासकार अश्क आधुनिक युग के कलाकार हैं, इसलिए आधुनिक मानव के मन में उठ रहे अनेक घात–प्रतिघातों को उन्होंने अपने उपन्यासों के माध्यम से चित्रित किया है। मानव अपने अहम् के वशीभूत है। वह किसी भी परिस्थिति में अपने अहम् से समझौता नहीं करना चाहता है। जहाँ कहीं भी उसके अहम्, मान–सम्मान को चोट पहुँचती है, वहीं पर वह भाग खड़ा होता है और अहम् को आहत करने वाले से भिड़ने को तत्पर हो जाता है। उपन्यास 'नन्हीं सी लौ' में चेतन की सास लाहौर आकर बर्तन साफ करने की नौकरी करने लगी। उसी शहर में चेतन की गिनती शहर के गणमान्य व्यक्तियों में की जाती थी, इसलिए वह अपनी सास के इस तरह से काम करने में हीन भावना महसूस करता है– "उसकी सास वहीं लाहौर में एक सेठ की रसोई करती है और बर्तन–भाँडे मलती है, बार बार यही बात उसे कौंच रही थी। उसके किसी मित्र परिचित को पता चलेगा तो क्या होगा ? वह कैसे मित्रों से आँख मिलाएगा ? इस स्थिति से समझौता करना उसे एकदम असम्भव सा लगता था। . . . मौसी रामरक्खी को, कमला को, जमुना को पता चल जाएगा कि उसकी सास यहीं निकट ही चौका बर्तन करती है . . . तब वह कैसे उनके यहाँ जा पाएगा, कैसे अपनी पत्नी को पढ़ा पाएगा और अपने पिता, अपने ससुर, अपनी सास और अपनी पत्नी के विरुद्ध एक दुर्वार क्रोध और झुँझलाहट से उसके मन प्राण सुलग उठे थे।"[80] वह मानसिक द्वन्द्व से ग्रस्त है क्योंकि सास के कार्य से उसे लज्जा

---

80. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', नन्हीं सी लौ, पृ० 101

आ रही थी और रिश्तेदारी के नाते उस पर दया। परन्तु दया के ऊपर लज्जा को विशेष महत्त्व मिला हुआ था। वह इस बात से भी शंकित था कि कोई उसे उसकी सास से मिलता हुआ न देख ले। "उसे दिन के उजाले में गली में खड़े होकर भी अपनी सास से बातें करने में संकोच था। उसका कोई मित्र–परिचित ही उसे अपनी सास के साथ बातें करता देख सकता था। पूछने पर वह क्या जवाब देता।"[81]

मनुष्य गलतियों का पुतला है। वह आए दिन नई–नई बुराइयों से ग्रसित होता जा रहा है, जिनसे छुटकारा दिलाने में मनोविज्ञान बड़ी सहायता करता है। मनोविज्ञान मानता है कि यदि प्रेम और सहयोग किया जाए तो वह अपनी बुरी आदतों से छुटकारा पा सकता है, इतना ही नहीं उसे अभिप्रेरित किया जाए तो वह बड़े से बड़े कार्य को करने की ठान लेता है। उपन्यास 'बड़ी बड़ी आँखें' में नबी को चोरी करने की आदत पड़ी हुई है। इसलिए देवनगरवासी उसे देवनगर से निकाल देना चाहते हैं, परन्तु संगीत जी न सिर्फ उसे अपने पास रखते हैं बल्कि उसकी बुराइयों को भी दूर करते हैं तथा उसमें नवीन दृष्टि का संचार भी करते हैं। संगीत जी नबी को समझाते हुए कहते हैं– "देखो, तुम नौकरी छोड़ना नहीं चाहते तो मन लगाकर पढ़ो, अच्छे लड़के बनो और देवनगर वासियों को, जो तुम्हें चोर समझते हैं, दिखा दो कि तुम कितने अच्छे हो।"[82] मधवार साहब भी व्यक्ति की बुराइयों को दूर करने में प्रेम और समदृष्टि को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। "मैं तो बल्कि विश्वास रखता हूँ कि वह बच्चा न केवल चोरी की आदत छोड़ सकता है, बल्कि प्रैक्टिकल स्कूल के अधिकांश बच्चों के मुकाबले में योग्य और बुद्धिमान भी साबित हो सकता है। लेकिन उसके लिए स्नेह और समदृष्टि की जरूरत है।"[83]

---

81. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', नन्हीं सी लौ, पृ० 106

82. वही, बड़ी-बड़ी आँखें, पृ० 149

83. वही, पृ० 152

सम्भोग की प्रक्रिया पूर्णतः मानव मन से जुड़ी हुई है। जहाँ कहीं उसका मन उसमें न लगा या उसके मन में किसी प्रकार के दूसरे सन्दर्भ आ गए तो वह सफल हो पाएगा, इसमें सन्देह है। जब तक मनुष्य मन और आत्मा दोनों का मिलन कर कार्य को नहीं करता, तब तक वह सफल नहीं हो पाता। उपन्यास 'गिरती दीवारें' में भी मानव मन की इन्हीं विशेषताओं के उद्भाषित किया है। अनन्त ने चेतन को एक बार नपुंसक कह दिया, लेकिन वह वाक्य उसके गहरे में बैठ गया। अब उसके सामने सुन्दर नारी साहचर्य के लिए तैयार है परन्तु फिर भी उसका मन अपने आपको पुरुष साबित करने को तैयार नहीं है– "अनन्त का ध्यान आते ही उसका अट्टहास उसके कानोंमें गूंज गया – 'तुम तो नपुंसक हो।' तो कहीं सचमुच वह नपुंसक ही तो नहीं हैं ! और उसकी आँखों के सामने पत्र–पत्रिकाओं में छपने वाले विज्ञापन फिर गए। जरूर ही उसे कोई गुप्त रोग है।"[84] इसके साथ ही कुछ ऐसे युवक होते हैं जिन्होंने किसी का साहचर्य प्राप्त नहीं हुआ और अचानक शादी के बन्धन में बन्ध जाने के बाद सम्भोग की प्रक्रिया से गुजरना पड़े तो उसके मन में अपनी सफलता–असफलता के सन्दर्भ में अनेक प्रश्न झूलते हैं और इन्हीं के चलते उसके मनोवैज्ञानिक हताश होने की आशंका भी बराबर बनी रहती है – "चेतन का मन खिन्न था। वह अपनी इस दुल्हन से बिल्कुल साक्षात न करना चाहता था, किन्तु एक तरह का कुतूहल अवश्य उसके मन में था। जिन युवकों को लड़कियों का साहचर्य प्राप्त नहीं होता अथवा जो लड़कियों की उपस्थिति में संकोच से अभिभूत हो जाते हैं, नारी के शरीर को सर्वथा अपने अधिकार में पाकर जैसे कुछ कुतूहल उनके मन में पैदा होता है, वही चेतन के मन में भी था।"[85]

शादी के प्रारंभिक दौर की सफलता और असफलता के विषय में सन्देह

---

84. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ० 55

85. वही, पृ० 77

है तथा निश्चित रूप से कुछ कह सकना असम्भव है। कई परिस्थितियों में मनुष्य पूर्ण आनन्द नहीं ले पाता तो मनोवैज्ञानिक रूप से कुण्ठाग्रस्त हो जाता है और धीरे–धीरे यह कुण्ठा बीमारी का रूप ग्रहण कर लेती है। उपन्यास 'गिरती दीवारें' में कविराज वैवाहिक जीवन के बारे में मनोवैज्ञानिक चित्रण कर रहे हैं। "विवाह की पहली रात अगणित पति हैरान होकर सोचते हैं – क्या यही कुछ था विवाह में ? अतृप्ति की आग में जलकर बार–बार वे पशु बनते हैं, पर तृप्ति उन्हें नहीं मिल पाती। धीरे–धीरे यह अतृप्ति, यह घृणा, एक अभेद्य चट्टान बन जाती है और वैवाहिक जीवन की नदी उससे टक्करें मार–मारकर रह जाती है। उसे भेदकर अपने नैसर्गिक प्रवाह में नहीं बह पाती।"[86]

मनुष्य किसी भी कार्य में आत्मिक सन्तुष्टि चाहता है और वह उस सन्तुष्टि हेतु अपना सर्वस्य दाव पर लगाने को तैयार है। लेकिन इसके विपरीत यदि वह अपने उस प्रयास में असफल हो जाता है तो केवल एक ही असफलता से हार नहीं मानता बल्कि बार–बार उस कार्य को पूरा करने के लिए प्रयासरत रहता है। यदि बार–बार असफलता ही मिले तो वह कुंठित हो जाता है और उसकी कुण्ठा का शिकार पूरे समाज को होना पड़ता है। वह समाज में अनेक बुराइयाँ पैदा करता है। उपन्यासकार अश्क ने अपने उपन्यासों में मनुष्य की इन्हीं कुण्ठाओं का वर्णन किया है। किस प्रकार व्यक्ति अपनी हार को जीत मं बदलने का प्रयास करता है ? अपने अधूरेपन को पूरा करने का कैसा प्रयास करता है। उपन्यास 'गिरती दीवारें' का नायक चेतन कुन्ती से प्यार करता है, परन्तु उसका यह स्वप्न पूरा नहीं होता और उसकी शादी चन्दा से हो जाती है। चन्दा में कुन्ती न मिलने पर वह मुन्नी की तरफ दौड़ता है और मुन्नी में चन्दा का रूप न देख वह नीला में अपने रिक्त को पूरा होने की आशा रखता है, परन्तु यह विडम्बना है कि वह इसे पूरा नहीं कर पाता और

---

86. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ० 187

मनोवैज्ञानिक रूप से कुण्ठाग्रस्त हो जाता है। उपन्यास 'सितारों के खेल' में जगत और लता का सम्बन्ध है परन्तु जगत के मना करने पर लता वही रूप बंशीलाल में खोजती है लेकिन बंशीलाल में भी वह न मिलने के बाद थोड़ा–सा झुकाव डॉक्टर अमृतराय की तरफ हो जाता है। डॉक्टर अमृतराय लता को चाहता है परन्तु डॉक्टर को राजरानी चाहती है। अतः ये पात्र भी कुण्ठाग्रस्त है। 'शहर में घूमता आईना' में कुण्ठित चेतन नीला के प्रेम को लेकर मन ही मन खिन्नता प्रकट करता है। वहीं 'बड़ी–बड़ी आँखें' में चेतन वाणी को चाहने लगा है और उसकी चाहत पूरी होते न देख वह देवनगर छोड़ देता है तो पुनः कुण्ठा ही मिलती है।

अतः स्पष्ट है कि उपन्यासकार ने मानव के बाह्य संघर्ष का ही चित्रण नहीं किया है बल्कि उसके अन्तस में व्याप्त घात–प्रतिघातों, उतार–चढ़ा, कुण्ठा, घुटन, असफलता, प्रेम आदि अनेक सन्दर्भों का मनोवैज्ञानिक चिन्तन किया है जो साथ ही साथ उनका समाधान भले ही न कर पाया हो, लेकिन इन तथ्यों को स्पष्ट रूप से उजागर अवश्य कर दिया है। उपन्यासकार ने मनोविज्ञान का चित्रण कर आधुनिक युग के नए सन्दर्भ को छूआ है। अतः अश्क का उपन्यास संसार आधुनिक युगबोध सम्पन्न है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अश्क जी ने संस्कृति का गतिमान और युगसापेक्ष रूप हमारे सामने प्रस्तुत किया है। वास्तव में, यही उपन्यासकार अश्क की आधुनिकता बोध सम्पृक्त विवेक दृष्टि है।

oooooooooooooooooo

पाँचवाँ अध्याय
उपन्यासकार अश्क के उपन्यासों के राजनीतिक एवं आर्थिक सन्दर्भों में आधुनिकता बोध

(क) राजनीतिक का स्वरूप

(ख) राजनीति के विविध पक्ष

(ग) अर्थ का स्वरूप

(घ) आर्थिक जीवन से सम्बद्ध विविध पक्ष

पाँचवाँ अध्याय
उपन्यासकार अश्क के उपन्यासों के राजनीतिक एवं आर्थिक सन्दर्भों में आधुनिकता बोध

(क) राजनीति का स्वरूप

राजनीति का अस्तित्व प्राचीनकाल से चला आ रहा है। समय के साथ–साथ इसके स्वरूप में भी व्यापक परिवर्तन होते रहे हैं। ज्यों–ज्यों हमारी सभ्यता विकसित होने लगी, त्यों–त्यों मानव को राजनीति की भी आवश्यकता महसूस हुई। मानव के इतिहास में एक ऐसा भी समय था, जब मनुष्य पूर्णतया स्वतन्त्र था। उसको नियन्त्रित करने के लिए कोई भी शक्ति या सत्ता नहीं थी। उस समय का समाज वर्गहीन था और वह परस्पर सहयोग से जीवनयापन करता था। धीरे–धीरे उत्पादन के साधनों के अस्तित्व में आने से समाज में दो वर्ग हो गए। एक वह जिसका उत्पादन साधनों पर अधिकार था, दूसरा वह वर्ग जो उत्पादन करता था। यहाँ पर आकर दोनों वर्गों को आपस में सम्बन्धों की आवश्यकता महसूस हुई तथा राज्य की उत्पत्ति हुई। राज्य मनुष्य जीवन का सर्वाधिक विकसित रूप है। "सामाजिक जीवन को संगठित रूप में बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि समाज में एक प्रमुखता सम्पन्न ऐसी शक्ति हो, जो कि नियन्त्रणात्मक व कल्याणकारी दोनों ही प्रकार के कार्यों को कर सके। इसी शक्ति व कार्यों के सन्दर्भ में जो संस्थाएँ विकसित होती हैं, उन्हीं को राजनीतिक संस्थाएँ कहते हैं।"[1] विलियम लार्ड के अनुसार– "राज्य का मूल उद्देश्य चाहे युद्ध हो या शान्ति हो, शासक को अथवा उसके वर्ग को गौरवान्वित अथवा महिमान्वित करना नहीं, अपितु सामान्य जनता को सुखी करना है।"[2]

---

1. रविन्द्र मुकर्जी एवं भरत अग्रवाल, समाजशास्त्र के मूलाधार, पृ० 57
2. William hard Beveridge, Social Insurance, P. 242

समाज और राज्य का उद्देश्य है कि व्यक्ति में मानवीय गुणों की प्रतिष्ठा करना। व्यक्ति में पूर्ण मानवता की प्रतिष्ठा तभी हो सकती है, जबकि उसके जीवनयापन की सभी दिशाओं में परिवर्तन किया जाए और यह राज्य तथा उसकी रीति–नीति के माध्यम से ही सम्भव हो सकता है। अतः राज्य और उसकी विभिन्न अवस्थाओं का समाज और व्यक्ति दोनों पर ही प्रभाव पड़ता है। राजनीति की राज्य या समाज के विकास में अहम् भूमिका होती है। इसके विपरीत यदि किसी राज्य की न कोई नीति, न कोई विधान हो तो उस राज्य में अव्यवस्था फैल जाएगी। राजनीतिक स्थिति दो प्रकार से हो सकती है – परतन्त्र और स्वतन्त्र। राजनीतिक दृष्टि से पराधीन मनुष्य अपना सिर गौरव से ऊँचा नहीं कर सकता है क्योंकि वह स्वयं अपना, अपनी जाति, अपने समाज तथा देश का उत्थान करने में असमर्थ होता है। परतन्त्र व्यक्ति राजनीतिक रूप से परतन्त्र ही नहीं होता है, वरन् वह मानसिक और शारीरिक रूप से भी परतन्त्रता महसूस करता है। किसी दूसरे के अधीन व्यक्ति अपने विचारों की अभिव्यक्ति भी स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं कर सकता है क्योंकि परतन्त्रता ने उस पर बन्धन लगा रखे होते हैं। राजनीतिक रूप से परतन्त्र होने पर कोई भी देश वैभव, सम्पन्नता एवं उन्नति हासिल नहीं कर सकता है। पराधीनता से छुटकारा पाने के लिए सम्पूर्ण राष्ट्र एकजुट होकर विदेशी शक्ति का सामना करता है, जिसके लिए देश के वीर सपूत बलि देते हैं तथा नेता विभिन्न प्रकार के आन्दोलन चलाते हैं। विदेशी शक्ति उस आन्दोलन को दबाने के लिए क्रूरतम दण्ड देती है, परन्तु नेता कठोर दण्ड सहन करते हुए भी स्वराज्य की माँग पर अटल रहते हैं और तब तक इस कार्य में लगे रहते हैं, जब तक वह माँग पूरी नहीं हो जाती। इसी राजनीतिक व्यवस्था को जब देशवासी अपने देश, समाज या राज्य के हित–अहित के आलोक में देखने लगते हैं तो उसे राजनीतिक चेतना कहते हैं।

राजनीति का अस्तित्व सदैव एक समान नहीं रहता। इस असमानता का कारण शासन पद्धति में परिवर्तन है। राजनीति केवल राष्ट्र की राजनीति निर्माण तक

सीमित नहीं है, बल्कि उस राजनीतिक व्यवस्था करने वालों के पास न्यायपूर्ण प्रतिबन्धों, दण्ड देने की अधिकारपूर्ण शक्ति व उसे लागू करने की शक्ति और बाध्य करने की शक्ति इत्यादि भी निहित होती है। इस प्रकार राजनीति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक एवं विशाल है। इसमें शासनतन्त्र द्वारा निर्धारित अधिकारियों का आचार–व्यवहार, अधिकारियों द्वारा निर्धारित की गई नीतियों का पालन, तत्कालीन शासनतन्त्र के प्रति समाज की धारणा, समाज का इससे सन्तुष्ट होना अथवा वर्तमान व्यवस्था के बदलने पर उद्यत होना, राजनीतिक नेताओं का आचरण, उनके क्रियाकलाप, पुलिस व्यवस्था, वर्तमान शासनतन्त्र की नीतियाँ लोगों के विकास में कितनी उत्तरदायी हैं तथा जनसामान्य में राजनीतिक चेतना का प्रसाद है अथवा नहीं इत्यादि बातों के इर्द–गिर्द राजनीतिक चेतना का स्वरूप घूमता दिखाई देता है।

भारतीय समाज प्राचीनकाल से संघर्षशील रहा है, जिसके फलस्वरूप हमारे समाज में अनेक परिवर्तन हुए हैं। जब किसी समाज में परिवर्तन होता है, तो राजनीति भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाती है। भारत में राजनीतिक चेतना का इतिहास तो काफी पुराना है, परन्तु मूल रूप से भारतीय राजनीतिक चेतना अंग्रेजी प्रशासन की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुई मानते हैं। यह चेतना सर्वप्रथम 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम में अंग्रेजों के विरोध के स्वर में दिखाई देती है। पराधीन भारत में राजनीतिक जागरण का लक्ष्य एकमात्र भारत को राजनीतिक रूप से स्वतन्त्रता दिलाकर पराधीनता की जंजीरों को काटना था, परन्तु यह भावना जन सामान्य में निहित न होकर वर्ग–विशेष की थी, जिसके कारण यह सफल नहीं हो सकी।

आज आधुनिक भारत में राजनीति अपना विशेष स्थान बना चुकी है। राजनीति के मूल स्तम्भों – नेताओं तक ही सीमित नहीं है वरन् सम्पूर्ण भारतीय समाज राजनीति से प्रभावित है। राजनीति शहर की गलियों से निकलकर भारतीय ग्रामीण अंचल में अपना स्थान बना चुकी है। आज भारतीय जीवन, जो ग्रामीण अंचल

में रहता है, राजनीति से प्रभावित है। जीवन का कोई भी पहलू राजनीतिक प्रभाव से अछूता नहीं है। इस बात का प्रमाण साहित्य है, जिसमें यह तथ्य पूर्ण रूप से उभर कर सामने आया है। राजनीति और साहित्य एक–दूसरे को प्रभावित कर रहे हैं।

राजनीति साहित्यकार को प्रभावित करती है। इसलिए साहित्यकार भी राजनीति से अछूता नहीं रह पाता है। यही कारण है कि साहित्यकार और राजनीति का गहरा सम्बन्ध है। साहित्यकार अपने साहित्य में राजनीति को साथ लेकर चलता है। इसके विपरीत यदि वह राजनीति का साहित्य से त्याग करता चला जाए तो साहित्य के हाथ से एक कारगर मन्त्र छूट जाता है। साहित्यकार का कर्त्तव्य है कि वह समाज में फैली अनेक विकृतियों, सामाजिक बुराइयों एवं विसंगतियों का खुलकर पर्दाफाश करें। यही नहीं कि राजनीति से प्रेरित होकर वह सर्वथा इनका त्याग कर दे। डॉ॰ बैजनाथ प्रसाद शुक्ल के अनुसार– "युग के प्रति जागरूक सामाजिक, राजनीतिक परिवेश का सतरंगी चितेरा मानव–मन का कुशल पारखी रचनाकार भला राजनीतिक प्रभाव से अपने आपको मुक्त रख सकता है।"[3] इस प्रकार साहित्यकार अपने साहित्य में राजनीतिज्ञों का अनुसरण करता है। साहित्य में साहित्यकार युग की माँगों के अनुरूप समसामयिक राजनीति के प्रभाव को ग्रहण करके साहित्य में उतारता है। अतः राजनीतिक परिस्थितियाँ प्रत्येक युग को प्रभावित करती हैं और अश्क जी भी राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके जिसका प्रभाव उनमें कदम–कदम पर दिखाई देता है। वर्तमान युग में राजनीति अर्थात् राजा की नीति मात्र शासकों के लिए नहीं, अपितु सामान्य जन के लिए भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो गई है। यह जानकर कि राजनीति का प्रत्येक छोटे से छोटा निर्णय भी देश के शीर्षतम व्यक्ति से निम्न व्यक्ति तक सभी को प्रभावित कर रहा है। इसमें सभी व्यक्तियों की रुचि बढ़ी

---

3. डॉ॰ बैजनाथ शुक्ल, भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों में युगचेतना, पृ॰ 128

है। आज 'कोउ नृप होउ हमहिं का हानि' की सोच पीछे रह गई है और समस्त नर–नारी बाल, वृद्ध राजनीति के विविध पहलुओं पर चर्चा–परिचर्चा कर रहे हैं। इस जागृति ने हमें राष्ट्र से सीधा जोड़कर कहीं अधिक सजग व जिम्मेदार बनाया है। साथ ही राजनीति आधुनिक युग में हमारे जीवन–जगत् का केन्द्रीय तत्त्व बनकर उभरा है। इस प्रकार का यह परिवर्तन आधुनिक बोध के अनुरूप ही है, जिसका विहंगावलोकन हम राजनीति व तत्सम्बन्धी बिन्दुओं के माध्यम से यों कर सकते हैं।

(ख) राजनीति के विविध पक्ष

1. प्रजातन्त्र

राज्य की अनेक सारी व्यवस्थाओं के मध्य प्रजातन्त्र स्वयं ही आधुनिक युग–बोध है। यहाँ राजतन्त्र जैसी भावना या तानाशाही नहीं मिलती अपितु प्रत्येक साधारण जन के मत को भी समान महत्त्व मिलता है। राजतन्त्र में राजा का शासन होता था। वह ही पूरे राज्य में ईश्वर सदृश समझा जाता था। उसके मुख से निकला वाक्य तथा उसकी इच्छा ही कानून का रूप धारण कर लेती थी। राजा का पुत्र ही अगला राजा नियुक्त किया जाता था। इसके अतिरिक्त राजपरिवार और उनसे सम्बन्धित लोगों की विशेष सेवा की जाती थी तथा उनके ऊपर किसी प्रकार का कानून लागू नहीं होता था। परन्तु प्रजातन्त्र में सभी लोग समान हैं, सभी को कानून समान दृष्टि से देखता है तथा समान रूप से ही उनकी उन्नति एवं प्रगति के रास्ते खुले हुए हैं। न कोई हिन्दू है न मुसलमान, न ऊँचा है, न नीचा, सभी के लिए काम और सभी को समानाधिकार प्राप्त है। उपन्यास 'गर्मराख' में दूरो और हरीश प्रजातन्त्र के विषय में सोच रहे हैं– "किसान मजदूरों का राज है। बेकारी और भूख का नाम हिन्दुस्तान से उठ गया है। जाति–पाँति का भेदभाव मिट गया है। कोई हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई नहीं, सब हिन्दुस्तानी हैं। पिछड़ी हुई जातियाँ आगे बढ़ आयी हैं और समानाधिकार के साथ देश को समृद्ध बनाने में संलग्न हैं। स्त्रियाँ पूर्ण

रूप से स्वतन्त्र हैं और जीवन के हर क्षेत्र में पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर काम कर रही हैं।"[4]

'बड़ी–बड़ी आँखें' उपन्यास में देवा ने भी देवनगर की स्थापना की है, जिसमें प्रजातन्त्र का भाव निहित है। उन्होंने देवनगर की स्थापना इसी उद्देश्य से की है कि जो भारतीय अनेक वर्षों की गुलामी सहन कर रहे हैं, उनमें लोकतन्त्र की भावना का विकास किया जा सके तथा पूर्ण आजादी से जीवन जीने का मौका दिया जाए। देवा ने 'देवयानी' पत्रिका का सम्पादन किया है, जिसके लिए पाठकों के लेख आते हैं। उस लेख में लिखा है– "यदि हमारी बुद्धि और बल को ठीक–ठीक विकास करने के साधन मिलें तो हम समझदार, रोशन दिमाग और उदार हृदय हों। फिर तंग मकानों के पास गन्दी गलियाँ न बहें, बागों की छाया में सुन्दर भवन हों, गरीबों में घिरा कोई अकेला मालदार, सोने की ईंटों को छिपाए, चोरों से छिपता न फिरे, बल्कि सभी पेट भर खायें और विकास के सपने देखें। दिन चढ़े किरणों के सुस्पर्श से लोग जागें; खुले माथे, मुस्कराती आँखों और फैली बाँहों से एक–दूसरे का स्वागत करें, प्रभात में जगी चिड़ियों की तरह एक–दूसरे को बुलाएँ; हँसें–खेलें और अपने–अपने स्वभाव के अनुसार जीवन के उद्देश्य ढूँढें।"[5]

देवा जी ने 'देवनगर' को पूर्ण प्रजातन्त्र पर खड़ा किया है। उनके उद्देश्य भी महान हैं। इसी सन्दर्भ में संगीत जी सोच रहे हैं– "खुली–खुली फ़िज़ा, खुले–खुले, एक दूसरे की सहायता, एक–दूसरे के प्रोत्साहन को लालायित वासी; औरतों को किचन की गुलामी से उन्होंने निजात दिला दी थी। वे अपने समय को उपादेय कामों में लगा सकती थी। आजादी से हँस बोल सकती थी। बच्चों के लिए प्रैक्टिकल स्कूल खोले गए थे, जहाँ वे अपनी रुचि अनुसार शिक्षा पाएँ। जहाँ से शिक्षा पाकर वे निकलें तो इस विभाग या उस विभाग, इस व्यवसाय या उस व्यवसाय

---

4. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ० 265

5. वही, बड़ी-बड़ी आँखें, पृ० 32

में ठोकरें खाने के बदले, किसी तरह की दुविधा या उलझन के बिना अपने मनचाहे विभाग या व्यवसाय में जगह पायें और देश के जीवन को बिगाड़ने के बदले उसे सजाएँ, सँवारें और समृद्ध बनाएँ।"[6]

प्रजातन्त्र में विश्वास रखने वाला व्यक्ति खुले दिमाग का होता है, वह किसी भी प्रकार से दबाव का जीवन नहीं जीता है। वह किसी की गुलामी भी स्वीकार नहीं करता, चाहे शासक उसे प्रलोभन में फँसाने के लिए कितने ही चक्कर क्यों न चलाए। आजादी से पूर्व अंग्रेजों ने भारतीयों को अपने चंगुल में फँसा रखा था और अपने विश्वासपात्रों को ही सरकार में ऊँचे पद दिए जाते थे। सामान्य व्यक्ति जो प्रजातन्त्र के विचारों का है, वह चाहे लाख प्रयास करे, वह उस पद को प्राप्त नहीं कर सकता था। उपन्यास 'नन्हीं सी लौ' में चेतन स्वतन्त्र विचारों का व्यक्ति है, उसे अंग्रेजों की गुलामी किसी भी रूप में स्वीकार नहीं थी। वह कहता है– "एक अमीचन्द था, जो पी॰ सी॰ एस॰ बना था, पर चेतन की दृष्टि में डिप्टी कलेक्टर एक ऊँचे दर्जे का गुलाम था, जो अपने भाई–बन्धुओं को गुलाम रखने में फिरंगी की मदद करता था और डिप्टी कलेक्टर बनते ही उसने जैसे आँखों के सामने रखकर चलना और मुहल्ले वालों को पहचानने से इन्कार करना शुरु कर दिया था, उससे चेतन के मन में उसके प्रति तीव्र घृणा पैदा हो गयी थी। चेतन चाहता था, उसके कोई बच्चा हो तो शैशव ही से उसे कोई अभाव न हो। वह अपने बच्चे को शुरु ही से कोई तकलीफ न होने दें और बाद में भी उसे ऐसी शिक्षा–दीक्षा दे कि वह कोई मामूली क्लर्क था या शोषक होने के बदले स्वतन्त्र विचारों का बने और बिना गुलामी किए हर परिस्थिति में जिन्दगी से अपना दाय प्राप्त कर सके।"[7]

प्रजातन्त्र प्रणाली में विश्वास रखने वाला व्यक्ति स्वतन्त्र वृत्ति का होता

---

6. उपेन्द्रनाथ 'अश्क' बड़ी-बड़ी आँखें, पृ॰ 45
7. वही, नन्हीं सी लौ, पृ॰ 57

है। वह किसी भी सूरत में अपने को गुलाम नहीं बनने देगा। इसके विपरीत यदि कोई उसे गुलाम बनाने की या दबाने की चेष्टा करता है तो वह उसका लोकतन्त्रात्मक तरीके से विरोध भी करता है। वह जनता का समर्थन प्राप्त करके ही शोषक का विरोध करता है। उपन्यास 'गर्मराख' में हरीश प्रजातन्त्र में विश्वास रखता है और वह अंग्रेज़ों का विरोध करता है क्योंकि अंग्रेज भारतीयों की स्वतन्त्रता को लूट रहे हैं– "कभी–कभी मन में साध उठती है कि मुझे अपार बल, जनता को समझाने और समझकर ठीक पथ पर चलाने की प्रखर बुद्धि मिल जाए तो मैं ऐसी क्रान्ति ला दूँ कि गुलामी की बेड़ियाँ पलक झपकते ही कट कर गिर जाएँ और आज जहाँ चन्द लोगों के स्वार्थ का राज्य है, वहाँ जनता का, जनता के हित का राज्य हो और जहाँ गुलामी और स्वार्थ ने हमारे दुर्गुणों को उभार रखा है, वहाँ स्वतन्त्रता हमारे सद्गुणों को उजागर कर दे। सबको जीवन में उन्नति करने के समान साधन मिलें। . . . मन चाहता है लगातार काम करता रहूँ, जनता को जगाने, अपनी शक्ति का आभास पाने और देश को स्वतन्त्र करके स्वयं उन्नत होने की प्रेरणा दूँ। इस काम में दिन रात एक कर दूँ।"[8]

अन्ततः कहा जा सकता है कि आधुनिक युग में राजतन्त्र की अपेक्षा प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली में विश्वास किया जाता है क्योंकि राजतन्त्र में साधारण व्यक्ति को ऊपर उठने के, न्याय पाने के, समानता के तथा अपने विकास करने के वे अधिकार नहीं थे, जो कि राजपरिवार से सम्बन्धित लोगों को सहज रूप में प्राप्त थे। आज इस नवीन दृष्टि ने न केवल उच्च–वर्ग के अधिकारों पर आघात पहुँचाया है बल्कि साधारण जन को भी अपनी उन्नति, अपना विकास तथा न्याय और समानता के अधिकार दिए हैं। आज वह खुले रूप में बिना किसी दबाव के शिक्षा प्राप्त कर सकता, अपने योग्य नौकरी ढूँढ सकता है। यदि उसका शोषण हो रहा है

---

8. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ० 257-258

तो वह उसके खिलाफ आवाज उठा सकता है। इन सबके अतिरिक्त राजतन्त्र और लोकतन्त्र में महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि राजा का निर्णय पहले राजपरिवार करता था, अब वही निर्णय जतना अपने वोट के द्वारा करती है। अब साधारण व्यक्ति भी राजसत्ता को हासिल कर सकता है, ऐसा हमारे प्रजातन्त्रात्मक कानून में विधान है। अश्क जी ने इन सब विषयों को अपने उपन्यासों में ही स्थान नहीं दिया है बल्कि उन्हें अपने निजी जीवन में भी लागू किया है। इनके पात्र न जाति बन्धन को स्वीकारते हैं और न ही किसी सामाजिक दबाव को मानते हैं बल्कि लोकतन्त्रात्मक तरीके से शादी करते हैं, वहीं लोकतन्त्र की भाषा को अपने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में लागू करते हैं। जब किसी शासन या सत्ता का विरोध करते हैं तो उनके कार्यक्रम भी प्रजातन्त्रात्मक ही होते हैं, चाहे कोई अंग्रेजी सरकार हो या अन्य सामाजिक शोषक। अतः स्पष्ट है कि अश्क जी ने अपने उपन्यासों में प्रजातन्त्रात्मक पद्धति का पूर्ण रूप से निर्वाह कर, आधुनिक मानव को नवीन जीवन दृष्टि प्रदान की है।

2. शासक

राज्य और राजनीति का कर्णधार शासक होता है। इस शासक को राजा भी कहते हैं, जिस पर राज्य की व्यवस्था का दायित्व रहता है। प्राचीनकाल से राजतन्त्र कायम है, जिसमें शासक किसी परिवार विशेष का व्यक्ति होता था या अपने अन्दर विशेष शक्ति रखने वाला व्यक्ति ही शासक बन सकता था अर्थात् जो आदमी साम, दाम, दण्ड, भेद की नीतियों को लागू करने में निपुण होता था, जिसकी बाजुओं में युद्ध करने की सामर्थ्य थी, जो प्रतिद्वन्द्वी राजा को परास्त कर सकता था, वही शासक कहलाता था।

शासक का दायित्व है कि वह अपनी प्रजा को अपनी सन्तान की तरह समझे और उसके सुख–दुःख में पूर्ण–रूप से भागीदार हो। इसीलिए भारतीयों की प्राचीनकाल से राजा में आस्था थी। वे राजा को अपने पिता की भाँति मानते थे। उनका विश्वास था कि राजा दैवीय अवतार होता है और वह सदैव प्रजा को अपनी

सन्तानवत् समझकर भलाई के निहित ही कार्य करता है। इसीलिए राजा और राजपरिवार के प्रति ये सदैव भक्ति का भाव रखते थे।

आधुनिक युग में राजा के स्वरूप में व्यापक परिवर्तन हुआ है। आज शासक का सम्बन्ध न तो राज परिवार से है और न ही वह अपनी प्रजा से इतना स्नेह रखता है अपितु अपने स्वार्थों के वशीभूत होकर लोग राजनीति जैसा कर्म करते हैं। उपन्यास 'गर्मराख' में स्वार्थी नेताओं पर व्यंग्य किया गया है जो स्वतन्त्रता के आन्दोलन में इसलिए लगे हुए हैं ताकि भारत के आजाद होने पर उन्हें सरकार में कोई बड़ा पद मिल सके। इन्हीं स्वार्थी लोगों के सन्दर्भ में हरीश कहता है– "इस समय हमारा आन्दोलन इस बात को लेकर है कि विदेशी शासन से देश को मुक्त किया जाए, इसके बाद क्या होगा, इसकी कल्पना अलग–अलग है। राजा–महाराजा सोचते हैं कि वे अपनी–अपनी रियासतों के स्वतन्त्र अधिपति होंगे। . . . रहे नेता तो जहाँ कांग्रेस की मिनिस्ट्रियाँ बनी हैं, वहाँ चाहे इस समय वे मिनिस्ट्री में पाँच–पाँच सौ रुपये महीना ही ले रहे हैं, पर सचमुच स्वतन्त्रता मिलने पर भी वे अपनी तपस्या कायम रखेंगे, इसमें मुझे सन्देह है। महात्मा गांधी और उनके चन्द अनुयायियों को छोड़कर, शेष सबके सब अवसरवादी हैं। इनकी दृष्टि आजादी के बाद बनने वाली कांग्रेस की सरकारों पर है। यही कारण है कि हिन्दू मुसलमान में झगड़ा है। जनता के हित उनके सामने हों तो झगड़े की गुंजाइश ही न हो। जनता तो इस चित्र में कहीं आती ही नहीं। जैसे अंग्रेज अपने साम्राज्य की लड़ाइयों में हिन्दुस्तानी सिपाहियों को झोंकते हैं, इसी प्रकार ये सब नेता भारतीय जनता को अपने हितों की सिद्धि के लिए इन आन्दोलनों में झोंक रहे हैं।

शासक सदैव अपनी प्रजा की उन्नति हेतु कार्य करता है। उसका दायित्व बनता है कि वह उसके सुख में सुखी हो और दुःख में दुखी हो। वह अपने निजी स्वार्थों से ऊपर उठ कर प्रजा की भलाई हेतु कार्य करें। वह अपनी प्रजा को अपने पुत्र अथवा परिवार से भी ज्यादा महत्त्व दे, वही सही अर्थों में शासक कहलाने का

अधिकारी है परन्तु आज वह अपने पद से गिर गया है। वह प्रजा की अपेक्षा अपने लाभ–हानि को ज्यादा महत्त्व देता है। झूठ, प्रपंच, धोखा – उसके मुख्य गुण बन गए हैं। वह अपना दोहरा व्यक्तित्व बनाए रखता है। प्रजा के सामने उसका रूप अलग होता है, लेकिन प्रजा के बाद वह कुटिल चालें चलता रहता है। उपन्यास 'बड़ी–बड़ी आँखों' में देवा ने देवनगर को आदर्श राज्य के रूप में स्थापित किया है, परन्तु सही अर्थों में इसके माध्यम से वह अपने स्वार्थों की पूर्ति करना चाहता है। वह देवनगर से ज्यादा से ज्यादा रुपया कमाना चाहता है। जब देवनगर में 'दैवी विपत्ति' हुई तो गाँव के किसान अपने 'देवनगर' के बादशाह से मदद माँगने आये हुए हैं। इस पर देवा शासक का चरित्र स्पष्ट होता है– "बादशाह ने उनकी दशा पर मीठे शब्दों में अपनी ओर ही से नहीं सारे देवनगर की ओर से सहानुभूति प्रकट की, लेकिन साथ ही तत्काल कुछ सहायता देने में असमर्थता जतायी। उन्होंने कहा 'पाँच को स्कूल का उद्‌घाटन हो रहा है, उधर से निबट जाएं तो आपके लिए कुछ सहायता की व्यवस्था करेंगे। . . . उन किसानों की दुरावस्था से द्रवित मेरा मन जाने क्यों एकदम उस देवनगर से भाग जाने को होता था। देवा जी बड़े ऊँचे आदर्शवादी, बड़े मृदुभाषी और बड़े सज्जन लगते थे, पर जब उनके मिठास–भरे शब्दों के पीछे मैं कृत्य के नाम पर एक बड़ा–सा शून्य पाता तो मन सहसा वितृष्णा से भर उठता और लगता कि यह सब ढोंग है।"[9]

शासक को सदैव अपनी प्रजा के लिए जीवन को न्योछावर करने के लिए तैयार रहना चाहिए। वह अपनी प्रजा के दुःखों को अपनी आत्मा से ही महसूस करके, उसे दूर करने की चेष्टा करे। इसके अतिरिक्त प्रजा अपनी आवाज को शासक तक पहुँचाने के लिए जन–आन्दोलन का सहारा लेती है ताकि वह उनकी समस्याओं से अवगत होकर, उन्हें दूर कर सके, यह नहीं कि वह उसे अनसुना करके, जनता पर

---

9. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', बड़ी-बड़ी आँखें, पृ० 116

अत्याचार करें। उपन्यास 'शहर में घूमता आईना' में 'बक' अंग्रेजी शासक है। जब प्रजा उसे अपने दुखों से अवगत कराने के लिए आन्दोलन या जुलूस का सहारा लेती है तो वह उनकी आवाज को नहीं सुनता अपितु उन पर अत्याचार करता है। 'बक' नाम का एक बड़ा ही क्रूर अंग्रेज जिलाधीश था। उसने सिविल लाइन्स में कचहरी के आगे से जुलूस ले जाने पर रोक लगा दी थी। लेकिन जुलूस उधर ही से गुजरा। अपार जनसमूह। इतने बड़े जुलूस के लिए अधिकारी तैयार न थे। महात्मा जी की कार तो निकल गयी, पर बाकियों पर बक ने डण्डे बरसवा दिये। . . . वे लाठियों से घायल हो गये, लेकिन जलसे से नहीं हटे। बक ने बड़ी बेदर्दी से आन्दोलन को दबाने का प्रयास किया, लेकिन उसकी हिंसा आन्दोलन की आग के लिए घी साबित हुई।"[10]

अब भारतीय जनता शासक को लोकतन्त्रात्मक पद्धति के अनुसार अपना रही है। अंग्रेजी शासकों में विश्वास करना छोड़, प्रजातन्त्र की भावना से भरे हुए व्यक्ति को ही शासक की नजर से देख रही है। महात्मा गांधी द्वारा चलाये जा रहे विभिन्न आन्दोलन लोकतन्त्र पर आधारित है, जिससे जनता अब महात्मा गांधी की नीतियों में अधिक विश्वास करने लगी है। उपर्युक्त इस अवधारणा से स्पष्ट है कि अश्क जी भी लोकतन्त्र के पुजारी रहे हैं, क्योंकि उन्होंने गाँधी जी के साथ लोगों की भावना जोड़कर स्पष्ट किया है कि लोग अब अंग्रेजों व राजतन्त्र में विश्वास नहीं करते हैं। उपन्यास 'शहर में घूमता आईना' में सभी लोग गान्धी की नीतियों के प्रति आस्थावान दिखाई देते हैं– "वास्तव में चेतन ने जब तक दुनिया ज्यादा देखी नहीं थी। देखी होती तो उसे आश्चर्य न होता। क्योंकि उन दिनों हर प्रान्त में कुछ लोग ऐसे थे, जो महात्मा गान्धी का अनुकरण करते थे। दिमाग तो वे लोग महात्मा गान्धी का कहाँ से लाते, उनके पास न महात्मा गान्धी की करुणा थी, न सहानुभूति, न

---

10. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', शहर में घूमता आईना, पृ० 339

जनमानस की परख, न देश और समाज की समझ। उनका सारा जोर सिर मुंडाने, अधनंगे रहने, मौन व्रत रखने, प्राकृतिक चिकित्सा करने, उबले सिंघाड़े या आलू या दही खाने, तकली चलाने अथवा अगले टूटे दाँत दिखाने आदि में लगता था।"[11]

अतः स्पष्ट है कि भारत में राजतन्त्र का प्रभाव ज्यादा रहा है। प्रारम्भ में लोग अपने राजा को पिता की भाँति मानते थे, परन्तु जब आधुनिक युग में प्रजातन्त्र की भावना का विकास हुआ तो लोगों ने राजतन्त्र में अविश्वास करना शुरु कर दिया। महात्मा गान्धी द्वारा चलाये गए विभिन्न आन्दोलन लोकतन्त्र प्रणाली के पक्ष और राजतन्त्र के विपक्ष में भावना अभिव्यक्त करते हैं। अतः शासक भी लोकतन्त्र में विश्वास करता है। यह पद्धति सामान्य रूप से आधुनिक युग की देन है, जिसने लोगों को जीवनयापन के लिए नवीन दृष्टि प्रदान की है।

3. शासन पद्धति

राजा अपने राज्य में जो व्यवस्था करता है, उसे शासन पद्धति कहते हैं। कोई भी शासक अपने शासन को चलाने हेतु विभिन्न नीतियों का सहारा लेता है, जिनके ऊपर चलकर ही वह राज्य को अपने अनुसार चला सकता है। भारत में लगभग तीन सौ वर्षों तक अंग्रेजों ने राज्य किया है, उन्होंने अपने शासन को चुस्त–दुरुस्त बनाने हेतु, अपनी व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने हेतु अनेक प्रकार की कूटनीतिक चालें चलीं, जिससे उनकी शासन–पद्धति में कुछ अच्छी तथा कुछ बुरी बातें भी दिखाई जान पड़ीं। सामान्य रूप से उनकी नीति भारतीयों का शोषण करने, कठोरता से शासन करने, भारतीयों में फूट डालने, आर्थिक लाभ प्राप्त करने में ही निहित थी। उनकी इन नीतियों से भारतीय जनता अवगत हो चुकी थी और वे ऐसे शासन को जड़ से उखाड़ फेंकने को तथा प्रजातन्त्र की प्रणाली को लागू करने को तत्पर थे। जिसके लिए भारतीयों ने अनेक आन्दोलन

---

11. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', शहर में घूमता आईना, पृ० 236

किए। जिसका प्रभाव यह निकला कि अंग्रेजों का निरंकुश शासन कठोरता से हमारे आन्दोलनों को दबाने लगा। उपन्यासकार अश्क ने भी भारतीयों की इस जागरूकता को आत्मसात् करके अपने उपन्यासों के माध्यम से व्यक्त किया है तथा जनसामान्य को नवबोध से अवगत कराने का प्रयास किया है।

अब भारतीय लोगों का विश्वास अंग्रेजी साम्राज्य से उठ चुका था क्योंकि अब वे उनके अधीन रहने के ज्यादा इच्छुक नहीं थे। इस राज्य में भ्रष्टाचार, निरंकुशता, दुर्व्यवहार, शोषण तथा भेदभाव की दीवारें ज्यादा ऊँची उठ गई थीं, जिन्हें भारतीय जनता प्रतिपल गिराने की राह जोह रही थी। इसलिए भारतीय आए दिन आन्दोलनों में व्यस्त रहते थे तथा उन बुराइयों को यथा – प्रपंच, नीचता, चापलूसी, रिश्वत, झूठ, छल आदि को दूर करने एवं भारतीयों में अच्छी प्रवृत्तियों के विकास के लिए क्रान्ति का आह्वान करते थे। उपन्यास 'गर्मराख' में हरीश अंग्रेजों के शासन से आक्रान्त है क्योंकि इसी शासन की बदौलत भारतीयों में अनेक दुर्गुण आ गए हैं, पिछड़ापन स्पष्ट झलकने लगा है तथा व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध हो गया है। "मैं जब कभी अकेला होता हूँ और सोचता हूँ कि हम कितने पिछड़ हुए हैं, तीन सौ बरस की गुलामी ने हमें क्या बना दिया है, तो मुझे बड़ी तकलीफ होती है। सत्य, शिव और सुन्दर का हमारा आदर्श कहाँ गया ? झूठ, छल, प्रपंच, नीचता, बदनीयती, रयाकारी, चापलूसी और रिश्वत मानव की कोई भी ऐसी कुप्रवृत्ति और दुर्गुण नहीं, जो हमारे जीवन का आवश्यक अंग न बन गया हो। कभी–कभी मन में अपार साध उठती है कि मुझे अपार बल, जनता को समझने और समझकर ठीक पथ पर चलने की प्रखर बुद्धि मिल जाए तो मैं ऐसी क्रान्ति ला दूँ कि गुलामी की बेड़ियाँ पलक झपकते कट कर गिर जाएं और जहाँ चन्द लोगों का स्वार्थ का राज्य है, वहाँ जनता का, जनता के हित का राज्य हो और जहाँ गुलामी और स्वार्थ ने हमारे दुर्गुणों को उभार रखा है, वहाँ स्वतन्त्रता हमारे सद्‌गुणों को उजागर कर दे। सब को जीवन में उन्नति करने के समान साधन मिलें और हम भारतवासी, जो आज सिकुड़कर बौने

हो गए हैं, भव्य आकार पाएं। . . . मन चाहता है कि लगातार काम करता रहूँ; जनता को जगाने, अपनी शक्ति का आभास पाने और देश को स्वतन्त्र करके स्वयं उन्नत होने की प्रेरणा दूँ।"[12]

अंग्रेजों ने अपने शासन को चलाने के लिए भारतीयों से ही भारतीयों पर शासन करवाया। उन्होंने कुछ इने–गिने लोगों को अपने पक्ष में करके, उनमें भेदभाव पैदा करके उनके लालच को उभार दिया। अब वे लोग अंग्रेजों के पिछलग्गू बने हुए हैं और उनकी चाकरी करत हैं, इसीलिए अंग्रेजों के खिलाफ उठने वाले आन्दोलनों में भारतीयों का पक्ष देने की बजाय अंग्रेज नीति का ही समर्थन करते हैं। इसी प्रकार राजनीति में भी कुछ लोग अंग्रेजों के पक्ष की वकालत करते हैं। उपन्यास 'गर्म राख' में हरीश दुरो को इन्हीं कांग्रेस के पिच्छलग्गुओं के बारे में बता रहा है, जिनकी वजह से भारतीयों का कोई भी आन्दोलन सफल नहीं हो पा रहा है। "जब जब महात्मा गान्धी ने आजादी की लड़ाई का बिगुल बजाया है, लोगों ने अपना तन–मन–धन निछावर कर दिया है। फिर यह दशा क्यों है ? क्यों हमारे यहाँ क्रान्ति नहीं होती? क्यों अब भी विदेशी सरकार हमारी छाती पर मूंग दल रही है, अपने अत्याचार के दाँत हमारे जिस्मों पर तेल कर रही है। जब मैं सोचता हूँ तो पाता हूँ कि कांग्रेस क्रान्ति नहीं चाहती। क्रान्ति में हिंसा निहित है। हिंसा से कांग्रेस डरती है। क्योंकि क्रान्ति होगी तो अंग्रेज ही न जायेंगे, अंग्रेजों को प्रश्रय देने वाले और साथ ही धन से कांग्रेस की सहायता करने वाले सेठ–साहूकार भी जाएंगे और जनता का राज होगा। यह जनता का राज वास्तव में कोई नहीं चाहता। जतना को स्वयं उसका ज्ञान नहीं और जो लोग किसान–मजदूर का ढिंढोरा पीटते हैं, वे केवल उस ढिंढोरे का लाभ उठाना चाहते हैं।"[13]

---

12. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ० 258

13. वही, पृ० 259

अपनो ही द्वारा हो रहे विश्वासघात के बाद भी लोगों का उत्साह कम नहीं था। वे ऐसी शासन व्यवस्था को जड़ से उखाड़ फेंकने को आमादा थे, जो भारतीयों को प्रत्येक स्तर पर दबा रही थी। उनकी शासन व्यवस्था का मूल आधार विदेशी वस्तुएँ थीं, जिनका व्यापार करना ही अंग्रेजों का उद्देश्य था। भारतीयों ने उनकी मूल जड़ को पकड़ा और उनके व्यापार को कमजोर करने के उद्देश्य से 'स्वदेशी' आन्दोलन चलाया जिसमें विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया और विदेशी कपड़ों की होलियाँ जलाई गईं। उपन्यास 'शहर में घूमता आईना' में चेतन एवं उनके साथी विदेशी कपड़ों को जला रहे थे और पुलिस का ताण्डव उनके सिर पर नाच रहा था। "चेतन ने अपने पीछे बावर्दी पुलिस को कन्धो पर लाठियाँ सजाये मार्च करते देखा। वह नानकशाही ईंटों के टूटे किनारे पर चढ़ गया, जो शायद किसी जमाने में गेअ का स्तम्भ रहा होगा। तब दर्शकों के मध्य उस रास्ते में, जो मंच को जाता थ। चेतन ने काले भुजंग पहलवान सिफत मुसलमान पुलिस इन्स्पेक्टर को हाथ में बेंत लिए और उसके पीछे लाठी बन्द पुलिस की गारद को सीढ़ियाँ उतरते देखा। उसके देखते–देखते पुलिस इन्स्पेक्टर मंच पर चढ़ गया। जाने उसने लोगों को क्या कहा कि एकदम लोग उठ खड़े हुए। कुछ आगे बढ़े, कुछ पीछे हटे और चेतन ने देखा कि लाठियाँ चलने लगीं और भगदड़ मच गयी।"[14]

अंग्रेजी शासन में दोषी के दोष का निर्धारण स्वयं अंग्रेज अधिकारी ही करते थे। उनके किए गए फैसले के विरुद्ध न कोई दलील थी और न ही अपील। उन्होंने जो भी निर्णय लिया, वही कानून बन गया। दोषी व्यक्ति को अपने पक्ष में बोलने का भी मौका नहीं दिया जाता था। उपन्यास 'बाँधो न नाव इस ठाँव' में टिक्का साहब भी अंग्रेज अधिकारी है। चेतन ने सिपाही को मार दिया था, उसी के अपराध में उसे जज साहब के सामने उपस्थित किया गया है। उसे ले जाते हुए

---

14. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', शहर में घूमता आईना, पृ० 119

पुलिस कर्मचारी जज साहब के बारे में बता रहे हैं। "सिपाहियों ने बताया कि मुल्जिम को तीन दिन तक हवालात में बन्द रखा जाता है; फिर मेले के खात्मे पर, उसे कोठी ले लाते हैं, जहाँ उसका मामला सुना जाता है और हवालात से उसे निकालकर जेल में बन्द कर दिया जाता है। यूँ तो राणा ही राज करते हैं, लेकिन सब प्रबन्ध टिक्का साहब के हाथ में है– वे ही मजिस्ट्रेट है, वे ही जज ! उनका फैसला आखिरी होता है और उसकी कोई अपील नहीं होती।"[15]

अंग्रेजी शासन में सामान्य भारतीय की तो दयनीय दशा थी ही, साथ ही उन लोगों की स्थिति भी ज्यादा ठीक नहीं थी जो उनके कर्मचारी थे। वे सस्ते में कर्मचारियों को भर्ती करते थे। यह काम स्वीकार करना इनकी मजबूरी थी। जब इस नौकरी से घर का गुजारा ठीक प्रकार से नहीं होता तो वे निर्दोष लोगों पर दोष लगा कर अपनी जेब भरने का प्रबन्ध करते थे। "यदि कोई भूला–भटका मुसाफिर इन चौकीदार नुमा रियासती सिपाहियों के हाथ लग जाता तो उस पर स्त्रियों को छेड़ने का अभियोग लगाकर उसकी जेबें खाली किस प्रकार की जातीं, इस बात का अनुमान वही कर सकते, जिन्हें उनसे वास्ता पड़ा है। . . . ब्रिटिश इण्डिया में यद्यपि सिपाहियों के वेतन कम होते, उन्हें नियन्त्रित रूप से मिल तो जाते, पर भारत की रियासतों और विशेषकर शिमला के इर्द–गिर्द की रियासतों की जो दशा थी, वह किसी से छिपी नहीं। जब बड़े–बड़े कर्मचारियों को ही वेतन न मिले तो सिपाही बेचारों की बात ही दूसरी है। वे इस मेले में जो कुछ हथिया सकें, वह सब कुछ उनका होता।"[16]

अंग्रेजी शासन के आतंक से यह पूरा का पूरा देश दुखी है। कोई भी सुख की साँस नहीं ले पा रहा है। कवि चेतन ने अपने शब्दों में दुख को व्यक्त

---

15. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', बाँधो न नाव इस ठाँव, पृ० 259-60

16. वही, एक रात का नरक, पृ० 79-80

किया है–

"दुनिया खास मिसाल सराये दी ऐ
एत्थे आया सो रिहा मेहमान दुखिया
मौका नहीं कोई गिले शिकायत दा
एत्थे कुल हिन्दू मुसलमान दुखिया
ज़हर साईयाँ नहीं मालूम होंदा
असल विच ऐ सारा जहान दुखिया।"[17]

अंग्रेजों ने हमारे देश को प्रारम्भ में आर्थिक रूप से गुलाम बनाने की चेष्टा की। इसी लक्ष्य में उन्होंने हमारे आय के सभी साधनों को हम से छीन लिया और हमें कारखानों एवं खेती में मजदूरी करने को बाध्य कर दिया। साधारण रूप में किसी भी शासक का दायित्व होता है कि उसके शासनकाल में उसकी प्रजा उन्नति एवं प्रगति की ओर अग्रसर रहे, परन्तु यहाँ तो हर चीज उलटी ही नजर आ रही है, जिसके विरोध में भारतीय नेता आन्दोलन कर रहे थे। उपन्यास 'गर्म राख' में नेता अपने भाषण से साधारण जनता को समझा रहे हैं– "अंग्रेजों ने पहले हमारी कृषि को नहीं बढ़ने दिया। हमारी खेती–बाड़ी का तरीका सदियों पुराना है। अंग्रेज नहीं चाहते कि हमारे उद्योग–धन्धे बढ़ें, हमारी खेती बढ़े और हम आत्मनिर्भर होकर इंग्लिस्तान का मुकाबला करें।"[18]

अंग्रेजी शासन व्यवस्था से उस समय हर भारतीय दुखी था, चाहे वह किसान हो, व्यापारी हो, दुकानदार हो, उद्योगपति हो, राजा हो, हिन्दू हो अथवा मुसलमान। जब सम्पूर्ण समाज उनके जुल्मों से दुखी था तो उन्हें इन जुल्मों से मुक्ति का एक ही रास्ता दिखाई पड़ रहा था और वह था – आन्दोलन, बहिष्कार।

---

17. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', शहर में घूमता आईना, पृ० 132

18. वही, गर्म राख, पृ० 442

लेकिन अंग्रेजों की इतनी कुशल नीति थी कि उनकी नीति के सामने सभी भारतीय परास्त हो जाते थे। वे साम, दाम, दण्ड, भेद आदि चारों नीतियों विशेषकर अन्तिम तीन नीतियों का खुलकर प्रयोग करते थे, सो जीत उन्हीं की होती थी। भारतीयों ने जब 'रोलेट एक्ट' का विरोध किया तो ब्रिटिश साम्राज्य ने उस शासन को गोलियों से दबा दिया, जिस घटना का असर पूरे देश के लोगों के दिल और दिमाग में छाया हुआ था। इस घटना का असर उपन्यास 'गर्म राख' के पात्र हरीश पर भी है। वह उस घटना के सन्दर्भ में बता रहा है – "ऊपर से सभ्य, पर अन्दर से क्रूर अंग्रेज व्यापारियों के प्रतिनिधि डायर ने बाग के अहाते में 'रोलेट एक्ट' के विरोध में स्थानीय नेताओं के भाषण सुनने को इकट्ठे होने वाले सहस्रों निहत्थे लोगों को भून डाला था। उन वीरों की कहानियाँ जिन्होंने सीने पर गोलियाँ खायीं थी, पर अपनी जगह से हिले तक न थे; उन माओं के किस्से, जो बच्चों को दूध पिलाते–पिलाते गोली का शिकार बन गई थीं, उन बच्चों और वृद्धों के पिस जाने की घटनाएँ, जो भगदड़ में रास्ता न पा सके थे; उस अपार जनसमूह का क्रन्दन, जिसे चूहेदानी में बन्द चूहों की तरह निकलने का मार्ग रोककर भून डाला गया।"[19]

उपर्युक्त इन सभी घटनाओं ने भारतीयों को शारीरिक रूप से ही गुलाम नहीं बनाया अपितु मानसिक रूप से भी प्रताड़ित किया। वे इन सब घटनाओं को अपनी किस्मत का खेल समझने लगे। साधारण रूप में यदि देखा जाए तो व्यक्ति जीवन से हार जाता है, वह ईश्वर, भाग्यवाद की ओर झुक जाता है। इसी प्रकार भारतीय भी अंग्रेजों के अत्याचार करने और अपने अत्याचार सहने को उन्होंने ईश्वरीय देन मान लिया, परन्तु कुछ युवा ऐसे थे जो भाग्य की अपेक्षा अपने कर्मों पर विश्वास रखते थे। इसी विचारधारा का व्यक्ति हरीश है। वह जगमोहन को समझाते हुए कहता है– "इस देश में हजारों–लाखों ऐसे युवक हैं, जिन्हें अपना रास्ता

---

19. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ० 232

एकदम अन्धकारमय दिखाई देता है। राजनीतिक ज्ञान उनका नहीं के बराबर है। इन सब कठिनाइयों के स्रोत को ढूँढ पाना उनके बस की बात नहीं। वे समझते हैं कि उनकी किस्मत खराब है। किस्मत ! किस्मत ! किस्मत ! हमारे यहाँ किस्मत का अखण्ड राज्य है। कोई आदमी उच्च–वर्ग में पैदा हुआ तो किस्मत वाला है; अच्छे दिमाग का मालिक है तो किस्मत वाला है; नौकरी मिल गई तो किस्मत वाला है। . . . लेकिन तुम आते रहोगे तो जानोगो कि जिस तरह आदमी बड़ी बड़ी नदियों को बाँध कर उनको सीधे रास्ते लगा दिया है। कौमों ने अपनी किस्मतें आप बनाई हैं। हम भी अपनी इच्छानुसार अपनी किस्मत को बनाएंगे। हम यह व्यवस्था बदल देंगे, जिसमें कुछ के पास सब तरह के साधन हैं और शेष नितान्त साधनहीन हैं। सबको एक सरीखे साधन मिलेंगे कि वे अपनी किस्मत को अपनी इच्छा, शक्ति और रुचि के अनुसार बन सकें।"[20]

आज भारतीयों में आधुनिक बोध जाग उठा है। वे अब अंग्रेजी राज्य में विश्वास नहीं रखते हैं बल्कि उसके खिलाफ एकजुट होकर स्वाभिमान की रक्षा हेतु तथा अपने उज्ज्वल भविष्य के लिए कर्म करने में विश्वास करते है। उपन्यास 'बड़ी–बड़ी आँखें' में देवा जी ने आजादी प्राप्त करने वाले व्यक्तियों का आह्वान किया है कि अंग्रेजी राज्य के माध्यम से समाज में आ गई बुराइयों को दूर करने के लिए एक ऐसे वर्ग को तैयार करना चाहिए जो भारतीयों की सोई हुई आत्मा को जगा सके। "पर एक ग्रुप आजादी के ऐसे दीवानों का भी होना चाहिए, जो अपने भाइयों में जाकर उन्नति का सन्देश दे; उनकी जिन्दगी को सँवारे, सरल साहित्य प्रकाशित करे, भ्रम दूर करे; भाई को भाई से अलग करने वाले धर्म की जगह सच्चे, शाश्वत और साँझे ईश्वर धर्म का प्रचार करे। हमारी बीमारियाँ अनगिनत हैं – बुरी रस्में, अशिक्षा, साम्प्रदायिकता, पक्का हो जाने वाला दास स्वभाव, बेसमझ जातियाँ, चारदीवारी में बन्द निकम्मी करके बैठा दी गई स्त्रियाँ, बेपरवाह का शिकार,

---

20. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ० 453

रोते–बिलखते, मिट्टी में रुलते बच्चे – यह लिस्ट बड़ी लम्बी है लेकिन हमें काम में जुट जाना है और जितनी भी बुराइयाँ हम दूर कर सकें, उन्हें दूर करके देशवासियों को आजादी के योग्य बनाना है। याद रखिए कि आप बड़े बुद्धिमान हों या आपका धन अपार हो, आप निर्भीक हों या व्यक्तिगत रूप से स्वतन्त्र, पर जब तक आपके इर्द–गिर्द भूखे, नंगे, अशिक्षित और गरीबी है, आप कभी सुखी नहीं रह सकते।"[21] उपन्यास 'गर्मराख' में दुरो भी स्वाभिमान से जीने और आजादी प्राप्त करने का आह्वान करती है– "आज के युग में प्रत्येक स्वाभिमानी भारतीय के लिए यह जरूरी है कि वह अपनी सब आशाएँ छोड़, सबसे पहले विदेशी गुलामी से देश को आजाद करने के इस यज्ञ में आहुति दे।"[22]

भारत की आजादी प्राप्त करने के लिए भ्रष्ट अंग्रेजी सरकार का विरोध करना चाहिए, आन्दोलन होने चाहिएं और प्रत्येक स्तर पर उन्हें असहयोग देना चाहिए, तभी यह स्वप्न पूरा हो सकता है। उपन्यास 'शहर में घूमता आईना' में कवि चेतन गाना सुनाता है, जिसमें आजादी का स्वप्न व्याप्त है–

"खादी दा चोला गल विच पा के
ना मिलवर्तन दी तुरही वजा के
चर्खे दी घन–तोप चढ़ा के
मारो सूत दे गोले लंका शायर नूँ
हुक्म गान्धी दा सभी मनणगे
बन्ह के सिर ते कफल चलणगे
जलियाँ वाले कई बनणगे।
लै आये बन्दूकां, कह देयो डायर नूँ।"[23]

---

21. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', बड़ी-बड़ी आँखें, पृ० 44
22. वही, गर्म राख, पृ० 355
23. वही, शहर में घूमता आईना, पृ० 116

उपन्यासकार अश्क ने आजादी में सभी के सहयोग की कामना की है, क्योंकि कोई भी देश तभी आजादी का परचम लहरा सकता है, जब उस देश के निवासी एकजुट होकर दुश्मन का मुकाबला करें। इसके साथ ही उन्होंने मजदूरों को रूस से प्रेरणा लेने को कहा है कि किस प्रकार रूसी क्रान्ति हुई और मजदूरों को उनका हक मिलने लगा। उपन्यास 'गर्म राख' में दुरो मजदूरों को अपनी ताकत का एहसास करवा रही है– "तुम लोग जो अपने–आपको बेमकदूर, बेबस, समझते हो, तुम अपनी इकट्टी ताकत का नहीं पहचानते। रूस हमसे कहीं पिछड़ा हुआ मुल्क था, उसके मजदूर आपसे कहीं कम पढ़े लिखे, गुलाम और बेबस थे, लेकिन मुत्तहिद होकर, एक होकर, उन्होंने क्रान्ति की ओर पिछले बीस बरस में अपनी मुत्तहिदा मेहनत से एक पिछड़े हुए मुल्क को दुनिया के ताकतवर मुल्कों के बराबर ला खड़ा किया। मुल्क की किस्मत हाथ में लेने से पहले आपको अपनी किस्मत हाथ में लेनी होगी। . . . तो मुल्क की हुकूमत और किस्मत की चाबी अपने हाथ में लेने से पहले आपको अपने पेट और जुबान की चाबी अपने हाथ में लेनी होगी। अपने मालिकों से अपने हुकुम मनवाने होंगे। फिर समय आयेगा कि आप लोग हुकूमत से अपना हक मनवा सकेंगे, हुकूमत की बागडोर सम्हाल सकेंगे और अपना हाल ही नहीं, मुस्तकबिल भी शानदार बना सकेंगे।"[24]

किसी भी बदलाव के लिए क्रान्ति की आवश्यकता होती है क्योंकि परिवर्तन अपने आप नहीं होता है, अपितु उसे प्रयासों द्वारा पूरा किया जाता है। जब मांगने वाले हाथ छीनने पर उतारू हो जाएं, पैरों में झुकने वलो हाथ गर्दन तक पहुँच जाएं, तब क्रान्ति होती है। उपन्यास 'गर्म राख' में कवि चातक आजादी के लिए तलवार उठाने और रिपु को परास्त करने का आह्वान करते हैं–

---

24. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ० 251

"आज बज उठी है रणभेरी, प्रिये उठा कर वीणा धर दो।
बाँध कृपाण कमर में मेरी, रक्त–तिलक मस्तक में कर दो।
रिपु सेना में मचे खलबली, ऐसा डट कर युद्ध करें हम।
अपने या रिपु के जीवन के जाने से क्यों तनिक डरें हम ?
अग्नि–परी तुम बनो कुमारी, औ' मैं लप लप करती ज्वाला।
स्तब्ध विश्व देखे यह अपलक, अपना ताण्डव नृत्य निराला।"[25]

इस संघर्ष के बाद सभी लोगों को समान अवसर प्राप्त होंगे, सभी अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकेंगे। कोई किसी का शोषण नहीं करेगा, अपितु सभी के लिए समान रास्ते खुलेंगे। चारों ओर खुशहाली का माहौल होगा। उपन्यास 'गर्म राख' में दुरो और हरीश सुखद भविष्य की कल्पना कर रहे हैं। जब सभी को स्वतन्त्रता का जीवन जीने का अधिकार मिलेगा। "किसान–मजदूरों का राज है। बेकारी और भूख कानाम हिन्दुस्तान से उठ गया है। जाति–जाति का भेद मिट गया है। कोई हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई नहीं, सब हिन्दुस्तानी हैं। पिछड़ी हुई जातियाँ आगे बढ़ आयी हैं और समानाधिकार के साथ देश को समृद्ध बनाने में संलग्न हैं। स्त्रियाँ पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हैं और जीवन के हर क्षेत्र में पुरुषों से कन्धे से कन्धा मिला कर काम कर रही हैं। जनता के जोश का वार–पार नहीं। अब मजदूरी के लिए काम नहीं हो रहा बल्कि काम के लिए काम हो रहा है। . . . कल कारखाने खुल रहे हैं। जहाँ बेकारी मुँह बाये प्रतिक्षण निगल जाने को तत्पर दिखाई देती थी और बच्चों का जन्म एक मुसीबत होकर आता था, वहाँ सामने इतना काम पड़ा दिखाई देता है कि आबादी दुगुनी भी हो जाए तो कम है और लोग पहाड़ों, रेगिस्तानों और सागरों के बाद, नक्षत्रों को बसाने के स्वप्न ले रहे हैं।"[26]

---

25. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ० 311

26. वही, पृ० 265

अतः स्पष्ट है कि अंग्रेजी सरकार की शासन पद्धति भेदभावपूर्ण थी जिसमें सभी भारतीय दुखी एवं पीड़ित थे और घुटनभरा जीवन जीने को मजबूर थे। उनका इस कदर शोषण हो रहा था कि उनके पास न तो खाने के लिए उचित मात्रा में अन्न का प्रबन्ध था और न ही उन्नति के रास्ते ही खुले हुए थे। इसके लिए भारतीयों ने संघर्ष किया और अन्ततः सुखद भविष्य की कामना की। यही आधुनिकता–बोध है कि सभी व्यक्ति बराबरी का जीवन जीने को आतुर हैं।

4. राष्ट्र

राजनीति आखिर राष्ट्र के लिए ही होती है। वह राजनीति जो राष्ट्रीयता का पोषण करे – वही राजनीति वांछनीय है अन्यथा राष्ट्र को बिसारकर चलने वाली राजनीति का कोई महत्त्व नहीं रह जाता, सब शून्य हो जाता है। अतः राष्ट्र के प्रति अटूट श्रद्धा व निष्ठा का होना तो हमारे लिए परमावश्यक है। इसकी खातिर हमें अपने सभी प्रकार के वैर–द्वेष आदि के भाव को मिटा देना चाहिए। राष्ट्र सभी भावनाओं और सम्बन्धों से ऊपर की चीज है। उपन्यास 'गर्म राख' में दुरो जगमोहन को देश एवं राष्ट्र की सर्वोपरि सत्ता के रूप में समझा रही है। "देश और जनता की सेवा ममत्व और स्वत्व को जो बलिदान चाहती है, मैं अभी उसके योग्य नहीं हुई। अपनी छोटी–सी हस्ती और उसकी छोटी–छोटी इच्छाएँ मुझे बड़े महत्त्व की लगती हैं। उनके पूरे न होने पर दुख होता है, पर जिन्होंने अपने ममत्व, स्वत्व और अहम् सब के ऊपर जनता और देश को रखा है, उनके सम्मुख इन भावनाओं का इतना मूल्य नहीं है।"[27]

आज व्यक्ति के चरित्र में अपार परिवर्तन हुआ है। वह अपनी महत्त्वाकांक्षा को सर्वोपरि मानता है, उस इच्छा की पूर्ति हेतु वह बड़े–से–बड़े कुकर्म करता रहता है। उसके सामने न तो शासक के स्वप्न, न कोई नीति और न ही देश रह जाता है।

---

27. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ० 345

उपन्यास 'बड़ी–बड़ी आँखें' में देवा के स्वप्न बड़े–बड़े हैं, वह उन्हें पूरा करना चाहता है, परन्तु उसके नेतृत्व में काम करने वाले व्यक्ति अवसरवादी एवं चाटूकार प्रवृत्ति के हैं, जिनके कारण देश की उन्नति तो दूर वह स्थिर भी नहीं रह सकता है– "देवनगर मुझे उस देश–सा लगता, जिसका प्रधानमन्त्री, उदारशय, स्वप्नशील और भविष्यद्रष्टा हो, पर जिनके सहकारी अवसरवादी, चाटुकार और खुशामदी हों और जिसके दफ्तरों में भ्रष्टाचार और स्वजन पालन का दौर–दौरा हो। उस प्रधानमन्त्री की अच्छाई, स्वप्नशीलता और भविष्य दर्शन के बावजूद उस देश का क्या बन सकता है ? यदि वे एक सिरे से लेकर दूसरे तक सारे नजाम को नहीं बदल सकता तो उसे एक के बाद एक समझौता करना पड़ेगा। उसके सपने और आदर्श धरे के धरे रह जाएंगे और देश रसातल में चला जाएगा।"[28]

राष्ट्र की सुरक्षा सर्वोपरि है, इसके लिए व्यक्ति एवं परिवार को भली–भाँति कुर्बान किया जा सकता है। जो लोग अपनी कुर्बानी देते हैं, वे ही सच्चे राष्ट्र भक्त कहलाते हैं और उन्हीं पर राष्ट्र गौरवान्वित होता है। उपन्यास 'शहर में घूमता आईना' में राष्ट्र संकट में है, जिस पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया है। इसके विरोध में नन्द 'आजाद' ने कविता लिखी है। उसी की प्रशंसा में प्रधान जी कहते हैं– "प्रधान ने नन्दलाल की मेधा की प्रशंसा करते हुए उसकी कवित्व शक्ति और उसके स्वदेश–प्रेम की प्रशंसा की थी और कहा था कि भारत माता को ऐसे सपूतों पर गर्व है, जो इतनी छोटी उमर में स्वतन्त्रता–संग्राम में कूद पड़े हैं और आशा प्रकट की थी कि वह दिन दूर नहीं, जब भारत माता गुलामी की जंजीरों से आजाद होती।"[29] इसी राष्ट्र की आजादी के लिए लोगों ने आन्दोलन किए। इन आन्दोलनों को दबाने के लिए विदेशी शासकों ने निहत्थे लोगों को गोलियों से भून डाला, जिसके विरोध

---

28. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', बड़ी-बड़ी आँखें, पृ० 159

29. वही शहर में घूमता आईना, पृ० 118

में लड़के गलियों में घूमते हुए वीरता भरे गीतों का गायन करते थे–

"मारो सूत दे गोले लंकाशायर नूँ
जुल्म जबर तो नईं घबराणा
देश नूँ हुण आजाद कराणा
गोलियाँ भर सीने ते खाणा
कह देओ जाके इस बेदर्दी डायर नूँ।"[30]

राष्ट्र की सेवा सभी सेवाओं का मूल है। यदि राष्ट्र की सेवा न करके और सभी प्रकार की सेवाएँ की जाएं तो वे नगण्य हैं। इसलिए मनुष्य को स्वदेश को नहीं भूलना चाहिए क्योंकि राष्ट्र का स्थान जन्म देने वाली माता से भी ऊपर होता है। उपन्यास 'शहर में घूमता आईना' में एक कवि गीत गाता है और लोगों को देश के प्रति कर्त्तव्य निभाने के साथ–साथ आश्वस्त भी कर रहा है कि उनकी मुक्ति के दिन नजदीक आ गए हैं। वह कहता है–

"चोर–चित्त विच समझ ओ टोडी, राज असाडा आणा ई
तेरे आका अंगरेजां ने ओड़क नूँ चल जाणा ई
सभ दे सिर ते काल कूकदा, क्या राजा क्या राणा ई
बिना देस दी सेवा कीते, भला न मूल कमाणा ई
बिसाख बिसारियों प्यारा देश दा आकड़–आकड़ चल गई तूँ
खा खुराकाँ पहन पुशाकाँ यम दा बक्करा पलणाई तूँ
चार दिनाँ दा रैन बसेरा महल–माड़ियाँ मलणाई तूँ।
टोडरी बच्चे, समझ प्यारे, अन्त खाक विच रलणाई तूँ।"[31]

आज के युग में 'मैं और मेरा राष्ट्र' की इस भावना में शंका जताने लगे

---

30. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ० 236

31. वही, शहर में घूमता आईना, पृ० 133

हैं और लोगों का दायरा विश्व मानवता की ओर फैला है। क्योंकि मानव की उन्नति एवं विकास में केवल एक ही राष्ट्र का योगदान नहीं है, अपितु सम्पूर्ण विश्व का योगदान निहित है। इसीलिए राष्ट्र के स्थान पर विश्व की भावना बलवती होती जा रही है। उपन्यास 'गर्म राख' में हरीश विश्व मानव की भलाई के बारे में सोचता है– "क्यों नहीं सारी दुनिया के लोग मिलकर इस धरती पर ही स्वर्ग बसाने का प्रयास करते ? क्यों इसे नरक बनाये हुए हैं ? पर यह तभी हो सकता हे, जब सारी धरती पर एक ही सरकार हो, सारी दुनिया के सारे प्रदेश एक संघ के सदस्य हों और एक व्यक्ति का दसरे व्यक्ति का एक जाति दूसरी जाति का, एक समाज दूसरे समाज का और एक देश दूसरे देश का शोषण करने के बदले उसकी सहायता करे। मानव–मानव से न जूझे, मानव जूझे प्रकृति से।"[32]

अन्ततः हम कह सकते हैं कि उपन्यासकार पूर्णतः आधुनिक बोध से सम्पन्न है। उन्होंने मनुष्य का महत्त्व राष्ट्र से ऊपर माना है क्योंकि राष्ट्र ही मनुष्य के सर्वांगीण विकास का आधार है, परन्तु उनकी यह धारणा प्राचीन बन्धनों को तोड़ती हुई विश्व स्तर पर राष्ट्रीयता का पक्ष ले रही है। पहले युग में राष्ट्र, छोटे से राज्य से सम्बन्धित था, लेकिन आज उसका विस्तार होकर विश्व स्तर तक जा पहुँचा है। अतः यह धारणा आधुनिक बोध सम्पन्न है।

(ग) अर्थ का स्वरूप

साधारणतया जीवन में माना जाता है कि 'अर्थ के बिना कोई अर्थ ही नहीं।' इस प्रकार अर्थ का महत्त्व सार्वभौम, सार्वकालिक और प्रायः सर्वस्वीकृत रहा है। सामाजिक जीवन पर अर्थ का व्यापक प्रभाव दिखाई देता है, इसका मतलब यह नहीं है कि अर्थ केवल सामाजिक जीवन में ही काम आता है अपितु आज समाज के साथ–साथ राजनीति, धर्म और संस्कृति भी प्रभावित दिखाई देती है।

---

32. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ० 266

भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार अर्थ की गणना उन चार परम पुरुषार्थों में की जाती है, जिनकी ओर मनुष्य का ध्यान सदा रहना चाहिए। "इन पुरुषार्थों में अर्थ को धर्म के बाद दूसरा स्थान दिया जाता है और जिन्होंने अपनी सारी जिन्दगी धर्म को समर्पित कर दी थी, ऐसे लोग भी धर्म, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिए अर्थ को आवश्यक मानते हैं।"[33] आधुनिक समाज में भी यह मत प्रचलित है कि आर्थिक स्थिति के अनुसार ही व्यक्ति के संस्कार, उसकी बुद्धि, उसका हृदय गठित और परिवर्तित होता है। यह सामान्य अनुभव है कि समाज और समाज में रहने वाले व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन अर्थ–व्यवस्था पर निर्भर रहता है।

'अर्थ' का कोषगत अर्थ

भारतीय भाषाओं में अर्थ शब्द का प्रयोग बहुत पुराने जमाने से होता आया है। आत्यन्तिक रूप से धन सम्पत्ति से सम्बद्ध इस शब्द के बारे में बहुत सारे अर्थ कोशग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। अर्थ का सर्वाधिक प्रचलित अर्थ – प्रयोजन, लक्ष्य, उद्देश्य, अभिलाषा, कारण, हेतु, अभिप्राय, तात्पर्य आदि होता है। इस शब्द का अर्थ सीमा इतनी विस्तीर्ण है कि वस्तु और पदार्थ भी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। 'समय और हम' के दार्शनिक तथा चिन्तन प्रधान निबन्धों में जैनेन्द्र कुमार ने सिद्ध किया है कि "अर्थ अन्त में वस्तु का ही प्रतीक है और इस वस्तु को प्राप्त कर सकने की सामर्थ्य दिलाने वाला धन, सम्पत्ति, दौलत, रुपया इस अर्थ का मुख्य बोधगम्य विषय है। यही कारण है कि उपयोग, लाभ, भलाई, आवश्यकता, जरूरत आदि के साथ–साथ मांगना, याचना, प्रार्थना, दावा, याचिका, कार्यवाही, अभियोग जैसे अर्थों का समावेश भी इस शब्द में हो जाता है। इतना ही नहीं यह शब्द वस्तु स्थिति, यथार्थ, रीति, प्रकार, तरीका, रोक, दूर रखना, प्रतिरोध, उन्मूलन आदि का भी अर्थ

---

33. तुलसीदास, कवितावली, उत्तरकाण्ड, पृ० 207

देता है।"[34] जन्म कुण्डली में लग्न से दूसरा घर इसी अर्थ का घर माना जाता है।"[35] सृष्टि के पालन कर्त्ता विष्णु को भी इसी कारण अर्थ कहा जाता है।"[36]

अर्थ शब्द की अर्थ व्याप्ति अत्यधिक फैली हुई है, लेकिन जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह सारी अर्थ व्याप्ति किसी न किसी रूप में धन–सम्पत्ति के साथ जुड़ जाती है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के पन्द्रहवें अधिकरण में जिस अर्थ को मनुष्यों की वृत्ति या जीविका कहा है, वहभी धन का ही संकेत करती है।"[37] अर्थ के पर्यायवाची शब्दों की सूची भी मूलतः धन सम्पत्ति वाले अर्थ का ही समर्थन करती है। पर्यायवाची कोशों में द्रव्य, दरब, दाम, दौलत, धन, पूंजी, वित्त, माल, मुद्रा, रकम, रुपया–पैसा, लक्ष्मी, विभव, वैभव, श्री सम्पत्ति आदि को अर्थ का पर्यायवाची शब्द बताया गया है।"[38] ये शब्द कभी–कभी सीधे रूप में और कभी घुमा–फिरा के धन सम्पत्ति का ही अर्थ देने वाले हैं।

अर्थ से सम्बद्ध होकर बनने वाले और सीधे–सीधे धन का अर्थ देने वाले शब्दों की संख्या अत्यधिक दिखायी पड़ती है। साधारण रूप में अर्थ धन सम्पत्ति ही होता है। उदाहरण के लिए निम्न शब्दों को लिया जा सकता है, जो सीधे–सीधे धन–सम्पत्ति जैसे अर्थ का संकेत करते हैं – अर्थक, अर्थकर, अर्थकाम, अर्थ–कृच्छ, अर्थगत, अर्थगृह, अर्थध्न, अर्थ चिन्तक, अर्थचिन्तन, अर्थजात, अर्थदण्ड, अर्थदर्शक, अर्थदूषण, अर्थन्यायालय, अर्थपति, अर्थबन्ध, अर्थभृत, अर्थमंत्री, अर्थवता, अर्थवान, अर्थशास्त्र, अर्थशास्त्री, अर्थहीन, अर्थाधिकारी, अर्थानुबंध, अर्थान्वित, अर्थार्थी, आर्थिक,

---

34. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृति हिन्दी कोश, प्रथम सं० पृ० 96-97
35. रामचन्द्र वर्मा, मानक हिन्दी कोश, प्रथम खण्ड, पृ० 180
36. शिवराम आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० सं० 82
37. गोपाल शर्मा, सामाजिक विज्ञानों की परिभाषिक शब्दावली का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० 197
38. डॉ० भोलानाथ तिवारी, वृहत् पर्यायवाची कोश, पृ० 372

देता है।"[34] जन्म कुण्डली में लग्न से दूसरा घर इसी अर्थ का घर माना जाता है।"[35] सृष्टि के पालन कर्त्ता विष्णु को भी इसी कारण अर्थ कहा जाता है।"[36]

अर्थ शब्द की अर्थ व्याप्ति अत्यधिक फैली हुई है, लेकिन जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह सारी अर्थ व्याप्ति किसी न किसी रूप में धन–सम्पत्ति के साथ जुड़ जाती है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के पन्द्रहवें अधिकरण में जिस अर्थ को मनुष्यों की वृत्ति या जीविका कहा है, वहभी धन का ही संकेत करती है।"[37] अर्थ के पर्यायवाची शब्दों की सूची भी मूलतः धन सम्पत्ति वाले अर्थ का ही समर्थन करती है। पर्यायवाची कोशों में द्रव्य, दरब, दाम, दौलत, धन, पूंजी, वित्त, माल, मुद्रा, रकम, रुपया–पैसा, लक्ष्मी, विभव, वैभव, श्री सम्पत्ति आदि को अर्थ का पर्यायवाची शब्द बताया गया है।"[38] ये शब्द कभी–कभी सीधे रूप में और कभी घुमा–फिरा के धन सम्पत्ति का ही अर्थ देने वाले हैं।

अर्थ से सम्बद्ध होकर बनने वाले और सीधे–सीधे धन का अर्थ देने वाले शब्दों की संख्या अत्यधिक दिखायी पड़ती है। साधारण रूप में अर्थ धन सम्पत्ति ही होता है। उदाहरण के लिए निम्न शब्दों को लिया जा सकता है, जो सीधे–सीधे धन–सम्पत्ति जैसे अर्थ का संकेत करते हैं – अर्थक, अर्थकर, अर्थकाम, अर्थ–कृच्छ, अर्थगत, अर्थगृह, अर्थध्न, अर्थ चिन्तक, अर्थचिन्तन, अर्थजात, अर्थदण्ड, अर्थदर्शक, अर्थदूषण, अर्थन्यायालय, अर्थपति, अर्थबन्ध, अर्थभृत, अर्थमंत्री, अर्थवता, अर्थवान, अर्थशास्त्र, अर्थशास्त्री, अर्थहीन, अर्थाधिकारी, अर्थानुबंध, अर्थान्वित, अर्थार्थी, आर्थिक,

---

34. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृति हिन्दी कोश, प्रथम सं० पृ० 96-97
35. रामचन्द्र वर्मा, मानक हिन्दी कोश, प्रथम खण्ड, पृ० 180
36. शिवराम आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० सं० 82
37. गोपाल शर्मा, सामाजिक विज्ञानों की परिभाषिक शब्दावली का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० 197
38. डॉ० भोलानाथ तिवारी, वृहत् पर्यायवाची कोश, पृ० 372

अर्थी, अर्थ्य आदि।"[39] इसके साथ–साथ संस्कृत कोश से भी कुछ शब्द चुने गए हैं जिनका सम्बन्ध अर्थ से है। अर्थोत्पत्ति, अर्थोप्मन, अथोध, अर्थकृत, अर्थवृद्धि, अर्थध्न, अर्थनिबन्धन, अर्थलुब्ध, अर्थप्रयोग, अर्थामात्रम, अर्थालाभ, अर्थवृद्धि, अर्थव्यय, अर्थज्ञ, अर्थशौचम्, अर्थसंस्थानम्, अर्थसार, अर्थवत्।"[40] इस प्रकार 'अर्थ' का अर्थ देने वाले वाले शब्दों की संख्या इतनी अधिक है जो मानव जीवन में अर्थ प्रभाव और महत्त्व को स्पष्ट करती है। जिसका सम्बन्ध प्राचीनकाल के मानव के साथ भी था और आधुनिक काल के मानव के साथ भी।

प्राचीन जीवन पद्धति में मनुष्य के चार पुरुषार्थी माने गए हैं – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनकी प्राप्ति हेतु व्यक्ति सदैव प्रयासरत रहता था। इनकी प्राप्ति से ही व्यक्ति को पुरुषार्थ प्राप्त होता है। चिन्तकों का मानना है कि चतुवर्ग में अर्थ में मूल प्रयोजन है और अर्थ से ही शेष तीन साध्य हैं। विश्व के धर्मों, दर्शनों की व्याख्याएँ करके इन्होंने इसे प्रमाणित किया है कि मनुष्य को प्रयत्न करने की प्रेरणा चाहे कहीं से भी प्राप्त हो, परन्तु प्रयत्न का फल अर्थ प्राप्ति ही है।"[41] अर्थ का महत्त्व, धर्म, काम और मोक्ष तीनों से अधिक है। इस चतुवर्ग में धर्म में तल्लीनता के पश्चात् अर्थ प्राप्ति के उपायों में तल्लीन होने की बात कही गई है। लेकिन विचारने के बाद यह स्पष्ट होता है कि धर्म भी अर्थ के बिना सम्भव नहीं है।

धर्म का अस्तित्व किसी न किसी रूप में अर्थ पर टिका हुआ है। हमारे प्राचीन संस्कारों में ऐसी मान्यता है कि वही आदमी धार्मिक है जिसकी प्रवृत्ति दान, दया आदि गुणों से पूरित है। लेकिन देखने वाली बात यह है कि दान देने में तथा अन्य प्रकार की मदद करने में भी अर्थ की विशेष भूमिका होती है। यह कार्य व्यक्ति

---

39. रामचन्द्र वर्मा, मानक हिन्दी कोश, प्रथम खण्ड

40. आप्टे, संस्कृति हिन्दी कोश, पृ० 97

41. जैनेन्द्र कुमार, समय और हम, पृ० 206

तभी कर सकता है, जब वह हर प्रकार से समर्थ एवं अर्थवान हो। अर्थ के बिना धर्म का कोई मूल्य नहीं है। गाय और गंगा को माता कहकर पूजने के मूल में भी यह अर्थ ही कार्य करता है क्योंकि गाय हमें अनेक प्रकार की खाद्य सामग्री प्रदान करती, वहीं इसका गोबर हमारे खेतों में खाद का कार्य करता है। इसके बछड़े हमारे खेतों में हल चलाते और जीवनयापन को आधार प्रदान करते हैं, वहीं दूसरी ओर गंगा प्यास बुझाने के कारण माँ कहलाती है, तन की प्यास और धरती की प्यास बुझाती है। अर्थसम्पन्न होने और रोजी–रोटी की समस्या से निश्चित होने पर भी मन ईश्वर की भक्ति में लग पाता है। यदि रोजी रोटी का अभाव होगा तो मन भगवद् पूजा की अपेक्षा अर्थ प्राप्ति के साधनों में अधिक लीन रहेगा।

धर्म के विषय में यदि हम गम्भीरता से चिन्तन करें तो धर्म का मूल प्रयोजन ही अर्थ प्राप्ति है। साधक साध्य से सदा ही कुछ माँगने की कामना से कार्य करता है तथा उनको प्रसन्न करने की चेष्टा करता है। उसकी यह मांग सदैव अर्थ से ही सम्बन्धित रही है। यदि वह स्वर्ग गमन करना चाहता है तो स्वर्ग में भी सुख सम्पन्नता की इच्छा करता है और यदि इस पृथ्वी पर सुख की कामना करता है तो भी वह अर्थ से ही सम्बन्धित है। स्पष्ट है कि धर्म का मूल अर्थ है।

धर्म में चतुर्थ लक्ष्य मोक्ष है। मोक्ष की प्राप्ति तभी सम्भव है जब किसी प्रकार तृष्णा शेष न हो, तृष्णा के रहते मोक्ष नहीं मिल सकता। प्रायः सब तृष्णाओं की प्राप्ति का मुख्य साधन अर्थ है। ऊपर स्पष्ट हो चुका है कि अर्थाभाव कैसे धर्म और काम को प्रभावित करता है। भोजन और वस्त्र की चिन्ता से रहित होकर ही इनकी ओर ध्यान जाता है। चार आश्रमों को महत्त्व देने वाले भारतीय दर्शन मानते हैं कि अगर मनुष्य अपनी अर्थ और काम की इच्छाओं को तृप्त नहीं कर पाता है तो उसका ध्यान भौतिकता से उठकर आध्यात्मिकता तक जा पाना असम्भव है और भौतिक इच्छाओं की पूर्ति, द्रव्य, पदार्थ या धन से ही सम्भव है। अतः मोक्ष प्राप्ति के लिए भी अर्थ महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। मनुष्य का सांसारिक कल्याण जिन

विषयों, क्रियाओं में रहता है वे अर्थ के ही अन्तर्गत आती है। सुख का सामान के साथ सीधा सम्बन्ध हो जाता है। अतः अर्थ ही मूल प्रयोजन सिद्ध होता है।

अर्थ सदा से ही मानव जीवन का नियन्ता रहा है। वह मनुष्य को कभी प्रत्यक्ष रूप से तो कभी अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता रहता है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने अर्थ को विश्लेषित और विवेचित करने के प्रयास किए हैं, जिससे इसका पूरा शास्त्र ही निर्मित हो गया, जिसे अर्थशास्त्र की संज्ञा दी जाती है। अर्थशास्त्र को अंग्रेजी में 'इकॉनामिक्स' कहा जाता है। अर्थशास्त्र के सन्दर्भ में विभिन्न विद्वानों ने परिभाषाएँ इस प्रकार दी हैं–

एडम स्मिथ के अनुसार-

"अर्थशास्त्र वह अध्ययन है जो राष्ट्रों के धन के स्वभाव एवं इसके कारणों की जाँच करता है।"[42]

जे. बी. से. के अनुसार -

"अर्थशास्त्र उन नियमों का अध्ययन करता है, जिनके अनुसार धन प्राप्त किया जाता है।"[43]

मार्शल के अनुसार -

"राजनीतिक अर्थशास्त्र अथवा अर्थशास्त्र साधारण जीवन व्यवसाय में मनुष्य की क्रियाओं का अध्ययन है। यह इस बात का पता लगाता है कि वह किस प्रकार आय प्राप्त करता है और किस प्रकार व्यय करता है। . . . इस प्रकार एक ओर तो यह धन का अध्ययन है और दूसरी ओर जो कि अधिक महत्त्वपूर्ण है, यह मनुष्य के अध्ययन का एक भाग है।"[44] इनके अनुसार अर्थशास्त्र में मानव कल्याण का अध्ययन है पर कल्याण में केवल आर्थिक या भौतिक पक्ष को ही लिया जाता है।

---

42. दुबे, सिन्हा, अर्थशास्त्र के सिद्धान्त, पृ॰ 14

43. वही, पृ॰ 14

44. वही, पृ॰ 16

जे॰ के॰ मेहता के अनुसार-

"अर्थ वह विज्ञान है जो मानवीय आचरण का इच्छा रहित अवस्था में पहुँचाने के लिए साधन के रूप में अध्ययन करता है।"[45]

इन विद्वानों के मतानुसार अर्थशास्त्र की विषय सामग्री का विस्तार होता चला गया है। धन के विज्ञान के रूप में धन क्या है, इसकी प्रकृति क्या है, इसके कारण क्या हैं आदि की विवेचना होती थी, परन्तु मार्शल आदि के अनुसार अर्थशास्त्र में मनुष्यों की उन आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन होता है जो भौतिक कल्याण से सम्बन्धित है। मनुष्य की केवल धन सम्बन्धी क्रियाएँ ही आर्थिक क्रियाएँ कहलाती हैं।

अर्थ किसी भी देश अथवा समाज को प्रभावित करने वाला तत्त्व है। किसी देश की अर्थव्यवस्था अच्छी होगी तो वह देश अथवा समाज प्रगति के पथ पर अग्रसर होगा। इसके विपरीत यदि आर्थिक स्थिति कमजोर होगी तो वह देश अथवा समाज निम्न स्तर पर आकर रुक जाएगा या खड़ा हो जाएगा। किसी भी समाज अथवा देश की राष्ट्रीय सुरक्षा के सुदृढ़ आर्थिक व्यवस्था का होना अत्यन्त आवश्यक है। अर्थ समाज में व्यक्ति का स्थान ही नहीं निर्धारित करता है वरन् व्यक्ति के नैतिक विकास में भी अमूल्य भूमिका अदा करता है। इतना ही नहीं अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में भी किसी राष्ट्र की स्थिति का अंकन आर्थिक स्तर पर किया जाता है। किसी भी राष्ट्र की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों में कहीं अधिक प्रभावशाली उसकी आर्थिक स्थिति होती है। "आर्थिक व्यवस्था ही वह मूलाधार है, जिस पर राजनीतिक तथा सांस्कृतिक संरचना निर्भर करती है तथा उसी के अनुरूप सामाजिक चेतना के विविध रूप निर्मित होते हैं।"[46]

---

45. दुबे सिन्हा, अर्थशास्त्र के सिद्धान्त, पृ॰ 16

46. मार्क्स एंजेल्स, ऑन लिटरेचर एण्ड आर्ट, पृ॰ 14

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ के साथ ही विज्ञान और उद्योग के विकास के कारण सामाजिक व्यवस्था के सभी पहलुओं पर अर्थ ने गहरा प्रभाव डाला है। इधर तो अर्थ मानव जीवन का नियन्ता ही माना जाने लगा। व्यक्ति, परिवार, ग्राम, शहर सभी अर्थ से प्रभावित दिखते हैं। राजनीतिक स्तर पर पूँजीवाद को प्रोत्साहन दिए जाने के कारण आर्थिक संघर्ष और भी उग्र हो गया है।

आधुनिक युग में मानव जटिल हो गया है। इस जटिल जीवन के निर्वाह हेतु व्यक्ति को विभिन्न आवश्यकताएँ पूरी करनी पड़ती हैं, जिसके लिए मानव ने अर्थ को केन्द्र मान कर श्रम किया है। सभी व्यक्ति अपनी योग्यता व परिश्रम के आधार पर अर्थ प्राप्ति करते हैं, जिससे व्यक्ति की आर्थिक स्थिति का निर्माण होता है। ठीक इसी भाँति राष्ट्र की उन्नति उद्योग–धन्धों के विकास एवं सफलतापूर्वक निर्यात पर निर्भर करती है। अंग्रेजों के आगमन एवं उनकी आर्थिक नीति ने बड़े उद्योगों को प्रोत्साहन दिया। उन्होंने अपने आर्थिक विकास के लिए भारतीय कृषि व्यवस्था पर प्रहार किया तथा इसके साथ ही घरेलू उद्योगधन्धों को भी आघात पहुँचाया। अंग्रेज भारतीयों का कदम–कदम पर शोषण कर रहा था। भारतीये अपने पारम्परिक घरेलू उद्योगों के बन्द कर नौकरी के लिए भटकने लगा। अर्थ ने आदमी को आदमियत से तोड़कर हैसियत के साथ जोड़ दिया। इसलिए पैसे के अभाव में व्यक्ति घुटन महसूस करता और पैसा होने पर उन्मुक्त सा अनुभव करता। पैसे को प्रमुखता मिलने के आधार पर सम्बन्धों में बनावट आ गई, सामाजिक और पारिवारिक बिखराव शुरू हुए, जिसके अन्तर में अर्थ ही एक कारण था। अर्थ के आधार पर ही समाज में अमीर–गरीब दो वर्गों का उदय हुआ। पूंजी के बल पर गरीब–गरीब और अमीर–अमीर होता चला गया। अब नियम, आदर्श तथा कर्त्तव्य सभी अर्थ पर निर्भर करने लगे। फलस्वरूप समाज में भ्रष्टाचार तथा अनेक समस्याएँ उदित हो गईं। इतना ही नहीं आपसी प्यार, प्रेम, सौहार्द, अपनत्व, भाईचारा, सब कुछ नष्ट हो गया तथा सामाजिक मान्यताएँ नष्ट हा गईं। इतना सब कुछ हो जाने के बाद भी अर्थ को हेयात्मक दृष्टि

की अपेक्षा सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है, क्योंकि सामाजिक जीवन का एक बहुत बड़ा पक्ष अर्थ के साथ जुड़ा हुआ है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि व्यक्ति के जीवन में अर्थ का बड़ा महत्त्व है। इसी के माध्यम से सामाजिक दृष्टि और मानव के बौद्धिक जीवन के स्वरूप का निर्माण होता है। आधुनिक युग में अर्थव्यवस्था किसी भी मानव जीवन एवं समाज में रीढ़ की हड्डी का कार्य कर रही है। सामाजिक जीवन में अर्थ का इतना अत्यधिक महत्त्व होने के कारण साहित्यकार भी प्रभावित होता है, क्योंकि साहित्यकार एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में घटने वाली प्रत्येक स्थिति–परिस्थिति से प्रभावित होता है और समाज की इन घटनाओं को ही अपने साहित्य के माध्यम से वाणी प्रदान करता है। इसलिए अश्क ने भी अपने उपन्यासों में अपने आधुनिक युग के अर्थ का चित्रण किया है।

(घ) आर्थिक जीवन से सम्बद्ध विविध पक्ष

1. वर्ग-भेद का चित्रण

प्रारम्भ में समाज में वर्ग की उत्पत्ति के पीछे मनु का विभाजन दिखाई पड़ता है। उन्होंने सम्पूर्ण हिन्दू समाज को चार भागों में विभाजित किया – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। इन सभी का विभाजन पूर्व में कर्म के आधार पर किया था, लेकिन बाद में यह अर्थ का आधार बन गया। श्री भगवतशरण उपाध्याय ने भी वर्णों का उदय अर्थ से माना है– "वर्णों के उदय का कारण आर्थिक है और वर्ण प्रायः वर्गों की ही सामाजिक संज्ञा है। वर्णों का आरम्भ पेशों अथवा कार्य के आधार पर हुआ है।"[47]

19 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में राजनीतिक और सामाजिक क्रान्तियाँ हुईं, जिसके फलस्वरूप मनु द्वारा निर्धारित वर्ण–व्यवस्था डगमगाने लगी। इसके साथ ही औद्योगिक क्रान्ति की वर्ग–भावना पैदा करने का एक कारण है। उद्योग के जरिये

---

47. डॉ० हेमराज निर्मम, हिन्दी उपन्यासों में मध्यम वर्ग, पृ० 14

समाज में श्रमिक वर्ग व पूंजीपति वर्ग का जन्म हुआ, जिसकी पृष्ठभूमि में कार्ल मार्क्स की विचारधारा निहित है। अतः प्रत्येक समाज में दो वर्ग हमेशा रहते हैं, जिस वर्ग के पास उत्पादन के साधनों का स्वामित्व होता है, उसे पूंजीपति वर्ग कहा जाता है, जबकि दूसरी तरफ वह वर्ग है, जो अपनी मेहनत के बल पर पूंजीपतियों के कारखानों में काम करके जीविकोपार्जन करता है, जिसे श्रमिक वर्ग कहते हैं। मजदूर और मालिक के सन्दर्भ में जनेश्वर मिश्र का कथन है– "बहुत प्राचीनकाल में हमारे यहाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना से अछूती समाजवादी व्यवस्था प्रचलित थी, जिसके अन्तर्गत उत्पादन के साधनों पर समाज का समान अधिकार था। उस समय सभी व्यक्ति मिलकर काम करते थे और मिल–जुलकर उत्पादित वस्तु का उपभोग किया करते थे, परन्तु यह व्यवस्था सदैव बनी नहीं रह सकी। जैसे ही मनुष्य ने पशुपालन और खेतीबाड़ी के अतिरिक्त उत्पादित वस्तुओं का विनिमय करना आरम्भ किया तो जल्द ही समाज में एक ऐसे वर्ग का जन्म हुआ जो व्यक्तिगत पैदावार के जरिये को अपने कब्जे में करता जाता था। परिणामस्वरूप समाज के शेष लोग इस वर्ग के समक्ष कमजोर पड़ते चले गये और एक दिन वह स्थिति भी उपस्थिति हुई जब समाज में दो श्रेणियाँ दिखाई पड़ने लगीं – स्वामी और दास। एक श्रेणी शोषकों की थी, दूसरी श्रेणी शोषितों की। यहीं से समाज में सर्वप्रथम श्रेणियों का आरम्भ होता है।" अन्ततः सम्पूर्ण समाज तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है – उच्च–वर्ग, मध्यम–वर्ग, निम्न–वर्ग। आधुनिक युग में उच्च–वर्ग और निम्न–वर्ग की स्थिति तो वही है, लेकिन मध्यम–वर्ग हताश, घुटन एवं पीड़ा को भोग रहा है। उपन्यासकार 'अश्क' ने मुख्य रूप से इसी मध्यम वर्ग की आर्थिक कठिनाइयों को अपने उपन्यासों में उभारा है।

आधुनिक युग में मध्य वर्ग भी दो भागों में विभाजित हो गया है– उच्च मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग। सही रूप में देखा जाए तो पूरे समाज का भार इन्हीं के कन्धों पर टिका होता है। मध्यवर्ग की विडम्बना यह है कि यह निम्न–वर्ग में शामिल

नहीं होना चाहता है और उच्च–वर्ग इसे शोमिल नहीं करता है, इसलिए यह बीच में पिसता रहता है। निम्न मध्यवर्ग निम्न–वर्ग का शोषण करता है, मध्यवर्ग निम्न–वर्ग का और उच्च–वर्ग मध्यवर्ग का; यही कड़ी समाज में प्रचलित है। उपन्यास 'बाँधों न नाव इस ठाँव' में मुल्जिम रामदीन है, जो निम्न मध्यवर्ग में शामिल है और हलवाई मध्यवर्ग में; रामदीन हलवाई के यहाँ चोरी करता है। आज रामदीन सरीखे निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति का जीवन दूभर हो गया है, वह काम के लिए दर–दर भटकता है, ताकि वह अपनी रोजी–रोटी का प्रबन्ध कर सके, परन्तु उसे काम न मिलने पर चोरी करने को उतारू हो जाता है। "चेतन को पता चला कि वह फाकामस्त गरीब आदमी था। मेले में काम ढूँढने आया थां हलवाई से भी उसने काम मांगा था। पर उसे कहीं काम नहीं मिला। घूमते–घूमते वह थक गया। उसने सुबह से कुछ नहीं खाया था। उसने हलवाई से भीख भी मांगी, लेकिन काम या भीख देने के बदले हलवाई ने उसे गालियाँ दीं। सुबह तीन बजे वह कड़ाही चुरा कर जा रहा था, जब गश्त करने वाले सिपाही ने उसे देख लिया और चुपचाप पीछे हो लिया। जब वह जंगल में कड़ाही छिपा रहा था तो उसे पकड़ लिया गया।"[48]

आधुनिक युग में मनुष्य के पास आय के साधन सीमित हो गए और उसके खर्चों में दिनानुदिन बढ़ोतरी होती जा रही है। उसकी आय से वह अपनी रोजमर्रा की आवश्यकताओं को भी पूरा कर पा रहा है। साधारण रूप से तो काम मिल नहीं पाता है, यदि मिल भी जाए तो मालिक उसका शोषण करता है। उपन्यास 'गर्म राख' में चेतन एक अनुवादक है। वह प्रोफेसर स्वरूप के इतिहास का अनुवाद करता है लेकिन वह भी उसका शोषण करता है और उसकी पूरी मजदूरी नहं देता। "कर रहा हूँ इसलिए कि इसे हाथ में ले लिया है। नहीं अब पैसे मिलने की उतनी आशा नहीं। एम॰ ए॰ के दाखिले के लिए रुपयों की जरूरत थी, सो यह काम लिया था। पचास

---

48. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', बाँधों न नाव इस ठाँव, पृ॰ 312

रुपये पेशगी माँगे थे और साढ़े छह आने प्रति पृष्ठ पारिश्रमिक। पेशगी देना उन्होंने स्वीकार कर लिया था किन्तु पारिश्रमिक एक आना घटा दिया कि चार सौ पृष्ठ का काम है, एक आना कम लीजिए, मैं भी मान गया। सोचा था कि एक साथ डेढ़ सौ मिल जायेंगे तो प्रवेश शुल्क का प्रबन्ध हो जाएगा। जब एक परिच्छेद अनुवाद करके पास कराने और पेशगी लेने गया तो उन्होंने केवल तीस रुपये दिये और कहा कि शेष रुपये भिजवा दूँगा। दमड़ी उन्होंने अब तक नहीं भिजवाई।"[49]

आर्थिक तंगी ने आधुनिक मानव की कमर तोड़ दी है। अपनी इस समस्या का समाधान करने के लिए उसे दिन–रात मेहतन करनी पड़ती है लेकिन फिर भी वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाता है। उपन्यास 'बाँधो न नाव इस ठाँव' में चेतन आर्थिक चक्की में पिस रहा है। वह लॉ कॉलेज में दाखिल होने के लिए अपनी सामर्थ्य से भी अधिक मेहनत करता है, परन्तु अपने इस छोटे से स्वप्न को भी पूरा नहीं कर पाता है। उसकी स्थिति इतनी बदतर हो गई है कि वह अपनी पत्नी के गहनों तक को बेचने की सोचता है– "उसे लॉ कॉलेज में दाखिला लेना है, उसका रुपया भी जुटायेगा, इनको भी रुपया देगा – वह इतना रुपया कहाँ से लाएगा ? और वह फिर धीरे–धीरे चलने लगा . . . रुपये का इन्तजाम तो उसे हर हाल में करना होगा। नहीं करेगा तो क्या इस कूचे से बेआबरू होकर ही निकलेगा। . . . रुपये का प्रबन्ध नहीं होगा तो वह फिर कुछ महीनों के लिए किसी समाचार–पत्र मे नौकरी कर लेगा; कहीं से अनुवाद का काम लेगा, पत्नी के बाकी गहने गिरवी रख देगा . . . रुपये का प्रबन्ध वह कर लेगा, लेकिन यहाँ से वह हर हाल में जाएगा।"[50]

वर्तमान युग में आर्थिक तंगी इतनी बढ़ गई है कि मनुष्य के पास न तो ठीक प्रकार से पहनने के लिए वस्त्र हैं, न खाने के लिए अन्न, उसके पैरों में डालने

---

49. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ० 187

50. वही, बाँधों न नाव इस ठाँव, पृ० 340

के लिए जूते भी नहीं हैं। वह पशु की भाँति जीवन जी रहा है। वह वे सब काम करने को मजबूर है जो पशु करते हैं। अतः उसकी स्थिति पशु के समान है। उपन्यास 'बड़ी–बड़ी आँखें' में कुलियों की दशा का वर्णन करते हुए चेतन कहता है– "कुलियों के शरीर पर मैले–कुचैले चीथड़े लिपटे हुए थे जो मैल और पसीने से कपड़े की बजाय कीचड़ ही के बने दिखाई देते। इतना–इतना भारी बोझ उठा रखा था कि उन्हें चेतन आश्चर्यचकित सा देख रहा था। देर तक उसकी निगाहें अपने साथ साथ जाने वाले कुली पर लगी रहीं। उसके पाँव धूल से भरे, भारी चप्पलें, टांगें घुटनो तक मैल से सनी हुई थीं, बाँहों पर मछलियाँ उभर आई थीं, पीठ पर सात ट्रंक एक साथ उठाए लठिया के सहारे वह चला जा रहा था। तभी एक रिक्शा छनछनाता हुआ उसके पास से गुजर गया। चार वर्दीपोश कुली उसे भगाए लिए जा रहे थे और एक मोटा, गंजा, अंग्रेज मजे से उसमें बैठा समाचार पत्र पढ़ रहा था। घोड़ों और बैलों के स्थान पर पुरुषों को जुते हुए चेतन ने पहली बार ही देखा था। . . . चेतन को लगा जैसे संसार का समस्त सुख–वैभव चन्द गंजे आदमियों के हिस्से में आया और शेष सब तो उनकी सवारी खींचने वाले पशु हैं।"[51]

हर बड़ी मछली छोटी मछली को खाकर अपना पेट भरती है। इसी प्रकार थोड़ा–सा महत्त्व रखने वाला व्यक्ति कम महत्त्व वाले को प्रताड़ित करता है तथा उसकी उपेक्षा करता है। महत्त्व से आशय धन से है कि शारीरिक बल से उपन्यास 'सितारों के खेल' में तुली भंगी को धक्का देता है। इसके पीछे उसकी निर्धनता है। तब डॉक्टर अमृतराय कहते हैं– "यह तुम्हारे बाप का अस्पताल है कि यहाँ किसी को आने से रोकते हो ? यह अमीरों के लिए नहीं गरीबों के लिए है। अमीर तो दूसरे डॉक्टरों से भी लाभ उठा सकते हैं; पर इन निर्धनों के लिए इस अस्पताल के सिवा कहीं सहारा नहीं। तुम चौकीदार हो, खुदा तो नहीं, इस प्रकार निर्धनों को

---

51. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', बड़ी-बड़ी आँखें, पृ० 137

धक्के दो।"[52]

आधुनिक युग में अर्थ के बिना जीवन का कोई अर्थ ही नहीं रह गया है। जिसके पास पैसे हों, वह आराम की जिन्दगी व्यतीत करता है। इसके विपरीत जिन्हें अर्थाभाव सता रहा है, वे घुटनभरा जीवन जीने को मजबूर। इस कारण वे मानसिक तनाव से ग्रस्त रहते हैं। उपन्यास 'छोटे–बड़े लोग' में चेतन के सभी आय के साधन समाप्त हो गए हैं। अब उसके पास घर चलाने को भी पैसे नहीं हैं और न ही उसके पास रोजगार है। वह आशा करके अपने भाई से पैसे माँगता है, लेकिन वहाँ पर भी उसे निराशा ही हाथ लगी– "उसने अपने भाई से पाँच रुपये उधार माँगे थे, लेकिन उन्होंने एक रुपया तक देने से इन्कार कर दिया था। उन्होंने उसे बताया कि जितने रुपये महीने में बचाये थे, वे सब उन्होंने दुकान के किराये में दे दिए और अब उनके पास दुकान का सामान लाने के लिए भी पैसे नहीं। जब चेतन ने अपनी स्थिति बतायी थी तो भाई साहब ने यह प्रस्ताव किया कि वे खुद पुरानी अनारकली में ढाबे में खाना खा लेंगे वहाँ उधार चलता और चेतन तथा उसकी पत्नी अपने लिए कोई प्रबन्ध कर ले।"[53] आर्थिक तंगी के कारण बड़ी हैसियत रखने वाले व्यक्ति को भी छोटे से छोटा कार्य करना पड़ता है। चेतन भी अर्थाभाव के कारण रुमाल बेचने को मजबूर बेचने को मजबूर है– "क्यों न वह इन दो रुपयों के रुमाल थोक के भाव में खरीदकर अनारकली में बेचे और छः–आठ आने बचा ले। हफ्ता भर यदि वह शाम को यही काम करेगा तो न केवल घर के राशन की समस्या हल कर लगा बल्कि इन दो रुपयों को चार रुपये करके इन्हें किसी गरीब को दे आएगा। सुबह से दोपहर तक वह काम की तलाश करेगा और शाम को अनारकली में रुमाल बेचेगा।"[54] चन्द्रेश्वर

---

52. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', सितारों का खेल, पृ० 80

53. वही, छोटे बड़े लोग, पृ० 21

54. वही, पृ० 24

कर्ण ने अश्क के निम्न मध्यवर्गीय पात्रों की स्थिति पर टिप्पणी करते हुए कहा है– "सत्य स्थिति यह है कि आज के निम्न मध्यवर्ग का जीवन बिल्कुल शुष्क मरुस्थल के समान है। न उसमें कोई रस है, न कोई आनन्द। युग की विषमताओं एवं संघर्ष की असफलताओं ने उसकी कमर तोड़ दी है, उसे विभ्रान्त सा कर दिया है। उसे जी सकने के लिए भी प्रत्येक दिशा में अन्धकार ही दृष्टिगोचर होता है। ऐसी स्थिति में आज के निम्न मध्यवर्ग में रोमांस कम रह गया है। वह अमीरों के शौक एवं विलासिता का साधन है।"[55]

निम्न मध्यवर्गीय समाज आर्थिक रूप से टूट चुका है। उसके पास न सुखद भविष्य की आशाएँ हैं और न ही उन्हें विश्वास है। उनके मन में भी प्रेम की तरंगें उठती हैं, वे भी प्रेम करना चाहते हैं, परन्तु परिस्थितियों ने उन्हें इस कदर घेर लिया है कि उनके पास प्रेम के लिए समय ही नहीं रह गया है। वह जो खुलकर प्रेम नहीं कर पाता, विवाह से हिचकिचाता है, उसका कारण भी आर्थिक है। जगमोहन सत्या से इसलिए विवाह नहीं करता कि उसे अपनी आर्थिक स्थिति में विवाह एक ऐसी बेड़ी सरीखा नजर आता है, जो अपनी आकांक्षा की हर फर्लांग को बाँध देता है। उसी प्रकार संगीत वाणी से प्रेम करता है, वह उसे मन ही मन चाहता है, परन्तु अपने अर्थाभाव के कारण उस प्रेम को स्पष्ट नहीं कर पाता और अन्ततः घुटन लिए उसे वह शहर ही छोड़ना पड़ता है।

उपन्यासकार अश्क आधुनिक बोध सम्पन्न लेखक है। उन्होंने आर्थिक समस्याओं को जिस तरह से स्पष्ट किया है, उसकी बुराइयों को खुलकर प्रदर्शित किया है, उसी प्रकार उन्होंने इसका समाधान भी प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। अश्क पर मार्क्सवादी विचारधारा और गांधीवादी विचारधारा का मिला–जुला असर दिखाई पड़ता है। इसीलिए सभी मानवों की बराबरी चाहते हैं, चाहे इसके लिए अमीरों के

---

55. चन्द्रेश्वर कर्ण, अश्क के उपन्यासों का आलोचनात्मक विश्लेषण, पृ० 7

विरुद्ध बगावत ही क्यों न करनी पड़े। इसके लिए सभी मजदूरों में एकता का भाव होना चाहिए। उपन्यास 'गर्म राख' मिर्जा इब्राहिम मजदूर यूनियन के नेता हैं जो मजदूरों को एक होने का आह्वान कर रहे हैं– "यूनियन बन जाने पर वह कभी ऐसा न कर सकेगा, क्योंकि वह बेइंसाफी एक आदमी के साथ की गई बेइंसाफी न होगी। . . . अकेला मजदूर तिनके के बराबर है। उस तिनके को मालिक हाथ की दो उंगलियों में मसल कर फेंक सकता है और फूँक से उड़ा सकता है, पाँव तले रौंद सकता है, लेकिन जब मजदूर मुत्तहिद हो जाते हैं और वहीं छोटे–छोटे तिनके यूनियन के रूप दमें एक मोटा रस्सा बन जाते हैं तो उस रस्से से हाथियों सरीखे लहीम–शहीम, ताकतवर मालिकों को बाँधा जा सकता है।"[56]

मजदूर मालिक के यहाँ मेहनत करके कमाते हैं, लेकिन उस पैसे में से कछ ही हिस्सा मालिक लोग हड़प लेते हैं, जिनमें से एक तो आरामपरस्त जिन्दगी व्यतीत करता है और दूसरा पेट भर कर भोजन भी नहीं कर पाता है। इस विषमता को इकट्ठा होकर ही दूर किया जा सकता है। उपन्यास 'गर्म राख' में मुंशी अहमद दीन कहते हैं– "अगर मजदूर मुत्तहिद होकर मुल्क में इन्कलाब कर देते हैं तो वे फिर ऐसा निजाम कायम कर सकते हैं, जिसमें सरमायेदार का फायदा नहीं, उनका फायदा हो; जिनमें चन्द लोग मोटे न होते जायें, बल्कि सभी पेट भर पायें; जिसमें एक मेहनत करे और दूसरा मौज न उड़ाए, बल्कि सभी मेहनत करें और सभी मौज उड़ाएं।"[57] इस प्रकार से मालिक मजदूर का शोषण नहीं कर सकेंगे। गरीबी की चक्की में पिस रहे मजदूर भी समान अवसर और समान अधिकार प्राप्त कर सकेंगे। उनकी उन्नति के सभी रास्ते खुल जायेंगे। रूस जैसे देशों का उदाहरण देते हुए हरीश मजदूरों को समझा रहा है– "जहाँ मजदूरों का राज है, जहाँ अमीरों के लिए

---

56. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ० 247

57. वही, पृ० 248

नहीं, मजदूरों के लिए भी सुख–सुविधा के साधन उपलब्ध हैं; जहाँ कुल लोग मालिक और शेष नौकर नहीं हैं, बल्कि सभी मालिक हैं और सभी काम करते हैं; जहाँ गरीबों के लड़के पढ़ने के अवसर पाकर बड़े–बड़े वकील, इंजीनियर, डॉक्टर और न जाने क्या–क्या बन जाते हैं, जहाँ का राजा एक मोची का लड़का है, जहाँ के 'करनैल', 'जरनैल', 'बढ़इयों, लोहारों के लड़के हैं।"[58]

आज आधुनिक युग में प्रत्येक जन में जागृति है। वह बड़ी आसानी से गरीब और अमीर के स्वरूप को समझ रहा है कि किस प्रकार से अमीर गरीब का शोषण कर रहा है। इस नई चेतना एवं नई दृष्टि से अश्क जी का भी योगदान रहा है। उपन्यास 'गर्म राख' में जगमोहन सरीखे सभी व्यक्ति इन तथ्यों से पूर्णतः अवगत हो चुके हैं। "धीरे–धीरे वह समझने लगाथा कि पूंजी और श्रम का क्या सम्बन्ध है? पूंजी की भूख भोजन पाने पर मिटने के बदले कैसे और बढ़ती है ? उसका घेरा नीचे से ऊपर को जाते हुए मिस्त्र के पिरामिडों की भाँति संकुचित से संकुचिततर होता रहता है, यहाँ तक कि जनता के उस अपार जन–समूह के सिर पर कुछेक को समस्त सुख–सुविधाएँ प्राप्त हैं और क्यों शेष सब कल्पनातीत अभाव में पलते हैं ? क्यों कुछ के लिए शिक्षा संस्कृति के मार्ग प्रशस्त है और क्यों शेष को पग–पग पर दुर्गम कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है ? गरीबी और अमीरी में क्यों इतना महान अन्तर है ? यह सब धीरे–धीरे उसकी समझ में आने लगा था। स्पष्ट रूप से नहीं, पर कुछ अस्पष्ट–सा, धुँधला–सा आभास इस समस्या के समाधान का उसे मिलने लगा था।"[59] इसी प्रकार उपन्यास 'बड़ी–बड़ी आँखें' में देवा जी ने लोगों को चेतन किया है। वे अमीर–गरीब की खाई को मिटाकर 'देवनगर' बसाने में व्यस्त है। उन्हीं के प्रभाव को स्वीकारते हुए संगीत जी कहते हैं– "शायद वह देवनगर की फ़िजा का

---

58. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ० 268

59. वही, गर्म राख, पृ० 445

या देवा जी के लेखों को पढ़ने या उनके प्रवचन सुनने का असर था कि मैं वह सब देखने लगा था, जो पहले कभी न देखता था; वह सब सोचने लगा था, जो पहले कभी न सोचता था। देवी जी ने कहा था, बड़े सपने देखने के लिए बड़ी आँखें चाहिए। तो क्या मुझे वे बड़ी आँखें मिल गयी थीं कि मैं देश की गरीबी को दूर करके उसकी अशिक्षा को मिटाने, गुलामी से निजात दिलाकर उसे समृद्ध और खुशहाल देखने के सपने लेने लगा था और वह घोर गरीबी मुझे खलने लगी थी।"[60]

अश्क जी ने अपने सन्देश में लोगों को नई दृष्टि प्रदान की है और सभी के लिए सुखद वातावरण की कल्पना की है जिसमें कोई भी व्यक्ति ऊँच–नीच की जिन्दगी न जिये – "और फिर तंग मकानों के पास गन्दी नालियाँ न बहें; बागों की छाया में सुन्दर भवन हों, गरीबी में घिरा कोई अकेला मालदार सोने की ईंटों को छिपाये चोरों से बचता न फिरे, बल्कि सभी पेट भर कर खायें और विकास के सपने देखें – दिन चढ़े किरणों के सुस्पर्श से लोग जागें; खुले माथे, मुस्कराती आँखों ओर फैली बाँहों से एक–दूसरे से मिलें, प्रभात में जगी चिड़ियों की तरह एक–दूसरे को बलायें और अपने स्वभाव के अनुसार जीवन के उद्देश्य ढूँढें।"[61]

अतः स्पष्ट है कि आज आधुनिक जीवनपर अर्थ का प्रभाव अत्यधिक मात्रा में छा गया है। उसका कोई भी कार्य अर्थ से विलग नहीं है, अपितु अश्क जी ने अपने उपन्यासों में विभिन्न वर्गों का चित्रण कर मुख्य रूप से मध्यवर्ग की आर्थिक कठिनाइयों तथा उससे जुड़े विभिन्न सन्दर्भों को उठाया है। मार्क्सवाद से प्रभावित होने के कारण अश्क जहाँ एक ओर मालिकों और पूंजीपतियों के खिलाफ संघर्ष करने का आह्वान करते हैं, वहीं दूसरी तरफ गांधी जी के प्रभाव के कारण आपसी प्रेम और बराबरी की भावना को भी गति देते हैं। इसके साथ–साथ

---

60. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', बड़ी-बड़ी आँखें, पृ० 84

61. वही, पृ० 122

आधुनिक युग के मध्यम–वर्गीय मानव के जीवन में आए आर्थिक विपन्नता के प्रभाव तथा उससे प्रभावित संत्रास, घुटन भरे जीवन की कटु गाथा का वर्णन भी सहज रूप में मुखरित हुआ है तथा अर्थ के प्रभाव स्वरूप जो नवीन प्रवृत्तियाँ उभर कर सामने आयी हैं, उनका भी चित्रण किया है।

2. बेरोजगारी

भारत में अंग्रेजों के आगमन से पूर्व सभी भारतीयों के पास अपने–अपने रोजगार धन्धे थे। सभी व्यक्ति अपने–अपने कार्यों में संलग्न थे, जिससे सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। लोगों ने घरेलू उद्योग–धन्धे, कुटीर उद्योग तथा कृषि के व्यवसाय अपना रखे थे, परन्तु अंग्रेजों ने भारत पर अधिकार करके खुशहाल भारतीय जीवन को तबाह कर दिया। उनकी आर्थिक नीतियों ने हमारे उद्योगों एवं कारखानों पर खासा प्रभाव डाला। वे भारत से कच्चा माल विदेश ले जाने लगे और वहाँ से निर्मित वस्तुओं को पुनः भारत में महँगे दामों में बेचने लगे, लेकिन विदेशी वस्तुओं की कीमत भारतीय वस्तुओं की कीमत से सस्ती रखी गई। इसलिए लोग विदेश निर्मित वस्तुओं के प्रति सहज ही आकर्षित होते चले गए। इसका दुष्परिणाम यह निकला कि हमारे उद्योग प्रायः मृत अवस्था में पहुँच गए और उन कारखानों में काम करने वाले लाखों भारतीय बेरोजगारी की स्थिति में आ गये। इसी प्रकार कृषि पर भी लगाए गए अनेक करों एवं टैक्सों के कारण किसानों की स्थिति दयनीय होती चली गई तथा उन्हें रोजी–रोटी की कमी खलने लगी। वर्ष भर खेतों में मेहनत–मजदूरी करने के बाद भी ठीक प्रकार से अपना भरण–पोषण नहीं कर सके। अतः वे भी अपने ही खेतों में मजदूरी करने को बाध्य हो गए। "सुख गया, स्वच्छन्दता गई, बेफिक्री गई। मौत निकट आई, पर वह पुराना दृश्य आँखों के सामने न आया। आज पाँच वर्ष के बालक को अन्न की चिन्ता पड़ती है। वह दियासलाई की डिबिया लिए घर–घर बेचता फिरता है। घर के जितने लोग हैं, सब कमाते हैं, पर पेट नहीं भरता, किन्तु तब बीस साल के लड़के गलियों में खेलते फिरा करते थे, लंगोटी बाँधने तक की

उनको परवाह न थी। चिन्ता तो वह जानते ही न थे कौन चिड़िया है। एक–दो की कमाई से कुटुम्ब भर का काम चलता था। लोग सन्तोषी थे। इतनी बाबूगिरी कहाँ थी। सब अन्न–दूध खाते थे और घर का बना मोटा–झोटा वस्त्र पहनते थे। निर्द्वन्द्व जीते थे। शरीर में बल मिलता था, हृदय में शक्ति और मन पर फुरती रहती थी। जीवन की जरूरी चीजें घर ही में मिल जाती थीं।"[62] अतः स्पष्ट है कि बेरोजगारी लाने में कुछ कारण तो अंग्रेज थे। दूसरी तरफ आधुनिक युग में जनसंख्या की अत्यधिक मात्रा में बढ़ोत्तरी, उद्योगों की कमी, खेती योग्य कृषि का अभाव, अधिकारियों एवं राजनेताओं की स्वार्थ की नीति भी बेरोजगारी लाने कुछ हद तक सहायक है। आज प्रत्येक युवा इस भयंकर बीमारी से त्रस्त है। वह नौकरी एवं रोजगार पाने के लिए दर–दर की ठोकरें खाने के लिए बाध्य है।

आज आधुनिक युग की भयंकर समस्या के रूप में उभरी बेरोजगारी की समस्या से प्रत्येक युवा परास्त है। वह बड़ी मेहनत और लगन से शिक्षा ग्रहण करता है। उसे यह उम्मीद होती है कि उक्त शिक्षा प्राप्त करते ही नौकरी या रोजगार मिलेगा, परन्तु ऐसा कुछ नहीं बन पाता है, बल्कि वह तो बेरोजगारों की श्रेणी में बढ़ोत्तरी ही करता है। उपन्यास 'गिरती दीवारें' में चेतन का भाई डॉक्टर रामानन्द को धर वालों ने बड़ी मुश्किल से बी॰ डी॰ एस॰ की डिग्री दिलवाई है, क्योंकि उनके घर की आय सीमित थी। सीमित आय में इतनी बड़ी पढ़ाई का खर्च वहन करना साधारण नहीं था, लेकिन इतना सब कुछ करने के बाद भी वह बेरोजगारी की पंक्ति में खड़ा है। यह डिग्री अब उसका सहारा नहीं बन पा रही है, बल्कि उसके लिए बोझ बन रही है, क्योंकि अगर वह डिग्री न होती तो वह किसी दूसरे काम को भी कर लेता, लेकिन अब नहीं कर पाता है। "निरी इस डिग्री को लेकर मैं क्या करूँ। डिग्री पा लेना ही तो सफल हो जाना नहीं है। सफलता की होड़ तो डिग्री लेने के बाद शुरु

---

62. सम्पा॰ कल्याणमल लोढ़ा व विष्णुकान्त शास्त्री, बालमुकुन्द गुप्त : एक मूल्यांकन, पृ॰ 19

होती है। अच्छी जगह दुकान चाहिए, दुकान में अपटूडेट सामान चाहिए और फिर नये ढंग से विज्ञापन हो तब कहीं अपना कौशल दिखाने का अवसर डेंटिस्ट को मिलता है। इस सबके बाद यदि उसके हाथों में सिद्धि है तो वह चल निकलेगा, नहीं तो।"[63]

उपन्यास 'गर्म राख' में जगमोहन भी एक ऐसा ही युवक है, जिसकी आर्थिक स्थिति काफी कमजोर है। वह बेरोजगारी से तंग है। उसने एम॰ ए॰ की परीक्षा पास की है, लेकिन नौकरी नहीं मिल पायी है। इस पर दुरो उसे बी॰ टी॰ की ट्रेनिंग लेने को कह रही है तो जगमोहन कहता है– "ट्रेनिंग लेने का उद्देश्य केवल एक है – नौकरी ! अव्वल तो यह है कि मेरे पास आगे पढ़ने के साधन नहीं, फिर यही कहाँ तय है कि बी॰ टी॰ करते ही नौकरी मिल जाएगी। . . .यदि कहीं एक जगह खाली होती है तो पाँच सौ लोग दौड़ पड़ते हैं। नौकरी उसे मिलती है, जो अव्वल दर्जे में पास हुआ हो अथवा जिसकी पहुँच हो। अव्वल दर्जे में पास होने से ज्यादा पहुँच की जरूरत है। शेष के सामने किसी छोटे–मोटे प्राइवेट स्कूल में मैनेजिंग कमेटी के अत्याचार सहने और गुलामों से बदतर जिन्दगी बसर करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं।"[64]

सामान्य शिक्षा की ही यह दशा है कि नौकरी नहीं मिल पाती। इसी प्रकार व्यावसायिक शिक्षा की भी स्थिति बदतर हाल में है। भाई रामानन्द ने फिरोजपुर में प्रैक्टिस करने का आग्रह किया है, क्योंकि वहाँ भी बेरोजगारी की यहाँ की अपेक्षा थोड़ी कमी है। "तुम्हें मदद करनी हो तो वहाँ भी कर सकते हो। वहाँ दाँतों के डॉक्टर कम हैं, प्रैक्टिस का क्षेत्र बहुत है। यहाँ ईंट उठाओ तो डेंटिस्ट निकल आता है और मुकाबला बेहद ज्यादा है।"[65] आज आधुनिक युग प्रतियोगिता

---

63. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ॰ 49

64. वही, गर्म राख, पृ॰ 453-454

65. वही, गिरती दीवारें, पृ॰ 50

का युग है। आज प्रत्येक पद के लिए अभ्यर्थी को कम्पटीशन करना पड़ता है और इस कम्पटीशन में अव्वल व्यक्ति को ही नौकरी मिल पाती है। लेकिन इस कम्पीटीशन के साथ उसे सिफारिश की कड़ी आवश्यकता होती है, अन्यथा उसे इण्टरव्यू में निकाल दिया जाता है। इसकी कोई गारंटी भी नहीं होती कि हर प्रतियोगी ही परीक्षा पास कर लेगा। उपन्यास 'गर्म राख' में जगमोहन बेरोजगारी से तंग है। उसके पास प्रतियोगिता की परीक्षा में दाखिल होने हेतु पैसों का सर्वथा अभाव रहता है। दूसरे उसके पास न तो उचित मात्रा में पुस्तकें हैं और न ही समय। इसीलिए वह इन प्रतियोगिताओं के सन्दर्भ में कहता है– "कई बार मैंने कम्पीटीशन में बैठने की भी सोची है, लेकिन कम्पीटीशन में बैठने के लिए दाखिले के रुपये जुटाना मेरे लिए मुश्किल हो गया। फिर उस परीक्षा में सफलता के लिए जिस मेहनत और उस मेहनत के लिए जिस शान्ति और सुविधा की आवश्यकता है, वह मेरे पास कहाँ है ? आज कम्पीटीशन इतने सख्त हैं और उनमें सफल होने के लिए इतनी मेहनत करनी पड़ती है कि परीक्षा देने के बाद आदमी निढाल हो जाता है। मैंने ऐसे साथी देखे हैं जो दो–दो, तीन–तीन बार कम्पीटीशन में बैठे आर इसी श्रम में उन्होंने बाल सफेद कर लिए, पर सफल न हो सके।"[66]

बेरोजगार व्यक्ति ही सबसे अधिक शोषित होता है। एक तरफ तो योग्य होते हुए भी बेरोजगार, दूसरी तरफ उसके काम का उचित वेतन न मिलना। यह सबसे बड़ी विडम्बना है। उपन्यास 'गिरती दीवारें' में कविराज घुमाने के बहाने से चेतन को शिमला ले आए और यहाँ पर पचास रुपये महीने के हिसाब से वह चेतन पर किताब लिखता रहा है, जो कि उसकी बेरोजगारी का लाभ उठा रहा है– "उसे पचास रुपये मिल रहे हैं . . . शिमला जैसे महँगे शहर में पचास रुपये ! घोड़ा ! – एक तीव्र व्यंग्य तथा पीड़ा से वह मन ही मन हँसा तो वह कविराज की सफलता और

---

66. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ० 454

ख्याति की गाड़ी में जुता हुआ केवल एक घोड़ा है ? उसने सोचा – 'उसे बड़ी चतुराई से उसमें जोता गया है। वह जो पुस्तक लिखेगा, उस पर कविराज का नाम होगा। उनके बाद उनके पुत्र, पौत्र और चाहे तो परपौत्र तक उससे लाभ उठाएँगे और वह स्वयं क्या पाएगा ? पचास रुपये प्रतिमास के हिसाब से तीन महीनों में केवल डेढ़ सौ रुपये, जिनका अधिकांश वह शिमला में ही खर्च हो जाएगा। फिर जिस प्रकार एक घोड़े के अयोग्य होने पर अथवा आवश्यकता पूरी होने पर उसे हटा दिया जाता है, उसे भी हटा दिया जाएगा।"[67] इसी प्रकार उपन्यास 'छोटे–बड़े लोग' में सूफ़ी साहब चेतन की बेरोजगारी का फायदा उठाना चाहते हैं। वे उन्हें जासूसी करने के लिए पचास रुपये की ऑफर देते हैं। वे चेतन से कहते हैं– "तुम दो बरस से लाहौर के जर्नलिस्टों की सोहबत में रहते हो। बहुतों को इण्टीमेटली भी जानते होंगे। अगर तुम मुझे रोज उनकी सियासी सरगर्मियों के बारे में आकर बता जाया करो तो मैं तुम्हें पचास रुपये महीना दे दिया करूँगा।"[68] उपन्यास 'गर्म राख' में प्रोफेसर स्वरूप भी बेरोजगार जगमोहन का शोषण करता। वह उसके परिश्रम के भी पूरे पैसे नहीं देता है। "पचास रुपये पेशगी मांगे थे और साढ़े छै आने प्रति पृष्ठ पारिश्रमिक। पेशगी देना उन्होंने स्वीकार कर लिया था, किन्तु पारिश्रमिक का एक आना घटा दिया कि चार सौ पृष्ठ का काम है, एक आना कम लीजिए। मैं भी मान गया। सोचा एक साथ डेढ़ सौ मिल जाएंगे तो प्रवेश शुल्क का प्रबन्ध हो जाएगा। जब एक परिच्छेद अनुवाद करके पास कराने और पेशगी लेने गया तो उन्होंने केवल तीस रुपये दिए और कहा कि शेष रुपये भिजवा दूँगा। दमड़ी उन्होंने अभी तक नहीं भिजवायी। उलटे किसी दूसरे के अनुवाद किए सौ पृष्ठ मेरे गले मढ़ दिये।"[69]

---

67. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ० 142-43

68. वही, छोटे-बड़े लोग, पृ० 33

69. वही, गर्म राख, पृ० 187

आज के नवयुवकों को बेरोजगारी इस कदर दुःख पहुँचा रही है कि वे अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए दर–दर भटक रहे हैं, वहीं विवाह–शादी जैसे जीवन के मूलभूत अंग का भी बहिष्कार कर रहे हैं। वे शादी के बाद होने वाले खर्चों से अनभिज्ञ नहीं है, दूसरी तरफ लोग उसी व्यक्ति की शादी करना पसन्द करते हैं जो अपने पैरों पर खड़ा हो। चेतन का भाई डॉ॰ रामानन्द शादी इसलिए नहीं करवाना चाहता है क्योंकि वह जानता है कि वह बेरोजगार है। "चेतन के भाई कुछ क्षण के लिए निराश हो गए। वे कहना चाहते थे कि विवाह के सम्बन्ध में उसे कम से कम एक वर्ष के लिए रुक जाना चाहिए। जो व्यक्ति अपनी भावनाओं को संयत नहीं रख सकता, वह संसार में कर ही क्या सकता है ? उसका वेतन कुछ बढ़ जाए, तब शादी करे। विवाह काफी जिम्मेदारी का काम है और इस जिम्मेदारी को निभाने के लिए सबसे जरूरी वस्तु रुपया है, जो अभी उसके पास नहीं।"[70]

अतः स्पष्ट है कि उपन्यासकार अश्क ने आधुनिक युग की भयंकर समस्या बेरोजगारी की तरफ इंगित करके इसके प्रभाव पर प्रकाश डाला है। बेरोजगारी से मनुष्य आर्थिक रूप से ही परास्त नहीं हो जाता है अपितु सामाजिक रूप से भी उसका समाज में महत्त्व कम हो जाता है। इसके अतिरिक्त शोषकों द्वारा किये जा रहे शोषण से वह मानसिक रूप से भी आहत हो जाता है। अतः अपने युवाओं की शक्ति को सदुपयोग में लाने हेतु उन्हें बेरोजगारी के चंगुल से मुक्त करना होगा और उनके लिए नये–नये रोजगार के अवसर तलाश करने होंगे। तभी समाज सही दिशा एवं दशा को प्राप्त कर सकेगा।

3. भ्रष्टाचार के विविध रूप

भ्रष्टाचार आधुनिक युग की एक नई समस्या के रूप में उभरा है। इसके बीज अंग्रेजी शासन के आगमन के साथ ही पड़ गए थे, परन्तु यह पूर्ण रूप से फलित

---

70. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ॰ 50

अब हो रहा है। रिश्वत लेना एवं देना, चोरी, बेईमानी, झूठ बोलना, किसी भी प्रकार का शोषण आदि भ्रष्टाचार के अन्तर्गत समाहित है। प्रतापनारायण मिश्र ने रिश्वत के सन्दर्भ में कहा है– "रिश्वत का प्रयोग वही लोग करते हैं, जो अपने धन पर सन्तोष नहीं करते अथवा अपने किसी दुष्कर्म को छिपाने के लिए इसका सहारा लेते हैं। ये रिश्वतखोरी को चोरी करने, डाका डालने और जुआ खेलने के समान मानते हैं। इनके अनुसार जो व्यक्ति पढ़–लिखकर नौकरी के लिए रिश्वत देते हैं अथवा सिफारिश के पीछे–पीछे घूमते हैं, उनको पढ़ाई के समान मेहनत किसी दूसरे कार्य में करनी चाहिए।"[71]

आधुनिक युग में यह भ्रष्टाचार अपने चरम पर पहुँचा हुआ है। आज कोई भी कार्य सीधे रूप में नहीं बन पाता है। कार्य की सिद्धि हेतु पूजा–पाठ करनी पड़ती है। सामान्य रूप से अधिकतर नेता, कर्मचारी एवं अधिकारी भ्रष्टाचार में लिप्त हैं। धीरे–धीरे भ्रष्टाचार ने आधुनिक मानव के जीवन में अपनी पहचान बना ली है। उपन्यासकार अश्क भी आधुनिक युग की इस विशिष्टता को अपने उपन्यासों से अलग नहीं कर पाए और उन्होंने इस समस्या को चित्रित कर लोगों को चेतन करने की चेष्टा की है।

आज आधुनिक युग में फैले भ्रष्टाचार से सामान्य व्यक्ति दुखी है। ऐसी व्यवस्था में उसका दम घुटा जा रहा है। वह इस व्यवस्था को जड़ से उखाड़ फेंकने को उतारू है, लेकिन जब वह ऐसा नहीं कर पाता है तो वह स्वयं इस व्यवस्था से दूर भागना चाहता है। उपन्यास 'बड़ी–बड़ी आँखें' में देवा जी ने 'देवनगर' का निर्माण किया है। यह एक ऐसा स्थान है जहाँ पर एक निवासी को बराबरी का स्थान मिला हुआ, न कोई शोषक है न शोषित, सभी व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से भ्रष्टाचार से मुक्त जीवनयापन कर रहे हैं, परन्तु संगीत जी को इस स्वर्गमय वातावरण में

---

71. विजय शंकर मल्ल, प्रतापनारायण ग्रंथावली, पृ० 10

भ्रष्टाचार दिखाई देता है। इसलिए वह देवनगर से त्याग–पत्र देना चाहता है, लेकिन दे नहीं पाता है। इसी अन्तर्द्वन्द्व में उलझा हुआ देवनगर का खुलासा करता है। "तब मैंने सोचा था, मेरा क्या दोष है, मैं क्यों त्यागपत्र दूँ ? पर अब मैं सोचता हूँ कि मेरा दोष है कि मैं ऐसी जगह बसा हुआ हूँ, जहाँ किसी स्वतन्त्रवृत्ति के आदमी के लिए कोई जगह नहीं, जहाँ वास्तव में ईर्ष्या–द्वेष, संकीर्णता और ओछेपन का राज है, जहाँ प्रेम के स्थान पर नफरत और विश्वास के स्थान पर सन्देह है और मैंने तय किया है कि मैं देवनगर के वासियों पर और अपने आप पर दया करूँ और त्यागपत्र दे दूँ।"[72]

आज प्रत्येक कार्य धन के बल पर ही होता है। जहाँ पर रिश्वत नहीं दी जाती है, वहाँ पर कार्य होने में सदैव सन्देह बना रहता है। इस रिश्वत के प्रचलन में समाज के दोनों पक्ष दोषी हैं। एक तरफ यदि लेने वाले को कोई रिश्वत दे ही नहीं तो एक दिन उसे बिना रिश्वत के काम करने को मजबूर होना पड़ेगा, परन्तु ऐसा नहीं हो पाता। उपन्यास 'सितारों से खेल' का डॉक्टर अमृतराय बंसीलाल को बचाने हेतु जी–जान से परिश्रम करता है। उसके कर्त्तव्य को देखकर राजरानी उस पर आसक्त हो जाती है और डॉक्टर अमृतराय कर्तव्यनिष्ठा तथा दूसरे विभागों की लूट–खसोट में तुलना करती है– "सरकारी अस्पताल हो या गैर सरकारी, चाँदी के देवता की सब जगह पूजा होती है। इस देवता के दर्शन से ही दर्प विनम्रता और कठोरता मृदुता में परिणत हो जाती है। जिन निर्धनों पर इस देवता की कृपा नहीं, वे खैराती अस्पतालों से भी निराश ही लौटते हैं। सरकार लाख नोटिस लगवाये कि सरकारी नौकरों को कोई रिश्वत न दे, किन्तु गरज रखने वाले देते हैं। दिल पर पत्थर रखकर देते हैं। वे देने के लिए विवश हैं, न दें तो धक्के खायें। नियम और अनुशासन के नाम पर निकाले जाएं, निराश वापस लौटें।"[73]

---

72. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', बड़ी-बड़ी आँखें, पृ० 119

73. वही, सितारों का खेल, पृ० 83

आज प्रत्येक विभाग में भ्रष्टाचार है, चाहे वह जिले के जिलाधिकारी का कार्यालय ही क्यों न हो। क्योंकि इस महान कार्य में अधिकारी की मिलीभगत भी होती थी। अन्यथा अकेला कर्मचारी यह सब करने में इतना सक्षम नहीं होता है। उपन्यास 'गर्म राख' में हरीश के पिता हरिनिवास मिश्र डिप्टी कमिश्नर के रिश्तेदार हैं। वे भ्रष्ट कर्मचारी है। उनकी मासिक आय पचास रुपये है लेकिन भ्रष्ट तरीके से वे इस आय को आठ–दस गुना तक कर लेते हैं। इस सबके लिए वह गलत कार्य करता था। "मुकदमेबाजों से पेशी को आगे–पीछे करने या डिप्टी कमिश्नर के सामने आवेदन–पत्रों को रखने, दबा जाने, गुम करा देने आदि के सम्बन्ध में रुपया लेने की बात, तो अधिकांश के बारे में पण्डित जी अपने उस कृत्य को मुकद्दमेबाजों के लाभ हित समझकर पुण्य खाते में लिख लेते। जो एक आध ऐसा कर्म रह जाता, जिसके लिए वे किसी भी प्रकार अपने–आप को धोखा न दे पाते, उसे वे मन ही मन निष्काम कर्म समझकर सन्तोष कर लेते और उस रुपये को सदा दान खाते में लगा देते। किन्तु ऐसा धन जिसे वे अपने मन में पुण्य का न समझ सके पाँच प्रतिशत भी न होता।"[74]

यही हाल न्याय देने वाले न्यायलय का भी है, जिसमें काम करने वाले प्रत्येक कर्मचारी और अधिकारी भ्रष्टाचार में लिप्त हैं। इसमें क्या मुंशी, क्लर्क, वकील और जज साहब – सभी की एक–दूसरे से साँठ–गाँठ रहती है। जज भी उसी वकील के पक्ष में अपना निर्णय देता है जो उसकी सेवा करता है। उपन्यास 'गर्म राख' में हरीश ने लॉ पास की है और अब वह वकील बना हुआ है। उसके वकील बनने के पहले ही दिन वह अपना केस हार गया। इतनी ही देर में पण्डित जी आकर कहते हैं– "यह जज साला कट्टर किस्म का हिन्दू है, कभी मुसलमान के पक्ष में फैसला नहीं देता। फिर राजगीर से बोले 'तुम ऐसा करो, इसकी अपील कर दो। हम इसे जस्टिस अकीमुद्दीन की अदालत में रखायेंगे। उन्होंने मुंशी की ओर समर्थन के

---

74. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ० 231

विचार से देखते हुए कहा, "क्यों मुंशी जी, हकीमुद्दीन से मैं कह दूँगा, कल ही तो चाय पर इकट्ठे थे।"[75]

कचहरी और कोर्ट की ही यह हालत नहीं है, वरन् सुरक्षा प्रदान करने वाली पुलिस व्यवस्था में भी भ्रष्टाचार व्याप्त है। सामान्य रूप से देखने में आता है कि पुलिस में उन्हीं लोगों को भर्ती किया जाता है, जो रिश्वत देते हैं, तो ऐसे लोगों से स्वच्छ प्रशासन की उम्मीद कैसे की जा सकती है। उपन्यास 'एक रात का नरक' में पुलिस के आचरण पर प्रकाश डाला गया है कि वह किस प्रकार भ्रष्टाचार को रोकने वाले खुद भ्रष्टाचार फैला रहे हैं– "यदि कोई भूला–भटका मुसाफिर इन चौकीदारनुमा रियासती सिपाहियों के हाथ लग जाता तो उस पर स्त्रियों को छेड़ने का अभियोग लगाकर उसकी जेबें किस प्रकार खाली की जाती हैं, इस बात का अनुमान वही लोग कर सकते हैं, जिन्हें उनसे वास्ता पड़ा है। मैं इन बातों पर विश्वास न करता था लेकिन दुर्भाग्य से मेरे साथ जो घटना घटी, उससे मुझे न केवल इस बात का विश्वास हो गया, बल्कि इस बात का भी पता चला कि स्थिति कहीं ज्यादा भयानक है।"[76]

उपन्यासकार अश्क ने भ्रष्टाचार की समस्या को दिखाकर आधुनिक युग के लोगों को सचेत किया है। वहीं अमृत राय के माध्यम से समाधान भी प्रस्तुत करवाया है। उपन्यास 'सितारों का खेल' में डॉक्टर अमृतराय की एक समान दृष्टि है। वह अमीर–गरीब सभी का एक भाव से इलाज करता है तथा भ्रष्टाचार का विरोधी है। "उसे स्वयं इस बात का अनुभव था। सम्पन्न लोगों की ओर पहले ध्यान दिया जाता है। गरीबों की बारी भी नहीं आती। पर डॉक्टर अमृतराय इसके अपवाद थे, उनकी आँखों में धनी, निर्धन, सम्पन्न, विपन्न सब एक समान थे। एक दिन

---

75. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ० 244

76. वही, एक रात का नरक, पृ० 79

उन्होंने एक चौकीदार को इसलिए निकाल दिया था कि उसने एक निर्धन से चवन्नी रिश्वत ली थी और लता न कह देती तो वह भंगी सदा के लिए नौकरी से हाथ धो बैठता।"[77]

अतः स्पष्ट है कि उपन्यासकार अश्क ने अपने उपन्यासों के माध्यम से भ्रष्टाचार का सफल चित्रण किया है तथा इससे होने वाली सामाजिक हानियों की ओर भी इंगित किया है। उन्होंने बड़ी निर्भीकता से सरकारी कार्यालयों, न्यायालयों, पुलिस विभाग आदि में व्याप्त भ्रष्टाचार का पर्दाफाश किया है।

अस्तु, समाज में अर्थ और राजनीति का विशेष महत्त्व है। एक के अभाव में दूसरा अधूरा है। दोनों ही जीवन के अमूल्य अंग हैं। राजनीति और अर्थ आज आधुनिक व्यक्ति के जीवन से अत्यधिक जुड़े हुए हैं, अतः आवश्यकता है साफ और स्वच्छ राजनीति की जो सभी लोगों को न्याय, समानता, बराबरी तथा विकास एवं उन्नति के समान अवसर प्रदान करे, वहीं आर्थिक स्थिति भी सभी को रोजगार, खाने को अन्न, पहनने को वस्त्र और सिर ढाँपने को मकान का प्रबन्ध करे। उपन्यासकार 'अश्क' ने आधुनिक युग के राजनीति और अर्थ से जुड़े विभिन्न तत्त्वों को वाणी प्रदान कर आधुनिकता बोध का परिचय दिया है तथा इस परिचय से अपनी सूक्ष्य और विवेक दृष्टि का विस्तृत फलक समाज के सामने रखा है।

oooooooooooooooooo

---

77. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', सितारों का खेल, पृ० 83

उपसंहार : महत्त्व और मूल्यांकन

उपसंहार : महत्व और मूल्यांकन

बीसवीं सदी विज्ञान की सदी कही जाती है। इस सदी में न सिर्फ भौतिक सुख–सुविधाओं के अपार साधन जुटाकर आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को तीव्र किया है, बल्कि हमारे मनोजगत् में व्यापक परिवर्तन ला दिया है। प्राचीनकाल से ही हम प्रत्येक विषय को श्रद्धा और विश्वास से मण्डित करके, उसे नतमस्तक होकर स्वीकार करते रहे हैं, परन्तु आधुनिक युग में श्रद्धा और विश्वास से ऊपर तार्किकता और बौद्धिकता को बल मिला है। हमने शंका की पैनी धार पर चलना सीखा और किसी शाश्वत सत्य को भी शंका के दायरे में लाकर अपनी तार्किकता एवं बौद्धिकता की कसौटी पर कसने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखलाई। इस प्रकार हर विचार हमारे लिए विकसनशील व गत्यात्मक रहा और किसी को भी अन्तिम सत्य के रूप में नहीं स्वीकार किया, क्योंकि मार्क्सवाद, मनोविश्लेषणवाद, विकासवाद एवं अस्तित्ववाद जैसे सिद्धान्तों ने अपने तथ्यों एवं विचारधारा से स्पष्ट किया था कि उनका दर्शन ही अन्तिम सत्य है, परन्तु आज समय और परिस्थितियों की धूल ने उन्हें भी ढक दिया है और नवीन दृष्टि का सूत्रपात हुआ है।

उपेन्द्रनाथ अश्क ने कथा साहित्य के माध्यम से विलक्षण प्रस्तुति की है। चूँकि अश्क जी का जीवन सदैव अभावों, कष्टों, मानसिक घुटन, वैवाहिक असफलता तथा गरीबी से भरा रहा है, जिसके चलते उन्होंने समाज के व्यवहार और उसकी विसंगतियों का नग्न आँखों से सामना किया। परम्परा और पुरातन मान्यताओं ने उसे कदम–कदम पर दु:ख पहुँचाया जिसका उन्होंने आजीवन विरोध किया। इस विरोध के कारण समाज ने सदैव उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखा, जिससे उसका जीवन तिल–तिल घुटन और अवसाद से भर गया। वही घुटन और अवसाद उनकी कृतियों के माध्यम से प्रस्फुटित हुआ है जो समाज, संस्कृति, राजनीति एवं आर्थिक सन्दर्भों

के नए रूप में उद्‌घाटित करता है। उन्होंने आजीवन पुरातनता का विरोध भले ही किया हो, परन्तु उनमें ऐसी सामर्थ्य नहीं दिखाई दी जहाँ वे पुरातना की बेड़ियाँ काटकर एकदम नए परिवेश को स्वीकारते हों। वे अन्ततः भारतीय संस्कृति के आधारभूत मूल्यों को अपनाते हैं। इससे स्पष्ट था कि उन्होंने प्राचीन भारतीय संस्कृति की विसंगतियों की तरफ जनसाधारण का ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा की है न कि उखाड़ फेंकने का आह्वान। उनके चिन्तन से स्पष्ट है कि वे भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों को, जिनका आज भी महत्त्व है, स्वीकारते हैं; वहीं दूसरी तरफ वे नए मूल्य जो आधुनिक युग ने प्रदान किए हैं, उन्हें भी वाणी प्रदान करते हैं।

अश्क जी एक सामाजिक चेतना के उपन्यासकार हैं, इसलिए उन्होंने समाज के अनेक घटकों पर प्रकाश डाला है। उन्होंने समाज को आधुनिक युग बोध से जुड़ने और रूढ़ियों को अस्वीकार करने का आह्वान किया है, क्योंकि कोई भी आधुनिक व्यक्ति रूढ़ियों से घिर कर आगे नहीं बढ़ सकता, अपनी उन्नति नहीं कर सकता। जादू, टोना, छूआछूत, जाति–पाँति, आडम्बर, अन्धविश्वास, स्वर्ग–नरक आदि सभी प्राचीन मान्यताएँ हैं, आज इन सबका समाज में महत्त्व न्यून हो गया है। आज नई–नई खोंजें हो रही हैं, शोध हो रहे हैं, अन्तरिक्ष की उड़ानें भरी जा रही हैं। स्वर्ग और नरक जैसी धारणा से ऊपर उठकर व्यक्ति इसी जन्म को सुधारने के लिए प्रयत्नशील है।

परिवार समाज का अभिन्न अंग है। प्राचीन प्रणाली में संयुक्त परिवार को महत्त्व दिया जाता था जिसमें दादा–दादी, चाचा–चाची, ताऊ–ताई, भाइ–बहन सभी लोग इकट्ठे अपना जीवनयापन करते थे और इन सबका भार मुखिया नाम का व्यक्ति ही उठाता था, लेकिन एकल परिवार में प्रत्येक व्यक्ति अपना–अपना बोझ स्वयं निर्वहण कर रहा है। इतना ही नहीं, जब वह समाज में व्यवहार करता है, लेन–देन करता है तो व्यावहारिक रूप से भी सबल बन पाता है। दूसरे एकल परिवार में वह अपनी उन्नति के अनेक अवसर प्राप्त करता है, ऐसा वह संयुक्त परिवार में नहीं में

नहीं कर पाता है, क्योंकि वह परिवार के अन्य सदस्यों से विशिष्ट नहीं बन पाता है। निस्सन्देह, इन सारे मुद्दों और समस्याओं को अश्क जी ने अपने उपन्यासों में बड़ी बारीकी से उरेहा है।

उपन्यासकार अश्क सदियों से दलित एवं पीड़ित नारी का पक्ष लेते हैं। उनकी नारी दीन–हीन एवं पराश्रिता नारी नहीं है और न ही वह पति को देवता तथा उसकी आज्ञा को वेद वाक्य मानकर उनके लिए अपने जीवन को अर्पण करने वाली है। पति एवं परिवार की सेवा करना, जो नारी का धर्म माना गया था, अब उसने ऐसे धर्म–कर्म को तिलांजलि दे दी है। उसमें आए इस महान परिवर्तन से भारतीय समाज को नारी को क्षति उठानी पड़ी है। "उसके विचारों को वह जानता था, वह स्त्रियों के लिए बराबरी का अधिकार चाहती थी। वह कई बार कह चुकी थी कि पुरुषों को क्या अधिकार है कि वे स्त्री पर किसी प्रकार का अत्यचार करे। स्त्री–पुरुष में कोई अन्तर नहीं है। अब समय आ गया है कि स्त्रियाँ पुरुषों के बराबर काम करें, खायें, पहनें, घूमें–फिरें और बराबरी का व्यवहार चाहें। यदि पुरुष उनसे दुर्व्यवहार करे तो उन्हें भी वह अधिकार है कि पुरुष के साथ वैसा ही सलूक करे।"[1] नारी चरित्र में आए इस महान परिवर्तन का कारण अश्क जी नारी शिक्षा को मानते हैं। नारी शिक्षित होकर न केवल अपनी स्थिति में ही सुधार कर रही है, अपितु वह परिवार तथा समाज का स्तर भी सुधार रही है।

विवाह भारतीय धर्म का अभिन्न अंग है। प्रायः प्राचीन काल में विवाह के सम्बन्ध में माता–पिता स्वयं ही निर्णय ले लेते थे। इस निर्णय में लड़का और लड़की, जिन्होंने विवाह पश्चात् वास्तविक जीवन व्यतीत करना है, उनकी इच्छाओं का ध्यान नहीं रखा जाता था, जिसका परिणाम कई बार तलाक या मृत्यु तक खींच ले जाता था और वे यदि ऐसा नहीं कर पाते तो उनका जीवन सदैव नीरस और

---

1. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', सितारों के खेल, पृ० 45

तनाव से भरा रहता। वे अपने वैवाहिक जीवन का प्रसन्नतापूर्वक आनन्द नहीं ले पाते। उपन्यासकार अश्क ने उपन्यास 'गिरती दीवारें' में कविराज के माध्यम से व्यक्त किए हैं– "जिस प्रकार हमारे अधिकांश देशवासी बिना सोचे–समझे भावनारहित होकर पूजापाठ, धर्म–कर्म किए जाते हैं, उसी प्रकार वैवाहिक जीवन को निभाये जाते हैं। यही कारण है कि यौन सम्बन्ध जिस पुलक की सृष्टि करता है, उससे अगणित स्त्री–पुरुष महज अनभिज्ञ रह जाते हैं। दो परिचितों, मित्रों, प्रेमियों या पुलक की वांछा रखने वाले दो शरीरों के स्थान पर यहाँ एक ओर (पुरुष में) संकोच रहित वासना होती है और दूसरी ओर (स्त्री में) संकोचशील लज्जा, एक ओर हिंसक पशु होता है, दूसरी ओर भीता मृगी। पत्नी जब तक संगिनी नहीं बनती, स्वयं भी उसी पुलक की वांछा नहीं रखती, तब तक पति–पत्नी में भावनाओं का एकीकरण नहीं होता, वह पुलक प्राप्त नहीं हो सकती।"[2]

अश्क जी ने आधुनिक मानव के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला है। आज के वैज्ञानिक युग में मनुष्य यांत्रिक–सा बन गया है। वह भीड़–भरी जिन्दगी में भी अकेलापन महसूस कर रहा है। वह हर वक्त तनाव से भरी जिन्दगी जीने को मजबूर है। वह अपने जीवन में अधूरेपन का अहसास करता है और इसे पूरा करने के लिए प्रयासरत रहता है। लेकिन उसकी विडम्बना यह है कि उसके पास मजबूत इच्छाशक्ति का अभाव है। उसके इन सब कार्यों में केवल बाहरी दिखावा है, जो वास्तविकता से कहीं दूर है।

अश्क जी के उपन्यास हमारे प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों पर भी प्रकाश डालते हैं। आधुनिक युग में भले ही मानव ने नए मूल्यों को अपना कर प्राचीन को तिलांजलि दे दी हो, लेकिन उनका महत्त्व आज भी विद्यमान है। हमारी प्राचीन संस्कृति का आधार रहे – प्रेम, दया, शान्ति, मानवता, स्वच्छन्दता, कर्मनिष्ठता आदि

---

2. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरती दीवारें, पृ० 186

मूल्य आज भी स्थायी हैं। इन मूल्यों के स्वरूप में भले ही थोड़ा–बहुत परिवर्तन हुआ हो, लेकिन पूर्ण रूप से बदल गए हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। अश्क जी प्राचीनता से एकदम चिपक नहीं गए हैं, वे भी उन सब मूल्यों को स्वीकारते हैं जो आधुनिक युग की देन हैं। "हमारी पुरानी संस्कृति, हमारी पुरानी बातें हजार अच्छी हों और उनसे सम्बन्ध रखने वाले रीति–रिवाज हजार लाभदायक हों, लेकिन उनमें परिवर्तन करना आवश्यक है। हम उन्हें नहीं बदलेंगे तो वे स्वयं बदल जाएंगे, क्योंकि पुरानी व्यवस्था कितनी भी अच्छी क्यों न हो, अवश्य बदलती है और नयी उसका स्थान लेती है।"[3]

उपन्यासकार अश्क ने मनुष्य की बाह्य प्रवृत्ति पर ही प्रकाश नहीं डाला है अपितु वह तो व्यक्ति के अन्तरजगत् में पदार्पण कर गए हैं। बाह्य संघर्ष के साथ मनुष्य जो घुटन, दबाव, पीड़ा एवं संत्रास का जीवन जी रहा है और इसके चलते उसके मन में जो घात–प्रतिघात उठ रहे हैं, उन्हें रेखांकित करने की चेष्टा की है। मनुष्य अपने अहम् के वशीभूत है। वह किसी भी परिस्थिति में अपने अहम् से समझौता नहीं करना चाहता है। जहाँ कहीं भी उसके मान–सम्मान पर चोट होती है तो उसका अहम् जाग उठता है। यदि उसके अहम् की तुष्टि नहीं हो पाती है तो वह बुराइयों की ओर प्रवृत्त हो जाता है।

मानव–मनोविज्ञान के अतिरिक्त अश्क जी ने राजनीतिक चिन्तन भी प्रस्तुत किया है। राजनीतिक स्थिति की व्यंजना करते हुए अश्क जी ने आधुनिक शासन–पद्धति के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। उन्होंने आधुनिक युग में राजतन्त्र के स्थान पर प्रजातन्त्र की हामी भरी है, क्योंकि प्रजातन्त्र में ही मानव का पूर्ण रूप से विकास और उन्नति निहित है। इसी के कारण वह न्याय और समानता का अधिकार ही प्राप्त नहीं करता है, अपितु वह अपने शोषण को भी रोक देता है।

---

3. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', सितारों का खेल, पृ० 14

प्रजातन्त्र के साथ–साथ अश्क जी ने 'मैं और मेरा देश' जैसी विचारधारा का निराकरण किया है, क्योंकि आज व्यक्ति की उन्नति में केवल एक राष्ट्र का ही योग नहीं रह गया है, अपितु सम्पूर्ण विश्व उसमें सहयोग दे रहा है। अतः इस संकीर्णता की मनोवृत्ति से ऊपर उठकर विश्व–भावना को प्रचारित किया है। उपन्यास 'गर्म राख' में हरीश मानवता की भलाई के बारे में विचार व्यक्त करता है– "क्यों नहीं सारी दुनिया के लोग मिलकर इस धरती पर ही स्वर्ग बसाने का प्रयास करते हैं ? क्यों इसे नरक बनाये हुए हैं ? पर यह तभी हो सकता है, जब सारी धरती पर एक ही सरकार हो, सारी दुनिया के प्रदेश एक संघ के सदस्य हों और एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का, एक जाति दूसरी जाति का, एक समाज दूसरे समाज का और एक देश दूसरे देश का शोषण करने के बदले उसकी सहायता करे।"[4]

उपन्यासकार अश्क ने उपर्युक्त सन्दर्भों के साथ–साथ मनुष्य की आर्थिक स्थिति पर भी गहनता से चिन्तन कर आधुनिक युग के प्रभाव से मण्डित कर प्रस्तुत किया है। आज मानव जीवन का हर पहलू अर्थ से प्रभावित रहता है। आज अर्थ के बिना उसके जीवन का कोई अर्थ ही नहीं रह गया है। अर्थ ने मनुष्य को इतना अधिक प्रभावित किया है कि किसी भी व्यक्ति के स्तर को जानने के लिए उसके आर्थिक स्तर को जाना जाता है। जिससे समाज कई वर्गों में विभाजित हो गया है। उच्च–वर्ग, निम्न–वर्ग का आर्थिक शोषण कर रहा है। इस अर्थ ने निम्न–वर्ग के जीवन को इस कदर घेर लिया है कि वह जीवन में कोई भी कार्य स्वतन्त्र रूप से नहीं कर पा रहा है। वह अपने छोटे से छोटे स्वप्न को भी पूरा नहीं कर पाता है। बेरोजगारी की भयंकर समस्या अब उसके सामने आ गई है। इसी अर्थ के चलते समाज में भ्रष्टाचार ने भी अपना अलग अस्तित्व बना लिया है। वास्तव में, अश्क जी के उपन्यासों में अर्थ की एक व्यापक अवधारणा मिलती है। उनके उपन्यास अर्थ के लिए जूझते, अर्थ के

---

4. उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गर्म राख, पृ० 266

लिए टूटते और अर्थ के लिए मानसिक रूप से बिखरते पात्रों की संतप्त कथा को, उनकी गाथा को हमारे सामने रखते हैं। यही विसंगति आज के आधुनिक मनुष्य और आधुनिक समाज की नियति बन गयी है जो किसी स्तर पर मनुष्य को ठीक से जीने नहीं देती है।

निष्कर्ष रूप में, कहा जा सकता है कि उपेन्द्रनाथ अश्क आधुनिक उपन्यासकारों में अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। उन्हें अपने लक्ष्य की सिद्धि में, अपने प्रतिपाद्य के प्रतिफलन में पूरी सफलता मिली है। आधुनिक बोध के विभिन्न सोपानों के निरूपण में, उसकी व्यंजना में रचनाकार आज के समाज और आज के जीवन के समीपी चित्र बन गये हैं। सचमुच, अश्क आधुनिकताबोध के श्रेष्ठ उपन्यासकार हैं।

oooooooooooooooooo

ग्रन्थसूची

0 अश्क, उपेन्द्रनाथ — गिरती दीवारें
राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1997

0 अश्क, उपेन्द्रनाथ — एकरात का नरक
नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1968

0 अश्क, उपेन्द्रनाथ — गर्म राख
नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण 1978

0 अश्क, उपेन्द्रनाथ — बाँधों न नाव इस ठाँव
नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1974

0 अश्क, उपेन्द्रनाथ — नन्हीं-सी लौ
नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1986

0 अश्क, उपेन्द्रनाथ — सितारों का खेल
नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, पाँचवाँ संस्करण 1986

0 अश्क, उपेन्द्रनाथ — शहर में घूमता आईना
नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, दूसरा संस्करण 1972

0 अश्क, उपेन्द्रनाथ — छोटे-बड़े लोक
नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1990

0 अश्क, उपेन्द्रनाथ — बड़ी-बड़ी आँखें
नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, नौवा संस्करण 1985

0 अश्क, उपेन्द्रनाथ एवं भैरवप्रसाद गुप्त — हिज एक्सलेन्सी
नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण

सहायक ग्रन्थ

0 अश्क, कौशल्या — अश्क : एक रंगीन व्यक्तितत्व
नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1973

0 डॉ० अहिवरन सिंह — अश्क का कथा-साहित्य
कौशिक साहित्य सदन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1974

0 इन्द्रनाथ मदान — आज का हिन्दी उपन्यास
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-6, प्रथम संस्करण 1983

0 डॉ० बेचन — आधुनिक हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास
सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1971

0 आ० नन्ददुलारे वाजपेयी — आधुनिक साहित्य
भारतीय भण्डार प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र० संस्क० 1985

0 डॉ० इन्द्रनाथ मदान — उपन्यासकार अश्क
नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1960

0 डॉ० सुरेश सिन्हा — उपन्यास शिल्प और प्रवृत्तियाँ
रामा प्रकाशन, नजीराबाद, लखनऊ, प्र० सस्क० 1965

0 गुलाब राय — काव्य के रूप
आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, प्र० संस्क० 1958

0 डॉ० कपिलदेव राय — साहित्यकार अश्क
रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र० संस्क० 1977

0 डॉ० विवेकी राय — स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्रामीण जीवन
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र० संस्क० 1968

0 रामदरश मिश्र — हिन्दी उपन्यास
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र० सस्करण 1968

0 डॉ० सुरेश सिन्हा — हिन्दी उपन्यास : उदभव और विकास
अशोक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र० संस्करण 1965

0 सम्पा० जगदीश चन्द्र माथुर — नाटककार अश्क
नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1952

0 नन्द दुलार वाजपेयी — नया साहित्य : नये प्रश्न
विद्यामन्दिर प्रकाशन, बनारस, प्रथम संस्करण 1955

0 डॉ० पुष्पपाल सिंह — समकालीन कहानी
रामकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, द्वि० संस्करण 1983

0 रामचन्द्र तिवारी — हिन्दी गद्य साहित्य
विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्र० संस्क० 1966

0 अर्चना जैन — प्रेमचन्द के निबन्ध साहित्य में सामाजिक चेतना
इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, प्र० संस्करण 1976

0 डॉ० नर्मदेश्वर प्रसाद — मानव व्यवहार तथा सामाजिक व्यवस्था
हिन्दी ग्रंथ अकादमी, बिहार, प्र० संस्क० 1976

0 डॉ० गंगादत्त तिवारी एवं रमन बम्बवाल — राजनीति विज्ञान के मूल तत्त्व
मेरठ प्रकाशन, मेरठ, प्र० संस्करण 1970

0 डॉ० रांगेय राघव एवं गोविन्द शर्मा — संस्कृति और समाजशास्त्र (भाग-2)
सरस्वती सदन, नई दिल्ली, प्र० संस्करण 1980

0 देवेन्द्र इस्सर — साहित्य और आधुनिक युगबोध
जयकृष्ण अग्रवाल प्रकाशन, अजमेर,
प्रथम संस्करण 1974

0 हरिदत्त वेदालंकार — हिन्दू परिवार मीमांसा
बंगाल हिन्दी मण्डल, कलकत्ता, संवत् 1911 वि०

0 डॉ० रत्नाकर पाण्डेय — हिन्दी साहित्य में सामाजिक चेतना
हरिराम द्विवेदी पाण्डुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, संस्क० 1976

0 डॉ० हेमराज निर्मम — हिन्दी उपन्यासों में मध्यवर्ग
विष्णु प्रकाशन, साहिबाबाद, प्र० संस्करण 1978

0 डॉ० सीताराम जायसवाल — मनोविज्ञान की ऐतिहासिक रूपरेखा
हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश शासन,
लखनऊ, प्र० संस्करण 1972

0 डॉ० रामसजन पाण्डेय — भक्तिकालीन हिन्दी निर्गुण काव्य का सांस्कृतिक अनुशीलन
कविता प्रकाशन, दिल्ली, प्र० संस्क० 1996

0 डॉ० रामलेखावन पाण्डेय — भारतीय संस्कृति और सांस्कृतिक चेतना
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्र० संस्क० 1967

0 डॉ० गुलाब राय — भारतीय संस्कृति की रूपरेखा
साहित्य प्रकाशन मन्दिर, ग्वालियर, संस्क० 1978

0 डॉ० देवराज — भारतीय संस्कृति
सूचना विभाग, लखनऊ, प्र० संस्करण 1985

0 वाचस्पति गैरोला — भारतीय संस्कृति और कला
उत्तरप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, लखनऊ, प्र०सं० 1963

0 डॉ० सम्पूर्णानन्द — समाजवाद
भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, प्र० सं० 1960

0 रामधारी सिंह दिनकर — संस्कृति के चार अध्याय
राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, प्र० सं० 1956

0 रविन्द्र मुकर्जी एवं भरत अग्रवाल — समाजवाद के मूल आधार
कैलाश पुस्तक सदन, पाटन बाजार, ग्वालियर, सं० 1977

0 वासुदेवशरण अग्रवाल — साहित्य और संस्कृति
विश्वविद्यालय प्रकाशन, दिल्ली, 1967, प्रथम संस्करण

0 डॉ० बालकृष्ण गुप्त — हिन्दी उपन्यास : सामाजिक सन्दर्भ
अभिलाषा प्रकाशन, कानपुर, प्र० संस्करण 1978

0 रामधारी सिंह 'दिनकर' — हमारी सांस्कृतिक एकता
नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, प्र० संस्करण 1987

0 डॉ० भागीरथ बड़ोले — स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में मानव मूल्य और उपलब्धियाँ
स्मृति प्रकाशन, शहरारा बाग, इलाहाबाद, संस्क० 1983

0 डॉ० धर्मवीर भारती — मानव मूल्य और साहित्य
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, प्र० संस्क० 1960

0 मुंशी प्रेमचन्द — कुछ विचार : साहित्य का उद्देश्य
सरस्वती प्रैस, बनारस, प्र० संस्करण 1954

0 डॉ० रामनाथ शर्मा — समाज मनोविज्ञान
कमल प्रकाशन, झाँसी, प्र० संस्करण 1968

0 डॉ० द्वारिका प्रसाद सक्सेना — साहित्यिक निबन्ध
मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, प्र० संस्करण 1981

0 डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा — तुलसी साहित्य के सांस्कृतिक आयाम
हिन्दी साहित्य संस्थान, रोहतक, प्र० संस्क० 1995

0 डॉ० धीरेन्द्र वर्मा — हिन्दी साहित्य कोश (प्रथम भाग)
ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, सम्वत् 2020

0 सम्पा० रामचन्द्र वर्मा — मानक हिन्दी कोश (पहला खण्ड)
हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, प्र० संस्क० 1966

0 रामचन्द्र वर्मा संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, नवम संस्करण 1987

0 सम्पा० श्यामसुन्दरदास हिन्दी शब्द सागर (दूसरा खण्ड)
संस्करण 1928

अँगरेजी (आलोचनात्मक ग्रन्थ)

0 A Handbook of Sociology, Reuter - E.B. Dryden Press, New Delhi.

0 Society : An Introduction Analysis, Maciver and Page, Macmillan Company, London, 1962

0 E.M. Forster, Aspects of the Novel, Edward Amald and Company, London. 1953

0 W.H. Hudson, An introduction to the study of Literature, George G. Herraps and Company Ltd. London. 1961.

oooooooooooooooooo